सांख्यकारिका
ब्रजमोहन चतुर्वेदी

सांख्यकारिका

सांख्यकारिका

ईश्वरकृष्णविरचिता सांख्यकारिका की विस्तृत भूमिका एवं भाषानुवाद
सहित 'अनुराधा' संस्कृत-हिन्दी विशद व्याख्या

डॉ० व्रजमोहन चतुर्वेदी

वसुमति ! जननि ! तवेदं करमर्पितवस्तु नास्ति किंचित् ।
सुतकृतमिति तद् ग्राह्यं करुणार्द्रे ! दृष्टिपातेन ॥

सांख्य-प्रशस्तिः

ज्ञानं च लोके यदिहास्ति किंचित् ।
सांख्यागतं तच्च महन्महत्त्वम् ।।

नास्ति सांख्यसमं ज्ञानं नास्ति योगसमं बलम् ।
अत्र ते संशयो मा भूत् ज्ञानं सांख्यं परं मतम् ।।

सम्यग्दर्शनमेतावद् भाषितं तव तत्त्वतः ।
पञ्चविंशात् परं तत्त्वं पठ्यते न नराधिप ।।महाभारत।।

श्रुतिस्मृतीतिहासेषु पुराणे भारतादिके ।
सांख्योक्तं दृश्यते स्पष्टं तथा शैवागमादिषु ।।

ज्ञानेन मुक्तिं कपिलो योगेनाह पतञ्जलिः ।
योगी कपिलपक्षोक्तं तत्त्वज्ञानमपेक्षते ।।स०सि०सं०।।

सांख्या निरीश्वरा केचित् केचिदीश्वरदेवताः ।
सर्वेषामपि तेषां स्यात्तत्त्वानां पञ्चविंशतिः ।।ष०द०स०।।

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्रकुत्राश्रमे रतः ।
जटी मुण्डी शिखी वाऽपि मुच्यते नात्र संशयः ।।स०सि०सं०।।

FOREWORD

I am very happy to write these words by way of introducing to the world of scholars and students this edition of the Sāṅkhyakārikās of Iśvarakṛṣṇa by Dr. Vraj Mohan Chaturvedi, my colleague in the Department. The Sāṅkhyakārikās have no doubt, an attractive yet deceptive simplicity and have been very rightly described as 'the pearl of the whole scholastic literature of India'. Being the earliest authoritative Sāṅkhya treatise before us they have an importance of their own. The number of commentaries that the work has received, from both the ancient and modern scholars is an indication of its importance.

Dr. Chaturvedi has spared no pains in attempting the elucidation of the Kārikās by an exhaustive study of all the critical material available today. But his work is not a mere summary or a survey of all that was available to him, for he has at times some new suggestions to make. His lucid style has made the work a very readable one. I have no doubt that the students of the Sāṅkhya thought; both the scholars and the University students, will find this work very helpful. The commentary has been happily named 'Anurādhā' as it appears to have before it, the fourfold objective—scholarship, lucidity, accuracy and thoroughness. I congratulate Dr. Chaturvedi on his fine performance here and wish him years of fruitful activity.

T. G. Mainkar

Prof & Head of Sanskrit Department

Delhi University

Delhi-7

25 February, 69.

प्रस्तावना

अपने विभाग के सहकर्मी डा० ब्रजमोहन चतुर्वेदी द्वारा प्रस्तुत ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' के इस संस्करण से विद्वद्वर्ग एवं छात्रजगत् को परिचित कराने के लिये इन शब्दों को लिखने में मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है। सांख्यकारिकाओं की सरलता जितनी आकर्षक है उतनी ही वञ्चनात्मक भी। इन्हें भारतीय वाङ्मय के समूचे वैदुष्यमय साहित्य का मुक्तामणि कहा गया है जो सर्वथा उपयुक्त भी है। सांख्यपरक साहित्य की प्रामाणिक कृतियों में प्राचीनतम होने से सांख्य की कारिकाओं का अपना एक विशेष महत्त्व है। इन पर उपलभ्यमान प्राचीन एवं अर्वाचीन उभयविध मनीषियों की व्याख्याएँ भी इनकी महनीयता की द्योतक हैं।

डा० चतुर्वेदी ने इस विषय पर उपलब्ध अब तक की विवेचनात्मक प्रायः सम्पूर्ण सामग्री का सम्यक रूप से अनुशीलन कर कारिकाओं की विशद व्याख्या प्रस्तुत करने में कोई कसर उठा नहीं रखी है। इनका यह कार्य पूर्वतः विद्यमान सामग्री का ही संकलन या समाकलन मात्र नहीं है, अपितु स्थल-स्थल पर इन्होंने अनेक नयी उद्भावनाएँ भी की हैं। अत्यन्त विशद रूप से विषय के विवेचन की प्रणाली ने इस ग्रन्थ को सर्वथा सुपाठ्य बना दिया है। इसमें सन्देह के लिये कोई अवसर नहीं कि सांख्य-विद्या के अध्येता विद्वानों एवं विश्वविद्यालय श्रेणी के छात्रों के लिये यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगी। सांख्यकारिकाओं की इस व्याख्या का 'अनुराधा' नाम मनोहर होने के साथ-साथ साभिप्राय रखा प्रतीत होता है जो ('अनुराधा' नामक नक्षत्रों की संख्या के अनुरूप ही) वैदुष्य, वैशद्य, यथार्थता एवं सम्पूर्णता नामक चार उद्देश्यों को समक्ष रखता है। ऐसी उत्तम कृति की रचना के लिये मैं डा० चतुर्वेदी को बधाई देता हूँ और कामना करता हूँ कि ये अनवरत इसी प्रकार के सत्कार्यों में संलग्न रहें।

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय

त्र्यम्बक गोविन्द माईणकर

२५ फरवरी, १९६९

प्राक्कथन

'गीता' के समान ही 'सांख्यकारिका' भी भारतीय वाङ्मय की एक ऐसी विलक्षण कृति है जो न केवल अपने भावों की सरलता अपितु भाषा की मधुरता से भी पाठकों के मन को आवर्जित करती है। फलतः इस पर भी अनेक टीकायें एवं भाष्य हुए हैं जो बहुत ही विशिष्ट व्यक्तियों के द्वारा किये गये हैं। पर ऐसा लगता है कि इसके विषय में अभी भी बहुत कुछ कहना शेष है। इसका प्रत्येक अध्येता कुछ विशेष बात कहना चाहता है। साथ ही वह यह भी समझता है कि यह जितनी सरल प्रतीत होती है, उतनी है नहीं।

सांख्यकारिका के हिन्दी एवं अंग्रेजी में अनेक उत्तमोत्तम अनुवाद एवं व्याख्याएँ प्रकाशित हैं, फिर भी उपलब्ध सभी टीकाओं को दृष्टि में रखकर इसकी सम्यक् रूप से व्याख्या अभी तक नहीं हुई है। प्रस्तुत पुस्तक उसी का एक प्रयास है।

संस्कृत एम० ए० एवं बी० ए० के विद्यार्थियों के लिये प्रत्येक विषय पर एक-एक ऐसी पुस्तक प्रस्तुत करने की हमारी आयोजना है जिसमें 'उपलभ्यमान प्रायः निखिल सामग्री का विवेचन प्रामाणिक रूप से किया गया हो। इसका उद्देश्य छात्रों के अध्ययन-स्तर को ऊंचा उठाना है। मेरे अनेक मित्र इसे सफल बनाने में अपना सक्रिय योग दे रहे हैं। प्रस्तुत पुस्तक सांख्यकारिका अपनी 'अनुराधा' संस्कृत हिन्दी व्याख्या एवं विस्तृत भूमिका के साथ प्रकाशित होकर इस योजना का श्रीगणेश करती है। इसमें आरम्भ के १०८ पृष्ठों की भूमिका में सांख्यदर्शन का नामकरण, मूलस्रोत, तत्परक साहित्य एवं इतिहास तथा सांख्यीय सिद्धान्तों का ऊहापोह कर सम्यक् रूप से विवेचन किया गया है। अनन्तर सांख्यकारिकाओं का, संक्षिप्त संस्कृत व्याख्या, भाषानुवाद एवं विस्तृत व्याख्या के क्रम से विशद विवेचन हुआ है। अन्त में कारिकाओं तथा उनमें प्रयुक्त शब्दों की अनुक्रमणी के साथ 'सांख्य-सूत्र' 'और तत्त्वसमाससूत्र' भी परिशिष्ट के रूप में दिये गये हैं। पुस्तक का समापन सांख्यदर्शन पर उपलभ्यमान ग्रन्थों की सूची से होता है।

भारतीय वाङ्मय की प्रायः सभी विधाओं के असाधारण अधिकारी विद्वान् तथा वेद एवं वेदांत के विशेष मर्मज्ञ, दिल्ली विश्वविद्यालय में हमारे विभाग के लब्धप्रतिष्ठ अध्यक्ष परम श्रद्धेय डा० त्र्यम्बक गोविन्द माईणकरजी ने इस पुस्तक की प्रस्तावना लिखकर हमें बहुत ही अनुगृहीत किया है जिसके लिये हम उनके हृदय से कृतज्ञ हैं। वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के वेदान्त विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष व्याकरण एवं दर्शन के प्रकाण्ड पंडित गुरुवर्य पं० श्री रघुनाथजी पाण्डेय का पुण्य-स्मरण करना मैं यहां नहीं भूलूंगा जिनके चरणों में बैठकर सांख्यकारिका को पढ़ने व समझने की वास्तविक दृष्टि मिली। सदाचार एवं निष्ठा के साक्षात् निदर्शन पं० श्रीकृष्ण शंकरजी शुक्ल के अमूल्य परामर्शों से प्रस्तुत ग्रन्थ का बड़ा हित हुआ है जिसके लिये मैं उनका अत्यन्त आभारी हूं। पुस्तक की प्रेस प्रति प्रस्तुत करने से लेकर प्रूफ पढ़ने तक के निखिल क्रिया-कलाप में सहायक मेरे भतीजे चि० शिवकुमार का योग सर्वथा अभिशंसनीय है। नेशनल पब्लिशिंग हाउस के स्वामी श्री कन्हैयालाल मलिक ने इस प्रायोजना में प्रस्तुत पुस्तकों के प्रकाशन का भार लेकर हमें निश्चिन्त कर दिया है, जिसके लिये हम उनके हृदय से आभारी हैं।

संस्कृत-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
वर्षप्रतिपदा, २०२६ — व्रजमोहन चतुर्वेदी

विषयानुक्रमणिका

शब्द-संकेत

ऋ०—ऋग्वेद
कठ० उप०—कठोपनिषद्
गी०—गीता
गौ० पा०—गौडपाद
छां० उ०—छान्दोग्योपनिषद्
ज०—जयमंगला
तै० आ०—तैत्तिरीय आरण्यक
न्या० भा०—न्याय भाष्य
न्या० सू०—न्याय सूत्र
पा० सू०—पाणिनि सूत्र
प्र० भा०—प्रवचन भाष्य
ब्र० सू० शां० भा०—ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य
बृह० उप०—बृहदारण्यकोपनिषद्
म० भा०—महाभारत
मा०—माठरवृत्ति
यजु० सं०—यजुर्वेद संहिता
याज्ञ० स्मृ०—याज्ञवल्क्य स्मृति
यु० दी—युक्ति दीपिका
यो० सू०—योगसूत्र
वा०—वाचस्पतिमिश्र
वि० भि०—विज्ञान भिक्षु
वै० सू०—वैशेषिक सूत्र
शां० प०—शान्तिपर्व (महाभारत)
श्वे० उ०—श्वेताश्वतरोपनिषद्
सां० का—सांख्यकारिका
सां० च०—सांख्य चन्द्रिका
सां० त० कौ०—सांख्य तत्त्व कौमुदी
सां० प्र० भा०—सांख्य प्रवचन भाष्य
सां० सू०—सांख्य-सूत्र

भूमिका

१ विषय-प्रवेश

भारतीय वाङ्मय-वृक्ष का फल दर्शन-शास्त्र है। व्याकरण साहित्य, काव्य-कोश, इतिहास-पुराण तथा धर्म, अर्थ एवं काम सम्बन्धी सभी शास्त्र उपाय हैं और दर्शन उनके द्वारा प्राप्य उपेय हैं। क्योंकि अन्य शास्त्र जहां जीवन के तत्तद् अंगों का अध्ययन करते हैं वहां दर्शन-शास्त्र साक्षात् जीवन का ही विवेक कराता है। जीवन क्या है? इसका मूलस्रोत कहां और कब से है? तथा इसका भविष्य क्या है? आदि प्रश्न दर्शन-शास्त्र की विवेचना के विषय हैं। दृश्यते अनेनेति दर्शनम्' की व्युत्पत्ति से जो शास्त्र हमें जीवन को यथार्थरूप से देखने व समझने की वास्तविक दृष्टि प्रदान करता है वही दर्शन है।

जिस जगत् को हम नित्य देखते और सुनते हैं तथा जिसमें विचरण करते हैं वह वस्तुतः क्या है? यह जिज्ञासा स्वाभाविक होते हुए भी सहज नहीं है। क्योंकि जिस वस्तु को हम जैसे देखते हैं उसे वैसी मान लेना ही हमारे लिए सहज-स्वाभाविक है। पर उसके निरन्तर परिवर्तनशील रूप की ओर जब हमारा ध्यान आकृष्ट किया जाता है तो हमें आश्चर्य होता है कि वस्तुतः प्रतिदिन ऐसा देखते हुए भी हमारे विचार-पथ में यह बात स्वतः क्यों नहीं आती। हम यह क्यों नहीं सोचते कि इस दृश्यमान जगत् की उत्पत्ति कैसे हुई, या होती है तथा इसकी गतिविधियां क्या हैं? भौतिक-विज्ञान ने इस सम्बन्ध में बहुत सा तथ्य हमारी जानकारी के लिए प्रस्तुत किया है जो विशाल होने के साथ-साथ विलक्षण भी है। प्रकृति की अद्भुत लीलाएं आज हमारे सामने विज्ञान के रंगमंच पर प्रकट हो रही हैं। दृश्य जगत् के रहस्य का अधिकाधिक रूप से उद्घाटन आए दिन हो रहा है। पर यह कहना कि इस प्रकार की जानकारी का अन्त समीप है अत्यन्त विपरीत बात होगी। बल्कि जितना ही हम इसे जानने की ओर अग्रसर होते जा रहे हैं सुरसा के मुंह की तरह यह उतना ही बढ़ता जा रहा है। सारा भौतिक-विज्ञान अब इतना अधिक हो गया है कि इसकी तुलनात्मक जानकारी किसी भी एक व्यक्ति को रख सकना सर्वथा असम्भव है।

यह तो हुई दृश्य जगत् की बात। जब हम यह सोचते हैं कि हममें वह कौन सा तत्त्व है जो देखता है या देखना चाहता है तो कुछ परेशान से हो जाते हैं। क्योंकि इसको समझना या बताना इतना आसान नहीं जितना दृश्यमान जगत् का। प्रश्न केवल यही नहीं है कि जिज्ञासु कौन है? द्रष्टा

और दृश्य में पार्थक्य की रेखा कहां है, यह प्रश्न विशेष रूप से विचारणीय है। हम जिसे देखते हैं और समझने की चेष्टा करते हैं वह भी तो हमें देखता व समझता ही है। अब तो विज्ञान की कृपा से यह भी सिद्ध होने लगा है कि जंगम ही नहीं स्थावर जगत् भी सचेतन है। वह भी देखता, सुनता और समझता है। ऐसी स्थिति में दृश्य और द्रष्टा का भेद करना और भी जटिल हो जाता है।

जीवन की समस्या द्रष्टा और दृश्य तक ही यदि सीमित होती तो सम्भव है कि आज तक हम इसका समाधान ढूंढने में सफल हो गए होते। प्रबुद्ध क्या साधारण व्यक्ति भी जगत् में व्याप्त प्राकृतिक नियमों से अपरिचित नहीं है। प्रतिदिन नियम से ही सूर्योदय, सूर्यास्त, प्रातः, सायं मध्याह्न, रात्रि एवं दिन हुआ करते हैं। सर्दी, गर्मी, बरसात भी समय से ही आते जाते रहते हैं। अग्नि, वायु तथा जल आदि तत्त्वों की एक निश्चित प्रकृति है। ये तथा इस प्रकार की अनेक ऐसी बातें हैं जो मनुष्य क्या प्राणिमात्र के नियंत्रण के बाहर हैं। फिर इनका नियामक कौन है? असीम ब्रह्माण्ड में सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि ग्रह एवं असंख्य नक्षत्र अनाश्रित चक्कर काट रहे हैं। इनको गति किसने दी तथा कौन इन्हें सम्भाले हुए है कि ये परस्पर टकराकर अब तक शीर्ण-विशीर्ण नहीं हो गए। यह सब अतिभयानक क्रियाकलाप इस ब्रह्माण्ड में क्यों हो रहा है? और इन सबसे विलक्षण बात तो यह है कि इनको समझने बूझने की क्षमता सम्भवतः केवल मनुष्य में ही है। पर क्यों? वही क्यों यह सब जानना चाहता है तथा जानने के लिए प्रयत्नशील होता है जबकि धरातल के अन्य प्राणी अपने अपने आहार निद्रा, भय और मैथुन की ही चिन्ता में निमग्न हैं। उन्हें इसकी बिल्कुल परवाह नहीं कि उनका जीवन क्या है? और क्यों है? तथा उनका स्वार्थ और परमार्थ क्या है? मनुष्यों की अपेक्षा करोड़ों वर्ष पहिले से उत्पन्न होकर भी न उन्होंने कोई समाज बनाया और न ही उनकी कोई सभ्यता या संस्कृति पनपी। जबकि उनमें मनुष्यों की अपेक्षा भौतिक-ज्ञान भी अधिक है और अनुशासन भी। दर्शन-शास्त्र सामान्यरूप से जीवन की इन प्रवृत्तियों तथा विशेषरूप से मनुष्य की इच्छा एवं ज्ञानशक्ति की मीमांसा करते हुए जीव और जगत के यथार्थ स्वरूप, स्रोत तथा नियामक तत्त्वों का प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत करता है।

प्राचीन भारत में जीवन को देखने और समझने का जो प्रयास हुआ उसके फलस्वरूप दर्शन की अनेक विधाओं ने जन्म लिया। उपनिषदों में उन

सबका बीज विद्यमान है; ऐसी मान्यता आचार्य शंकर की है। उपनिषदों का पारायण करने से ज्ञात होता है कि जिजीविषा और मुमुक्षा मानव-जीवन की दो मुख्य प्रवृत्तियाँ हैं। मनुष्य सैकड़ों वर्ष तक जीना तो चाहता ही है साथ ही जीवन-मरण के जंजाल से मुक्त भी होना चाहता है। यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इन दोनों प्रवृत्तियों में अन्तर्विरोध कहीं नहीं है। क्योंकि कर्म-बन्धन से मुक्त होकर भी व्यक्ति जी सकता है। तथा अधिकाधिक दीर्घ जीवन मुक्ति का साधक भी हो सकता है। अन्तर दोनों में यही है कि जिजीविषा मुमुक्षा की साधिका हो सकती है मुमुक्षा जिजीविषा की नहीं। तथा वही जिजीविषा उपादेय है जो मुमुक्षा की साधिका है, अन्य भोग की साधिका नहीं। इसी संदर्भ में कर्म और ज्ञान की बात भी आती है। इस विषय में चार्वाक सहित आस्तिक-नास्तिक सभी भारतीय दर्शन एक हैं कि उत्तम फल की प्राप्ति उत्तम कर्म से ही सम्भव है, चाहे वह उत्तम फल लौकिक अभ्युदय या मोक्ष ही क्यों न हो। यह उत्तम कर्म ही ज्ञान की साधना में विनियोजित होने पर योग कहलाता है। किन्हीं उपनिषदों में एक और प्रवृत्ति प्राप्त होती है—भक्ति या उपासना। इस प्रवृत्ति ने भी आगे चलकर दर्शन की प्राय: सभी विधाओं को किसी न किसी रूप में प्रभावित अवश्य किया है। प्रणिधान के रूप में उपासना भी योग ही है, यह कथन सर्वग्राह्य भले न हो बहुग्राह्य तो है ही। उधर ज्ञान की प्रामाणिकता का प्रश्न भी अत्यन्त स्वाभाविक है। ज्ञान के ग्रहण करने के साथ ही उसके सत्यासत्य होने की कसौटी भी मानव को प्राप्त है। उसके प्रकार में भेद हो सकते हैं पर स्वरूप प्राय: एक सा ही है। उसकी स्वत: या परत: प्रामाणिकता पर मतभेद हो सकता है। यहीं से दर्शन की विधाएं जन्म ले लेती हैं। चार्वाक सहित जैन एवं बौद्ध चिन्तक शब्द के रूप में वेदों की प्रामाणिकता मानने को प्रस्तुत नहीं होते। जो मानते है उनमें भी एक न्यायवैशेषिक लक्ष्य से लक्षण (प्रमाण) को अधिक महत्व इसलिए देते हैं कि उसी के द्वारा सदसद्विवेक सम्भव है। दूसरे मीमांसक साधन की स्वत: प्रामाणिकता को लेकर पुन: कर्म की ही उपासना में लग जाते हैं। उधर योग सहित ज्ञान की महत्ता के प्रतिपादक वेदान्ती कहे जाते हैं तो एक वर्ग ऐसा है जो ज्ञान-कसौटी की स्वत: परत: प्रामाणिकता के झमेले में तो पड़ता ही नहीं ज्ञान की साधना में योग की भी अपेक्षा नहीं रखता। इसका विश्वास है कि अन्ततोगत्वा जीवन बुद्धि का विलास ही सिद्ध होता है जिसकी पूर्णता केवल ज्ञान में है। कैवल्य का यह बोध ही मुक्ति है। दर्शन की इस विधा का ही नाम सांख्य है।

२ नामकरण

(क) सांख्य पद के प्राचीन प्रयोग

भारतीय दर्शन की यह विधा जिसे सांख्य कहते हैं, कब से आरम्भ हुई तथा इसकी उत्पत्ति का मूलस्रोत क्या है ? इसका विवेचन आगे किया जायेगा। यहां इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इसके लिए सांख्य शब्द का प्रयोग कम प्राचीन नहीं है। भारतीय दर्शनों में सांख्यमत प्रायः प्राचीनतम माना जाता है। इसमें प्रयुक्त पारिभाषिक पदावली तो यत्र तत्र वैदिक मंत्रों और ब्राह्मणों में भी प्राप्त होती है जो निश्चय ही एकदम उसी अर्थ और अभिप्राय का बोध नहीं कराती। पर सांख्य-शब्द वैदिक संहिताओं और ब्राह्मणों में कहीं भी नहीं प्रयुक्त हुआ है। यही नहीं उपनिषदों में प्राचीनतम बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय तथा कौषीतकी में भी सांख्य शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है। सांख्य पद का प्रयोग सबसे पहले श्वेताश्वतर उपनिषद् में उपलब्ध होता है। जहां सांख्य और योग को जगत के कारण-तत्त्व के ज्ञान का कारक माना गया है।[1] इस उपनिषद् को सांख्य से प्रभावित कहकर बहुत बाद का ठहराया जाता है क्योंकि यह न केवल सांख्य शब्द एवं उसके विवेच्य प्रकृतिपुरुष के सिद्धान्त का ही प्रतिपादन करता है बल्कि सांख्य-शास्त्र के आद्य प्रणेता महामुनि कपिल का नामतः उल्लेख भी करता है।[2] पुराणेतिहास, साहित्य में सांख्य शब्द के प्रयोग एवं उसके सिद्धान्तों के विवेचन की भरमार है। महाभारत का शान्तिपर्व[3] और गीता[4] इस प्रसंग में विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त दर्शन-परक साहित्य की न्यायवैशेषिक को छोड़कर शेष सभी विधाओं में किसी न किसी रूप में सांख्य पद का प्रयोग हुआ है जो निश्चय ही एक दार्शनिक विचार धारा का वाचक है।

---

१. तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यम् । श्वेताश्वतर उप० ६।१३

२. ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे । वही ५।२

३. सांख्ययोगौ तौ यावुक्तौ मुनिभिर्मोक्षदर्शिभिः । महा० शां० प०

४. यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति । गी०, ५।५
सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः । गीता ।

(ख) सांख्यपद के व्युत्पत्ति एवं प्रवृत्तिलभ्य अर्थ

सम् पूर्वक ख्या (प्रकथने) धातु से अङ् प्रत्यय और टाप् होकर संख्या पद बनता है जिसका अर्थ है गणना। उसी संख्या शब्द से 'तस्येदम्' से तद्धित अण् प्रत्यय होकर सांख्य पद व्युत्पन्न हुआ है जिसका शाब्दिक अर्थ है गणना से सम्बन्धित या गणना से जानने योग्य। सम्भवतः इसीलिए इस दर्शन का नाम सांख्य पड़ा कि इसमें तत्त्वों की गणनात्मक संख्या को विशेष महत्त्व दिया गया है। महाभारत का यह कथन अनेकत्र उद्धृत हुआ है कि इस शास्त्र को सांख्य इसलिए कहते हैं कि यह प्रकृति के चौबीस तत्त्वों का निरूपण कर उनकी ठीक ठीक संख्या का निर्धारण करता है।[१]

संख्या पद का एक और अर्थ है—सम्यक् प्रकथन या विचार। अमरकोश में इस प्रसंग में संख्या पद को चर्चा और विचारणा पदों का पर्याय कहा है।[२] इसका अभिप्राय यह है कि इस विशाल ब्रह्माण्ड में जितने तत्त्वों के अस्तित्व की सम्भावना है उनके सत्यासत्य होने का विचार सांख्यशास्त्र का विवेच्य विषय है। श्री रघुनाथ तर्कवागीश ने इसी आशय को स्पष्ट करते हुए सांख्य पद की व्युत्पत्ति की है—पञ्चविंशति तत्त्वानां संख्याविचारः। तमधिकृत्य कृतो ग्रंथः सांख्य इति पदव्युत्पत्तिः संगच्छते। इस प्रकार इस विद्या का नाम सांख्य इसलिए पड़ा कि इसकी विवेचना का मुख्य उद्देश्य तत्त्वविचार है।[३]

(ग) परिभाषा

उपनिषदों में प्रयुक्त सांख्य और योग पदों के अर्थ ज्ञान और उसका अनुष्ठान है।[४] अध्यात्मविद्या ही सांख्य है तथा आत्मसाक्षात्कार के लिए जिस प्रविधि का विधान किया जाता है वही योग है। दोनों एक सिक्के के दो पक्ष हैं। दर्शन की प्रायः सभी विधाएं इन दोनों से समन्वित हैं क्योंकि ज्ञान का

---

१. संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते।
तत्त्वानि च चतुर्विंशत् तेन सांख्यं प्रकीर्तितम्। म० भा० १२।३०६।४३

२. संख्या चर्चा विचारणा। अमरकोश १-५-३

३. कस्मात् सांख्य इत्युच्यते। सम्यक् क्रमपूर्वकं ख्यानं कथनं यस्यां सा संख्या क्रमपूर्वा विचारणा। यत् तामधिकृत्य कृतं तस्मात् सांख्यमित्युच्यते शास्त्रम्। सांख्यतरङ्ग।

४. तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यम्। श्वेताश्वतर उप० ६।१३

प्रयोजन उसका जीवन में अनुष्ठान ही है। लौकिक ज्ञान के अनुष्ठान को कर्म तथा आध्यात्मिक ज्ञान के अनुष्ठान को योग की संज्ञा दी गई है। इस प्रकार दर्शनों के सिद्धान्त-पक्ष को सामान्यरूप से सांख्य एवं प्रयोगपक्ष को योग कहते हैं। यह स्थिति आरम्भ में थी। अनन्तर ये शब्द दर्शन की उन विधाओं के लिए रूढ़ हो गए जिनमें मात्र सिद्धांत तथा मात्र प्रयोग का निरूपण हुआ है। आचार्य शंकर ने सर्वसिद्धान्त संग्रह में इस तथ्य को बिल्कुल स्पष्ट कर दिया कि सांख्यशास्त्र के आद्य प्रणेता कपिल ने केवल ज्ञान से तथा पतंजलि ने केवल योग से मुक्ति मानी है।[1] महाभारत में भी ज्ञान से ही आत्मदर्शन को परम धर्म कहा है। सांख्य-दर्शन इसीका विधान करता है। व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ का ज्ञान ही प्रकृतिपुरुषान्यताख्याति के रूप में कैवल्य का दायक है। जयमंगलाकार ने सांख्यकारिका की प्रस्तावना करते हुए एक श्लोक उद्धृत किया है। जिसमें कहा गया है कि पच्चीस तत्वों का यथार्थ बोध हो जाने पर ही व्यक्ति मुक्त हो जाता है चाहे वह जटी अर्थात् ब्रह्मचारी, शिखी अर्थात् गृहस्थ या मुण्डी अर्थात् सन्यासी कोई भी हो। इसके लिए उसे आश्रम बदलने या सन्यास ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है।

पंचविंशतितत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे रतः।
जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशय ॥

महाभारत में सांख्य को परिसंख्यादर्शन भी कहा है।[1] परिसंख्यान मीमांसा दर्शन का शब्द है। इसका अर्थ है निषेध्य विषय का साधन के रूप से विधान। उदाहरणतः वैदिक धर्म में भी हिंसा निषेध्य है पर चूंकि हमारी प्रवृत्ति ऐसी है कि हम हिंसा किए बिना रह नहीं सकते, अतः उसे कम करते हुए अन्ततोगत्वा अहिंसा की ओर व्यक्ति को अग्रसर करने के लिए ही यज्ञयागादि में सर्वत्र हिंसा का विधान किया गया है। ठीक इसीप्रकार जिस दर्शन का लक्ष्य तो पुरुष-तत्त्व का ज्ञान कराना है पर हमारी बुद्धि के स्वभावतः विषय प्रकृति के चौबीस तत्त्वों के स्वरूप का परिगणन भी जिसका विवेच्य

---

१. ज्ञानेन मुक्तिः कपिलो योगेनाह पतञ्जलिः। सर्वसिद्धान्त संग्रह—३

१. (क) सांख्यदर्शनमेतावत् परिसंख्यानदर्शनम् ।१२।३०६।४१

(ख) सांख्यज्ञानं प्रवक्ष्यामि परिसंख्यानदर्शनम्। शान्ति० ३०६।२६

(ग) संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते ते।
तत्त्वानि च चतुर्विंशत् परिसंख्याय तत्त्वतः ॥१२।३०६।४३

विषय इसलिए है कि उसमें पुरुष के अकर्तृत्व आदि रूपों का साक्षात्कार सरलता से होता है, उसे सांख्य कहते हैं। इस प्रकार परिसंख्यान का ही संक्षिप्त रूप 'सांख्य' प्रसिद्ध हो गया।[1] प्रकृति के यथार्थ स्वरूप का साक्षात्कार ही सम्यग् दर्शन है क्योंकि उसके ज्ञान से ही अपनी आत्मा के अतिरिक्त जो कुछ भी है हमें उसका ज्ञान हो जाता है। 'अव्यक्त अर्थात् मूलप्रकृति में ही सब कुछ निखिल व्यक्त जगत् सन्निहित है। पच्चीसवां तत्त्व पुरुष किसी से भी सम्पृक्त नहीं अपितु वह केवल अर्थात् किसी भी प्रकार के विकार से रहित है। ऐसा जो समझ लेता है उसे फिर किसी अज्ञात आशंका से भय नहीं होता।[2]

इस प्रकार महाभारत में सांख्य-दर्शन के लिए परिसंख्यान शब्द का अर्थ प्रकृति के निरोधपूर्वक पुरुष को अपने स्वरूप का ज्ञान कराना है।[3] अन्य आत्मवादी दर्शनों की अपेक्षा सांख्य की विशेषता यह है कि इसमें इन पच्चीस तत्त्वों के सम्यक् ज्ञान मात्र से प्रकृति का परिसंख्यान (निराकरण) हो जाता है। उसके लिए समाधि का अभ्यास या सन्यास आदि के परिग्रह की आवश्यकता नहीं।

---

१. एतावदेव तत्त्वानां सांख्यमाहुर्मनीषिणः। शा०प० ३०६।३०
२. सर्वमव्यक्तमित्युक्तमसर्वः पञ्चविंशकः।
य एनमभिजानन्ति न भयं तेषु विद्यते।। म०भा०।१२।३०६।५०
३, यदा तु बुध्यतेऽऽत्मानं तदा भवति केवलः।
सम्यग्दर्शनमेतावद् भाषितं तव तत्त्वतः।। वही १२।३०६।४५

३. सांख्यदर्शन के मूलस्रोत

सांख्यसिद्धान्त के मूलस्रोत से यहाँ हमारा तात्पर्य उन उपादानों से है जिनसे सांख्यदर्शन के शास्त्रीय सिद्धान्तों का उद्भव एवं विकास हुआ है। यों तो सांख्यविद्या के प्रवर्तन का सम्पूर्ण श्रेय मुनि कपिल को दिया जाता है जो सांख्य-सूत्रों के कर्ता के रूप में परम विश्रुत भी हैं। इन्हीं को चिन्तन की दार्शनिक प्रक्रिया का जनक भी कहा जाता है। पर यह तथ्य किसी भी बहुश्रुत व्यक्ति से अगोचर नहीं है कि दार्शनिक सिद्धान्तों के उद्भव की पृष्ठभूमि में चिन्तकों की एक लम्बी परम्परा होती है जो उन्हें जन्म देती है। उनके प्रवर्तन का श्रेय चाहे किसी को भी क्यों न मिले। कपिल को एक ऐतिहासिक व्यक्ति मान भी लिया जाय तो परम्पराप्राप्त चिन्तन की जिस धारा को उन्होंने दार्शनिक भित्ति प्रदान की यहाँ हम उसी का ऊहापोह करना चाहते हैं। इस विषय के विवेचन का आरम्भ हम अन्तिम संभावना बौद्धधर्म एवं दर्शन से करते हुए क्रमशः उपनिषदों एवं वैदिक संहिताओं तक में उपलभ्यमान सूत्रों का अनु-सन्धान करेंगे।

(क) बौद्धधर्म एवं दर्शन का नास्तिवाद

आजकल सांख्यदर्शन का अध्ययनाध्यापन दो नामों से किया जाता है—शास्त्रीय (क्लासिकल) एवं महाभारतीय (एपिक)। शास्त्रीय सांख्य में मुख्य-रूप से सांख्यकारिका, सांख्यसूत्र तथा तत्त्वसमास-सूत्र का ग्रहण होता है। इसमें तथा बौद्धधर्म में एक विलक्षण साम्य है उभयत्र ईश्वर की सत्ता की अमान्यता। परमात्मतत्त्वविषयक इनकी यह अमान्यता यद्यपि इनके अपने अपने सिद्धान्तों के अनुरूप ही है तथापि हमें यह सोचने को बाध्य करती है कि क्या ईश्वर की अस्वीकृति विषयक यह धारणा इनमें से किसी एक ने दूसरे से तो नहीं ली है। यद्यपि प्रत्येक दशा में यह आवश्यक नहीं है कि इनमें से एक उत्तमर्ण एवं दूसरा अधमर्ण हो। पर ऐसे दो सिद्धान्तों में से एक की अधमर्णता का सर्वथा अपलाप करना उस स्थिति में अत्यन्त कठिन हो जाता है जब हम देखते हैं कि उभयपक्ष की अन्यान्य अनेक मान्यतायें एक दूसरे से ग्रहण की हुई या उसके साथ मिलकर विकसित हुई हैं। जहाँ तक व्याकरण एवं विशेष रूप से न्याय के सिद्धान्तों के विकास का सम्बन्ध है इसमें सन्देह के लिये कोई अवकाश

नहीं है कि ब्राह्मण एवं बौद्ध विचारकों के परस्पर के आदान प्रदान से ही वह सम्पन्न हुआ है। उभयपक्ष के विद्वानों द्वारा समय समय पर उपस्थापित युक्तियों एवं तर्कों के आदान प्रदान ने ही इस (न्याय) शास्त्र की दृष्टि को अत्यधिक पैनी एवं सूक्ष्मदर्शिनी बनाया है। संभव है इसी प्रकार सांख्य में भी अनीश्वर वाद का सिद्धान्त बौद्धों से आया हो।

प्रथम या द्वितीय शताब्दी ईस्वी के बौद्धचिन्तक नागार्जुन के अनस्तित्ववाद के सिद्धान्त से प्रभावित होने का आरोप आचार्य शंकर के मायावाद पर भी किया जाता है जिसकी स्पष्ट रूप से अभिव्यक्ति वैष्णव आचार्यों की कृतियों में शंकर के लिये प्रयुक्त 'प्रच्छन्नबौद्ध' की उक्ति से भी होती है। पर सांख्य के मूलभूत एवं महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का स्रोत भी बौद्ध धर्म एवं दर्शन ही है यह बात अत्यन्त असंभव सी प्रतीत होती है। सांख्य ईश्वर विषयक धारणा से रहित है यह बात उसके सिद्धान्तों में कोई विशेष महत्त्व नहीं रखती। अपितु प्रकृति और पुरुष की स्वतन्त्र रूप से पारमार्थिक सत्ता का विधान ही सांख्य का सर्वस्व है जो बौद्ध दर्शन के क्षणिक एवं अनात्मवाद के सिद्धान्त के सर्वथा विपरीत ही नहीं उसका मूलोच्छेदक भी है। इस प्रकार इतने भिन्न रूप से विकसित बौद्ध धर्म एवं दर्शन से सांख्य के उद्भव की कल्पना सर्वथा असंगत ही नहीं असंभव भी है।

इसके विपरीत इस समस्या का दूसरा पहलू भी कम विचारणीय नहीं है कि सांख्य ही बौद्ध चिन्तन की प्रेरणा का मूलस्रोत है। इसको दूसरे प्रकार से यों कह सकते हैं कि बौद्धों में निरीश्वरवाद का सिद्धान्त उनके ऊपर सांख्य के प्रभाव का परिणाम है। इस बात को स्वीकार करने में व्यावहारिक कठिनाई यह होगी कि शास्त्रीय सांख्य का उपलब्ध साहित्य जो ईश्वर के अस्तित्व का प्रतिपादन नहीं करता बौद्ध धर्म की उत्पत्ति के बाद ही लिपिबद्ध हुआ है। यद्यपि बौद्ध सिद्धान्तों का भी प्रायः यही हाल रहा है कि वे अपने जन्मदाता बुद्ध के बहुत समय बाद ही लिपिबद्ध साहित्य का रूप धारण कर सके। यद्यपि सांख्यकारिका के लिखे जाने के बहुत पूर्व ही महाभारत के शान्तिपर्व में सांख्यसिद्धान्त का विशद निरूपण उपलब्ध होता है। पर एक तो आधुनिक विद्वान् महाभारत के इस अंश को मौलिक मानने के विषय में एक मत नहीं हैं दूसरे महाभारत भी सांख्य के विश्रुत प्रवर्तक कपिल के समय के बहुत बाद की रचना है। इनके अतिरिक्त एक तीसरे पक्ष की भी सम्भावना हो सकती है कि सांख्य और बौद्ध दोनों ही सिद्धान्त उपनिषदों के किसी प्राचीनतर मत

के विकसित रूप हों, और इनका विकास एक दूसरे से साक्षात् प्रभावित हुए बिना ही हुआ हो। इनमें प्रतीयमान परस्पर का साम्य इन पर एक दूसरे का प्रभाव न होकर उन मूलभूत मतों का ही है जिनसे ये उद्भूत हुए हैं।

जहाँ तक बौद्धों की दार्शनिक मान्यताओं का प्रश्न है आचार्य शंकर का यह कथन शत प्रतिशत सत्य है कि वे उपनिषदों के ही प्राचीनतर सिद्धान्तों से उद्भूत हैं। वास्तव में परमसत्ता या मूलभूतसत्ता के रूप में जिस ब्रह्म या परमपुरुष का निरूपण उपनिषदों में हुआ है वह हमारी भौतिक एवं वैज्ञानिक ज्ञानशक्ति की पहुंच के बहुत दूर प्रतीत होता है। यही कारण है कि उसके विषय में इदमित्थं रूप से किसी भी जानकारी की संभावना का निषेध ही किया गया है। इसके विपरीत पुरुष या जीवात्मा जिसके विषय में हमें अत्यधिक कुतूहल है उसकी अपेक्षा अधिक यथार्थ एवं समीप प्रतीत होता है। कर्म के सिद्धान्त के अनुसार सुख दुःख का भागी भी वही होता है। इसलिये किसी ऐसी दार्शनिक विद्या की प्रतिष्ठा का होना आश्चर्य की बात नहीं है जिसमें परात्पर एवं मूलसत्ता जैसे प्रश्नों से विरत रहकर कर्म के अनुसार कर्ता के भोग पाने के सिद्धान्त का ही प्रतिपादन हो। सांख्य एवं बौद्ध दर्शन की ये दोनों ही विधायें इसी प्रकार की हैं, जहाँ परात्पर या पुरुषोत्तम रूप ईश्वर की कल्पना का अभाव तो है ही 'सभी जीवों या प्राणियों की आत्मा एक ही है या हो सकती है' यह संभावना भी विचारणीय नहीं है। अतएव इन दोनों विधाओं में आंशिक रूप से समानता है।

बौद्धधर्म के दर्शन का रूप धारण करने में सांख्य का योगदान अन्य प्रकार से भी संभावित है। कार्यकारणभाव-सम्बन्ध को बहुत अधिक महत्त्व देते हुए बौद्धों के द्वारा दुःख के मूल कारण की गवेषणा एवं तत्परक द्वादश-चक्र प्रवर्तन की प्रणाली का विकास तथा अन्ततोगत्वा अविद्या के निखिल प्रपञ्च का मूल कारण होने का विधान, सांख्य के दुःखत्रय के मूलकारण त्रिगुणात्मिका प्रकृति, उसके महदादि परिणाम एवं कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व के एकाश्रयी होने की भ्रान्त प्रतीति के सिद्धान्त से विलक्षण साम्य रखता है। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् जैकोबी ने इन तथ्यों का विस्तृत विवेचन करते हुए ऐतिहासिक क्रम से भी बौद्धों पर ही सांख्य के प्रभाव के औचित्य को सिद्ध किया है। उनका कहना है कि महाभारत में सांख्य एवं योग के दार्शनिक सिद्धान्तों का निरूपण इतना अधिक एवं कुछ इस प्रकार हुआ है कि उसके अध्ययन से यही धारणा बनती है कि उस समय तक वे चिन्तन की परम्परा

में अत्यन्त प्रसिद्धि पा चुके थे। बुद्ध एवं बौद्ध विद्वानों द्वारा अपने सिद्धान्तों के निरूपण में उनका उपयोग कर लेना सर्वथा स्वाभाविक एवं अत्यन्त संगत प्रतीत होता है। अश्वघोष रचित 'बुद्धचरित' महाकाव्य में बुद्ध के एक ऐसे गुरु के होने का उल्लेख हुआ भी है जो सांख्य दर्शन के आचार्य थे तथा जिनका नाम 'आलार' था। इससे भी उपर्युक्त धारणा की ही पुष्टि होती है।

बौद्धदर्शन के ऊपर सांख्य के प्रभाव का मूल्यांकन करते हुए प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् एल्ट्रामेयर ने जो कहा है कि सांख्य में गुणों के अस्तित्व का सिद्धान्त बाद का प्रक्षेप है[1] क्योंकि उसका उल्लेख या प्रभाव बौद्धदर्शन पर रञ्चमात्र भी परिलक्षित नहीं होता, कल्पनापोढ़ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। क्योंकि प्रभाव की साक्षी से किसी सिद्धान्त के मौलिक रूप की परीक्षा करना सर्वथा असंगत और एक प्रकार से दुःसाहस की बात है। जो तत्त्व अपने में खपाया नहीं जा सकता उससे प्रभावित होना अपना ही मूलोच्छेद करना है। सत्कार्यवाद की आधार शिला पर निहित गुणों के अस्तित्व का सिद्धान्त सांख्य का सर्वस्व है। त्रिगुण की सत्ता ही प्रकृति की नाना रूप में प्रवृत्ति या परिणति का नियामक तत्त्व है।[2] उसे बाद का प्रक्षिप्त कहना सांख्य की मूलप्रकृति को न पहचानना है।

इस प्रकार दुःख तथा उसके कारणों के स्वरूप में बौद्ध एवं सांख्य सिद्धान्तों में जो साम्य की प्रतीति होती है उसकी अपेक्षा उसके वास्तविक रूप में इतना वैषम्य है कि उसे एक के द्वारा दूसरे से उधार लिया हुआ कथमपि नहीं कहा जा सकता। बौद्ध सिद्धान्त निर्वाण को सदा ध्यान में रखता है जिसे महाभारत में बौद्धों के ऊपर ब्राह्मणों की मुक्ति के सिद्धान्त का प्रभाव बताया गया है। यही स्थिति सांख्य की भी है जहाँ प्रकृति एव पुरुष की स्वतन्त्र सत्ता का विवेक ही लक्ष्य है। पुरुष के कर्तृत्व एवं अन्तशः भोक्तृत्व का भी निषेध उसके ऊपर वेदान्त के प्रभाव का द्योतक है। निर्वाण या मोक्ष के स्वरूप के विषय मे सांख्य एवं बौद्ध सर्वथा विप्रतिषिद्ध हैं। परमेश्वर की सत्ता की अस्वीकृति ही एक ऐसा बिन्दु है जिस पर बौद्ध और शास्त्रीय सांख्य एक हैं। पर साथ ही उनके अन्य सिद्धान्तों के बीच भेद की खाई गहरी होने के साथ साथ बहुत चौड़ी भी है। उदाहरणतः बौद्ध दर्शन में उस प्रकृति को जिससे जगत् का

---

१. कीथ; सांख्यसिस्टम; पृ० २७

२. प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च। सां० का० १६

विकास हुआ है, परमार्थतः सत् अर्थात् यथार्थ नहीं माना गया है तथा उसमें गुणों के सिद्धान्त का लेश तक नहीं है। वह इसलिये कि बौद्ध किसी भी तत्त्व को नित्य या परमार्थतः सत् नहीं मान सकते। जबकि गुण जिनमें सत्त्व भी एक है तथा जो सुखात्मक ही होता है, सांख्य के अनुसार नित्य एवं परमार्थतः सत् हैं। जो बौद्धों के 'सर्वंदुःखम्' तथा 'सर्वं क्षणिकम्' के सिद्धान्त के सर्वथा विपरीत है। इसके विपरीत बौद्ध जन्म जन्मान्तर एवं लोक लोकान्तर में विचरण करने वाले आत्मा के अस्तित्व को कदापि स्वीकार नहीं कर सकते क्योंकि उससे उनके 'सर्वम् अनात्म्यं' के सिद्धान्त का विरोध होता है। यही नहीं चेतन पुरुष की निष्क्रियता, निखिल व्यावहारिक सत्ता का आधार प्रकृति तथा पुरुष एवं प्रकृति के संयोग से जगत् की प्रवृत्ति आदि अनेक ऐसी बातें जो बौद्ध धर्म एवं दर्शन के सर्वथा विरुद्ध हैं, सांख्य मानता है। इनके अतिरिक्त बौद्ध दर्शन में हम प्रकृति को ऐसा नहीं पाते कि वह नर्तकी की तरह पुरुष के प्रयोजन की सिद्धि के लिये सारी क्रियायें करती है तथा पङ्ग्वन्ध न्याय से ही निखिल जगत् की सृष्टि होती है और उसका व्यवहार बनता है।

बौद्धदर्शन पर सांख्य के प्रभाव का विवेचन करना यहाँ उद्दिष्ट नहीं था। इस समूचे विवेचन का प्रयोजन मात्र यही बताना है कि बौद्ध चिन्तन पर सांख्य के प्रभाव की बात विचारणीय भले हो पर सांख्य पर बौद्ध चिन्तन का प्रभाव रञ्चमात्र भी नहीं है। यदि दोनों के उपनिषदों की किन्हीं अत्यन्त पास पास बहने वाली विचार धाराओं से उद्भिन्न होने की बात मान भी ली जाय तो भी सांख्य पर उपनिषदों का ही प्रभाव सिद्ध होता है बौद्धों का नहीं। इसके अनन्तर हम उपनिषदों के अध्यात्मवाद से सांख्यीय सिद्धान्तों की उद्भूति की संभावनाओं का विवेचन करेंगे।

(ख) औपनिषद अध्यात्मवाद

बौद्ध एवं सांख्य दर्शनों में उपलभ्यमान सैद्धान्तिक साम्य से इन दोनों के उपनिषदमूलक होने की सम्भावना ऊपर के पृष्ठों में व्यक्त की गई है। उपनिषदों का ऊहापोह करने से उनमें सांख्य-विषयक सामग्री पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होती है। किन्तु साँख्य पर उपनिषदों के प्रभाव का मूल्याङ्कन ठीक ठीक तभी हो सकता है जब उपनिषदों की रचना के समय के विषय में कुछ निश्चय पूर्वक कहा जा सके। क्योंकि इसमें सन्देह का कोई अवसर नहीं है कि बहुत से उपनिषद् पर्याप्त बाद की रचनाएँ हैं और इसप्रकार वे स्वयं

सांख्य से प्रभावित हो सकते हैं। जैकोबी ने उपनिषदों को कालक्रम से चार श्रेणियों में विभाजित किया है।

१. प्राचीनतम— इनमें बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय एवं कौषीतकी उपनिषद् आते हैं।

२. प्राचीन— इनमें काठक, ईश, श्वेताश्वतर, मुण्डक तथा महानारायण उपनिषद् सम्मिलत हैं।

३. आधुनिक— इनमें प्रश्न, मैत्रायणी, तथा माण्डूक्य आते हैं।

४. आधुनिकतम— इनमें अथर्ववेद से सम्बन्धित शेष सभी उपनिषद् आते हैं।

प्राचीनतम उपनिषदों में परिगणित बृहदारण्यक उपनिषद् मात्र पुरुष को ही द्रष्टा घोषित करता है साथ ही उसे (पुरुषको) क्रिया-शून्य भी कहता है। उसके लिए उसके विशेषण के रूप में 'असंग' पद का भी प्रयोग इस उपनिषद् में हुआ है। जिसका अभिप्राय यह है कि पुरुष एक ऐसा तत्त्व है जो किसी भी अन्य तत्त्व के साथ मिलकर एक नहीं हो सकता।[1] सांख्य में बुद्धि के लिए महत् शब्द का प्रयोग हुआ है। बृहदारण्यक उपनिषद् भी ऐसे ही प्रयोग करता है।[2] यहीं पर विज्ञानघन शब्द का प्रयोग हुआ है जो बुद्धि के ज्ञानात्मक स्वभाव का वाचक है। बृहदारण्यक के ही तुल्यकोटि के छान्दोग्य उपनिषद् में हमें सत्कार्यवाद का प्रथमबार उल्लेख मिलता है।[3] वहीं पर पूर्वपक्ष के रूप में असत्कार्य वाद का उल्लेख करते हुए उसका खण्डन एवं एकमात्र अद्वितीय सत् को अनादिकाल से विद्यमान होने का विधान भी प्राप्त होता है।[4] वहीं पर अगले मन्त्र में यह तर्क उपस्थित किया गया है

---

१. स वा एष एतस्मिन्सम्प्रसादे रत्वा, चरित्वा दृष्ट्वैव...'स यत्तत्र किञ्चिद्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद् याज्ञवल्क्य। बृहदा० उप० ४।३।१५

२. स यथा सैन्धवखिल्य......यतो यतस्त्वाददीत लवणमेवैवं वा अर इदं महद् भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एव एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति। वही २।४।१२

३. सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। छा० उ० ६।२।१

४. तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत। छान्दोग्य उपनिषद् ६।२।१

कि असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? वह तो निश्चत रूप से सत् से ही हो सकती है।[1] जिस प्रकार एक ही पिण्ड से मिट्टी के नाना प्रकार के बर्तन बनते जिस के अलग अलग रूप (आकार-प्रकार) अतएव भिन्न भिन्न नाम पाए जाते हैं। उसी प्रकार एक ही सत् से नामरूपात्मक इस जगत् की सृष्टि हुई है। यहाँ यह[2] बात विशेष ध्यान देने की है यह उपनिषद् स्पष्टरूप से कार्य के सत् होने के सिद्धान्त को स्वीकार करता है जो शाङ्कर अद्वैत के विपरीत तथा सांख्य के अनुकूल है। एक अन्यत्र स्थल पर उपनिषद् अग्नि के भास्वर शुक्ल, जल के अभास्वर शुक्ल तथा पृथ्वी के कृष्णरूप को सत्य कह आया है[3]। यहाँ पर अग्नि की ललाई प्रकृति का रजोगुण है, जल की शुक्लता उसका सत्त्वगुण तथा पृथ्वी की कृष्णता प्रकृति का तमोगुण है। इस प्रकार यहाँ मूलप्रकृति के सत्त्व, रज एवं तम तीनों गुणो को सत् कहा गया है। इसी तथ्य का प्रकाशन 'अजामेकाम्' आदि मन्त्र[4] से भी होता है जिसकी उपलब्धि द्वितीय कोटि के उपनिषदों श्वेताश्वतर, महानारायण तथा ईश में होती हैं। यहाँ पर प्रकृति को 'अजा' कहा गया है जिसकी व्युत्पत्ति 'न जायते इति' के अनुसार वह कभी पैदा नहीं होती तथा अनादिकाल से इसी रूप में चली आ रही है। साथ ही इस मंत्र में उसके सत्त्व, रज तम तीनों गुणों एवं बद्ध एवं मुक्त पुरुषों का भी निरूपण हुआ है जो साख्य-सिद्धान्त के सर्वथा अनुकूल है। प्रकृति के तीन गुणों के लिए ही श्वेताश्वतर में 'त्रिवृतम्' कहा है[5]।

उत्तरकालीन उपनिषदों में तो सांख्यीय तत्त्वपरम्परा का बहुशः उल्लेख प्राप्त होता है। उदाहरणतः कठोपनिषद् में महत् से परे अव्यक्त को तथा

---

१. कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यात् इति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति, सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। छान्दोग्य उप० ६।२।२

२. यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम। छान्दोग्य उ० ६।१।४।

३. यदग्रेरोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्। त्रीणिरूपाणि इत्येव सत्यम्।

४. अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानांसरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।।

श्वेताश्वतर ४।५, म० ना० पृ० ४

५. तमेकनेमिं त्रिवृत्तं षोडशान्तम्। श्वेताश्वतर उप० १।४।

उससे भी परे पुरुष का होना बताया गया है साथ ही पुरुष से परे किसी अन्य तत्त्व की सत्ता का निषेध भी किया गया है। क्योंकि तत्त्वों की वही पराकाष्ठा है जिसमें सभी तत्त्व शरण पा सकते हैं।[1] यहां पुरुष को पराकाष्ठा कहकर उसे प्रकृति से भी व्यापक एवं उसका भी कारण होने का विधान किया गया है जो निश्चितरूप से सांख्य का नहीं, अद्वैत वेदान्त का सिद्धान्त है। क्योंकि सांख्य-सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति और पुरुष में से कोई भी किसी का कारण या आश्रय नहीं है। मुण्डक उपनिषद् भी दो प्रकार के पुरुषों का उल्लेख करता है जिनमें से एक बद्ध है जो अपने किए हुए कर्मों का फल भोगता है। दूसरा मुक्त है अतएव उसमें किसी प्रकार का भोग सम्भव नहीं है।[2]

श्वेताश्वतर उपनिषद् के सांख्यपरक होने की मान्यता भी निराधार नहीं है क्योंकि उसमें स्पष्टरूप से सांख्य[3] एवं उसके उद्भावक कपिल[4] का उल्लेख प्राप्त है, यद्यपि यहाँ प्रयुक्त कपिल पद के अर्थ के विषय में टीकाकारों में बड़ा विसम्वाद है। यही नहीं इसी उपनिषद् में सांख्य के व्यक्त, अव्यक्त एवं ज्ञ नामक तत्त्वों का सम्यक् रूप से उल्लेख हुआ है।[5] प्रकृति के लिए "प्रधान' पद का प्रयोग तथा उसके गुणों का उल्लेख भी इस उपनिषद् में प्राप्त होता हैं।[6] एक मन्त्र में तो सांख्य के प्रायः सभी तत्त्वों का रूपकात्मक निरूपण श्वेताश्वतर में उपलब्ध होता है।[7] इस जगत् रूपी रथ की नेमि एक ही मूल-

---

१. महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥ कठ० उप० ३।११

२. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिष्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥ मुण्डकोपनि० ३।१

३. तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यम्। श्वे० उ० ६।१३।

४. ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे। वही ५।२

५. (क) संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च, व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः। वही १।८
(ख) ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजाह्येका··· । वही १।९

६. (क)क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः। वही १।१०।
(ख)मायां तु प्रकृतिं विद्यात्। वही ४।१०।
(ग)देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्। वही १।१३

७. तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं,
शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं,
त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम्॥ वही १।४

प्रकृति है जिसमें पचास प्रत्यय-सर्गरूपा अरायें लगती हैं तथा बीस प्रत्यरायें। प्रकृत्यादि छह अष्टकों के साथ साथ विश्वरूप एक पाश, तीन मार्ग एवं पुण्य पाप रूपी दो कारणों से युक्त है।

किन्तु सांख्यीय कुछ तत्त्वों के उल्लेख मात्र से किसी उपनिषद् या सिद्धान्त को सांख्य का मूल या उसका विवेचक नहीं सिद्ध किया जा सकता। क्योंकि इन उपनिषदों में सांख्य में प्रयुक्त कुछ परिभाषाओं एवं प्राविधिक शब्दों का प्रयोग मात्र मिलता है। सांख्यीय सिद्धान्तों का पूर्णरूप से निर्वाह किसी भी उपनिषद् में उपलब्ध नहीं होता। इसके विपरीत उन्हीं उपनिषदों में वेदान्त एवं मीमांसा-दर्शन के तत्त्वों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। उदाहरणतः श्वेताश्वतर उपनिषद् में ही प्रकृति को माया, महेश्वर को मायी तथा प्रकृति को ईश्वर की आत्मशक्ति कहा गया है।[1] साथ ही जगत् के निखिल कारणों के मूल में एकमात्र कारण ब्रह्म को स्वीकार किया है।[2] इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् सर्वान्तरात्मा तथा व्यापकतम तत्त्व एकमात्र आत्मा के होने का निरूपण करता है। इसलिए इसे सांख्य परक नहीं कहा जा सकता। इस प्रसंग में यही कहना पर्याप्त होगा कि सांख्य की प्राविधिक पदावली अत्यन्त प्राचीन है जिसका प्रयोग उपनिषदों एवं विशेषरूप से दर्शन की अद्वैत, शैव एवं बौद्ध विधाओं में होता रहा है। कीथ की यह सम्भावना कि श्वेताश्वतर, उपनिषदों के जिन मूल-सिद्धान्तों के आधार पर महेश्वर या परमेश्वर का निरूपण करता है, उन्हीं मूल-तत्त्वों से सांख्य का विकास हुआ है,[3] कल्पना मात्र ही प्रतीत होती है। इससे तो गफ का यह उद्गार ही अधिक उचित प्रतीत होता है कि सांख्य मूलतः वेदान्त के सैद्धान्तिक तत्त्वों का परिगणन

---

१. क— मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। श्वेता० ४।१०
ख — देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्। श्वे० उ० १।३।

२. यत्कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः। वही १।३

३. The उपनिषद् श्वेताश्वतर represents a definite development of the doctrine of the absolute based on the older उपनिषद् from which in due Course the सांख्य developed. Systems of सांख्य।

मात्र है।[1] इसके अतिरिक्त वैदिक संहितायें एवं ब्राह्मण ग्रन्थ भी हैं जिनमें सांख्यीय तत्त्वों के मूल का अन्वेषण अभी शेष है। उसके अनन्तर ही इसके विषय में इदमित्थं रूप से कुछ कहा जा सकता है।

(ग) वैदिक पुरुषवाद एवं बद्ध-मुक्त जीव तथा प्रकृति

वैदिक संहिताओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में सांख्य के तत्त्वों का बीजरूप में उल्लेख यत्र तत्र प्राप्त होता है। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि सांख्यकारिका में जिन तत्त्वों और सिद्धान्तों का विवेचन हुआ है उनकी उपलब्धि वेदों में भी उसी रूप में होती है। क्योंकि ऐसा कथन सर्वथा अनुचित होगा। किन्तु बीज के रूप में सांख्यीय तत्त्वों का मूलान्वेषण वेदों में भी किया जा सकता है। ऋग्वेद के दशम मण्डल के नासदीय सूक्त में आकाश से भी पहले की स्थिति के प्रसंग में रजस् तथा तमस् का उल्लेख मिलता है[2] जो सम्भवतः प्रकृति के रजोगुण और तमोगुण का ही उल्लेख है।[3] तथा सत् से उसी सूक्त में सम्भवतः सत्त्वगुण का संकेत प्राप्त होता है।[4] और उसे ही सृष्टि का मूल स्रोत तथा 'परमे व्योमन्' पद से कहा गया है।[5] इससे सम्भवतः सत्कार्यवाद के सिद्धान्त का संकेत मिलता है। सायण ने भी अपने भाष्य में इसकी ऐसी ही व्याख्या की है।[6]

इसके अतिरिक्त ऋग्वेद प्रधान के एक नाम 'अज' का निरूपण भी इसी दशम मण्डल में करता है। जिसके अनुसार सृष्टि के आरम्भ में उसने जल के रूप में गर्भ धारण किया जिसमें सभी देवता पहुंच गए। इसे अज अर्थात् मूलप्रकृति के नाभिप्रदेश में स्थापित किया गया जिसमें निखिल भुवन

---

१. The सांख्य is originally an enumeration of principles of the Vedanta।

A. E. Gough, Philosophy of the upanisads P. 200

२. नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्। ऋग्वेद १०।१२९।१

३. तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रे। ऋग्वेद १०।१२९।३

४. सतो बन्धुमसति निरविन्दन्। ऋ० १०। १२९।४

५. इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न। ऋ० १०।१२९।७

६. एतेन कार्यस्य धारयितृत्वप्रतिपादनेन ब्रह्मण उपादानकारणत्वमुक्तं भवति। सायणभाष्य।

सूक्ष्म रूप से विद्यमान था ।[1] इस प्रकार गवेषणा करने पर वैदिक संहिताओं में भी सांख्यीय सिद्धान्तों एवं तत्त्वों का मूल-रूप पाया जा सकता है । किन्तु अन्य विषयों की भांति ही यह भी व्याख्या-सापेक्ष है। क्योंकि भारतीय परम्परा के अनुसार वैदिक संहिताओं की रचना का उद्देश्य जब यज्ञ के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं तो उनमें ज्ञान विज्ञान की बातों का अन्वेषण कोई अनुकूल परिणाम नहीं दे सकता । वेद के आधुनिक व्याख्याकारों के अनुसार भी उनमें ज्ञान विज्ञान की सामग्री का सर्वथा अभाव ही बताया जाता है । अतः पूर्वोक्त उद्धरणों के आधार पर यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि सांख्य-सिद्धान्त के बीज वैदिक संहिताओं में विद्यमान हैं ही । सांख्यकारिका की द्वितीय कारिका के अनुसार ही वेद का विषय यज्ञयागादि परक कर्मकाण्ड के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसीलिए वहाँ दुःख की निवृत्ति के उपाय के रूप में पूर्वतः विद्यमान वैदिक उपाय को अविशुद्धि, क्षय और अतिशय से युक्त बताया है । ये तीनों ही बातें मात्र कर्मकाण्ड से सम्बन्धित हैं । पशु-हिंसा के कारण यज्ञ में विशुद्धता नहीं रहती, यज्ञ द्वारा प्राप्त फल स्वर्ग का भी विनाश सम्भव है तथा उसमें भी भोग की सामग्रियों की उपलब्धि में न्यूनाधिक्यभाव होता है ।

वेद का इस रूप में विवेचन उसे मात्र यज्ञयागादि तक ही सीमित कर देता है । छान्दोग्य और बृहदारण्यक जैसे प्राचीनतम उपनिषदों में इन्हीं यज्ञयागादि की आध्यात्मपरक व्याख्या प्रस्तुत की गई है । तथा यजमान की अतिमुक्ति का विधान भी किया गया है । ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक यज्ञयागादिरूप कर्मकाण्ड की उपनिषदों द्वारा अध्यात्मपरक व्याख्या के अभियान के पूर्व ही सांख्य-सिद्धान्त का आविर्भाव हो गया था । क्योंकि उपनिषदों मे दुःख निवृत्ति के जिन उपायों का निरूपण मिलता है वे सांख्य की तुलना में अधिक सात्विक एवं अधिक स्थायी हैं । तथा जीव, जगत् एवं आत्मा का जिस विस्तार एवं गहराई लिए हुए विवेचन उपनिषदों में प्राप्त होता है, सांख्य में इसका अभाव सा है । संभवतः सांख्य के द्वारा वैदिक कर्मकाण्ड के विरोध में चलाए गए आन्दोलन के समाधान के रूप में ही उन्हीं वैदिक संहिताओं एवं ब्राह्मणों की अध्यात्मपरक व्याख्याएं प्रस्तुत की गईं, जिन्हें उनका परम रहस्य

१. तमिद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे ।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः ।।

ऋग्वेद १०।८२।६

उपनिषद् शब्द से अभिहित किया जाता है। सांख्य के वैदिक कर्मकाण्ड के विरोधी अभियान के अनन्तर उपनिषदों के रूप में वैदिक-कर्मकाण्ड उत्तरकाण्ड का प्रस्तुतीकरण सांख्य-सिद्धान्तों का एक प्रकार से बहिष्कार है। चूंकि सांख्य का आविष्कार उपनिषदों से पहले हो चुका था इसलिए उनमें सांख्य की पदावली का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है और वह इसलिए भी उपलब्ध होता है कि उपनिषदों को सांख्य के इस अवैदिक अभियान का खण्डन करना था।

कपिल के द्वारा आसुरि को सांख्य में दीक्षित करने की घटना से भी इसी की पुष्टि होती है। कहते हैं आसुरि पहिले मीमांसक अर्थात् वैदिक कर्मकाण्डी थे। शतपथ ब्राह्मण में आसुरि नामक विद्वान् का उल्लेख प्राप्त होता है जिसे कपिल ने सांख्य की दीक्षा दी। यदि वैदिक यज्ञयागादि की आध्यात्मपरक व्याख्या रूप उपनिषदों की स्थिति या प्रचार उन दिनों होता तो उन्हें छोड़कर सांख्य-सिद्धान्त में दीक्षा लेने की आवश्यकता आसुरि को नहीं पड़ती। इस प्रकार इस समूचे विवेचन का निष्कर्ष यही निकलता है कि कपिल प्रोक्त सांख्यीय सिद्धान्तों का निरूपण संहिता और आरण्यक एवं उपनिषद्काल के बीच सम्भवतः ब्राह्मणों के समय में ही हुआ है जिसका प्रतिनिधित्व ईश्वरकृष्ण का सांख्यकारिका नामक ग्रंथ करता है। आगे चलकर सांख्य में भी ईश्वर निरीश्वर आदि मतभेद उपस्थित हुए तथा सांख्य को सम्यग् रूप से विवेचित कर एक दार्शनिक सिद्धान्त का रूप दिया गया।

★

४ सांख्य-शास्त्र का इतिहास

सांख्य-शास्त्र के आचार्य

स्मृति, पुराण, महाभारत, सांख्यकारिका तथा सांख्य सूत्र और कारिका पर कृत टीकाएं और प्रटीकाएँ सांख्यशास्त्र के चिन्तकों की एक महती परंपरा का उल्लेख करती हैं। जिनमें कपिल आसुरि पंचशिख, विन्ध्यवास, वार्षगण्य, जैगीषव्य, वोढु, असित, देवल, सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार, भृगु शुक्र, काश्यप, पराशर, गर्ग, गौतम, नारद, अगस्त्य, पुलस्त्य, हारीत, उल्लूक, वाल्मीकि तथा शुक का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन नामों को देखने से यह स्पष्ट है कि इनका कोई ऐतिहासिक महत्त्व नहीं है। सांख्य के नाम से जिसकी भी कोई उक्ति मिली है उसका नाम उद्धृत कर दिया गया है। ये सभी नाम उस युग के हैं जबका वास्तविक इतिहास हमें उपलब्ध नहीं होता। जो विशेषरूप से सांख्यशास्त्र से सम्बद्ध हैं तथा सांख्यशास्त्र को जिनकी कोई महत्त्वपूर्ण देन है उनमें पंचशिख, कपिल, आसुरि, ईश्वरकृष्ण विज्ञानभिक्षु, तथा वाचस्पति मिश्र मुख्य है। उन्हीं के जीवन-चरित पर यहाँ विशेष प्रकाश डाला जायगा।

१. कपिल

समूचे भारतीय वाङ्मय में कपिल, सांख्यशास्त्र के आद्य प्रवर्तक के रूप में प्रसिद्ध हैं। महाभारत एवं पुराणों में तो इनकी चर्चा है ही उपनिषदों तक में इनका उल्लेख प्राप्त होता है। मैक्समूलर प्रभृति अनेक आधुनिक विद्वान् कपिल को ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं मानते।[1] पुराणों के अनुसार कपिल विष्णु के अवतार हैं। इन्हें ब्रह्मा का पुत्र तथा अग्नि का साक्षात् अवतार भी माना गया है। कीथ की भी यही धारणा है कि कपिल कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं थे अपितु यह हिरण्यगर्भ का ही एक दूसरा नाम है जो अग्नि, विष्णु या शिव के लिए

---

१. That कपिल, the first teacher of Samkhya, infact, the first enlighted human being, during the Current Cycle, was not historical personage in the usually accepted sense of the term, is without any doubt.

जयमङ्गलाटीका की भूमिका पृ० २

भी प्रयुक्त हुआ है। जयमंगला टीका की भूमिका में पण्डित गोपीनाथ कविराज ने भी प्रायः यही मत व्यक्त किया है। नाथपंथी साहित्य में भी कपिल का उल्लेख एक सिद्ध के रूप में मिलता है। जैसा कि गीता में कहा है—सिद्धानां कपिलो मुनिः। सांख्य के टीकाकारों ने कपिल को जन्मतः सिद्ध माना है और कहा है कि इन्हें धर्म, ज्ञान, विराग और ऐश्वर्य चारों भाव जन्म से ही सिद्ध थे। योग-सूत्र पर उपलब्ध व्यास-भाष्य में कपिल के विषय में कहा है कि परम ऋषि भगवान् कपिल ने जो आदि विद्वान् थे अपने चित्त में कुछ निर्माण करने के निश्चय से अपने अत्यन्त जिज्ञासु शिष्य आसुरि को तन्त्र का उपदेश दिया।[1] यहाँ कपिल ने आसुरि को जिस सांख्य-शास्त्र का उपदेश दिया उसके लिए तन्त्र पद का प्रयोग हुआ है। तथा 'निर्माणचित्तमधिष्ठाय' पद से यह प्रतीत होता है कि कपिल का शरीर भौतिक नहीं था। आसुरि को उपदेश देने के लिए ही उन्होंने भौतिक देह धारण किया था। उक्त पंक्ति की व्याख्या करते हुए बालराम उदासीन कहते हैं कि आदि विद्वान् का अर्थ सृष्टि के आरम्भ में आविर्भूत हिरण्यगर्भ से है जो स्वयंभू है। 'निर्माणचित्त' का अर्थ योग-बल से स्वनिर्मित चित्त है। 'उसमें अधिष्ठित होकर' का तात्पर्य अपने अंश से प्रवेश करके कपिल नामक ऋषि होकर है। क्योंकि श्रुति से भी इस बात का समर्थन होता है कि जिसने सृष्टि के आदि में कपिल को पैदा किया और उनको ज्ञान-सामग्री दी।[2] भागवत-पुराण भी यही कहता है कि कपिल विष्णु के पाँचवे अवतार थे जो सिद्धों के स्वामी थे और काल के गाल में समाए सांख्य-शास्त्र का उपदेश आसुरि को करके उन्होंने उसका उद्धार किया, जिसमें ब्रह्माण्ड में वर्तमान निखिल तत्त्वों का निरूपण यथावत् किया गया है।[3] महाभारत में जो कपिल को अग्नि कहा है तथा कपिल को जो ब्रह्मा का पुत्र कहा गया है उसे कल्प-भेद से समझना चाहिए। क्योंकि भास्कराचार्य प्रभृति विद्वानों ने भी 'ऋषिं प्रसूतं कपिलं' में प्रयुक्त 'कपिल' पद का अर्थ हिरण्यगर्भ ही किया है।

---

१. आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद्भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच। यो० सू० १।२५ पर भाष्य।

२. ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे,
ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्॥ श्वेताश्वतरोपनिषद् ५।२

३. पञ्चमे कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्।
प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम्॥ श्रीमद्भागवत पुराण १।३

बौधायन गृह्य-सूत्र में एक अन्य कपिल का भी उल्लेख उपलब्ध होता है जिन्होंने चारों आश्रमों का विभाग किया था। इनके अतिरिक्त कपिल-स्मृति के लेखक भी एक कपिल हुए हैं। सगर के दस हजार पुत्रों को भस्मसात् करने वाले कपिल का उल्लेख महाभारत तथा अन्य पुराणों में भी उपलब्ध होता है। शङ्कराचार्य के ब्रह्मसूत्र-भाष्य से ज्ञात होता है कि स्मृतिकार कपिल ऋषि वैदिक कपिल से भिन्न थे।[1] आनन्दगिरि ने इस स्थल की व्याख्या करते हुए स्पष्ट कहा है कि जिन्होंने सगर के साठ हजार पुत्रों को भस्मसात् किया वे वैदिक कपिल थे तथा सांख्य-शास्त्र के प्रवर्तक कपिल उनसे सर्वथा भिन्न थे। पद्मपुराण के अनुसार वासुदेव कपिल ने ब्रह्मा, भृगु आदि ऋषियों को सांख्य-शास्त्र की शिक्षा दी। किन्तु भागवतपुराण के अनुसार वासुदेव स्वयं कपिल के रूप में देवहूति के गर्भ से उत्पन्न हुए थे।[2]

इस प्रकार उक्त अनेकानेक उल्लेखों का संकलन करने पर हम सिद्ध, असुर, स्मृतिकार, वासुदेव तथा सांख्यप्रणेता इन पाँच कपिलों का होना पाते हैं। ये सभी एक हैं इस बारे में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। गार्बे ने कपिल की ऐतिहासिकता के विरोध में दी गई मैक्समूलर, कोलब्रुक एवं कीथ प्रभृति विद्वानों की उक्तियों का खण्डन करते हुए कहा है कि कपिल के नाम से जिन अनेक व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है उनमें से सभी व्यक्ति निश्चित रूप से ऐतिहासिक नहीं हैं, किन्तु सांख्यकारिकाकार ने महामुनि के रूप में जिन कपिल का उल्लेख किया है उनकी ऐतिहासिकता में सदेह के लिए कोई अवकाश नहीं है। यह भिन्न बात है कि हम उनके स्थिति-काल का निर्धारण यथावत् न कर सकें। किन्तु इतने से ही किसी व्यक्ति की ऐतिहासिकता का अपलाप नहीं किया जा सकता। इसी आधार पर राधाकृष्णन् ने कपिल को ऐतिहासिक व्यक्ति मानते हुए उनका समय बुद्ध से अव्यवहित पूर्व की शताब्दी माना है।

२. आसुरि

महामुनि कपिल के प्रथम शिष्य आसुरि के वास्तविक रूप में विद्यमान

---

१. नैवं कापिलादिस्मृतीनामनुष्ठेये विषयेऽवकाशोऽस्ति।······कपिलप्रभृतीनां चार्षं ज्ञानमप्रतिहतं स्मर्यंते। ब्रह्मसूत्र २।१।१ पर शाङ्कर भाष्य।

२. कपिलस्तत्त्वसंख्याता भगवानात्ममायया।
जातः स्वयमजः साक्षादात्मप्रज्ञप्तये नृणाम्।। भागवत पुराण ३।२५

होने के विषय में भी सन्देह किया जाता है। किन्तु गोपीनाथ कविराज ने इनको निश्चितरूप से ऐतिहासिक व्यक्ति माना है।[1] गार्बे और कीथ का कहना है कि आसुरि यदि वस्तुत: ऐतिहासिक व्यक्ति थे तो वे शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित आसुरि से भिन्न थे। शतपथ ब्राह्मण के उल्लेख के अनुसार आसुरि एक वैदिक कर्मकाण्डी मीमांसक थे जिनको कर्म से विरति हो गई थी और वे जिज्ञासुभाव से कपिल के पास गए। कपिल ने उन्हें सांख्यशास्त्र की शिक्षा दी। माठरवृत्ति और जयमंगला में आसुरि के प्रव्रजित होकर सांख्य-शास्त्र के ग्रहण की जो कथा दी गई है वह शतपथ ब्राह्मण के उल्लेख से सर्वथा मिलती है। कथा निम्नप्रकार से है : —

महामुनि कपिल को जन्म से ही धर्म, ज्ञान, विराग और ऐश्वर्य चारों भाव सिद्ध थे। ज्ञान भाव से जब उन्होंने अज्ञानान्धकार में वर्तमान जगत् को पीड़ित देखा तो उन्हें करुणा उत्पन्न हो गई। उसी करुणा से प्रेरित होकर सहस्र वर्ष तक जप तप में निरत सगोत्रीय ब्राह्मण आसुरि के पास वे स्वयं आए और उनसे पूछा कि हे आसुरि क्या तुम गृहस्थधर्म में सुखपूर्वक हो ? आसुरि ने कहा कि भगवन् ! मैं इसमें रम नहीं पा रहा हूँ। कपिल चले गए। फिर एकसहस्र वर्ष बाद आकर उन्होंने उसी प्रकार पूछा तथा आसुरि ने उसी प्रकार उत्तर दिया—भगवन् ! मैं इसमें बिल्कुल नहीं रम पा रहा हूं। इस पर मुनि ने कहा कि यदि तुम विरक्त हो तो आओ हमारे साथ ब्रह्मचर्य का पालन करो। आसुरि ने उनके इस आमन्त्रण को स्वीकार किया और गृहस्थ धर्म छोड़-कर संन्यास ग्रहण कर लिया। अनन्तर कृपा करके आसुरि को कपिल ने सत्त्व, रजतमरूपी प्रधान तथा क्षेत्रज्ञ पुरुष का उपदेश देकर दोनों के संयोग से प्रोद्भूत सृष्टि के विकास का क्रम बताया। आसुरि ने कपिल से प्राप्त उसी विद्या का अध्यापन अपने शिष्य पंचशिख को विधिपूर्वक किया जिन्होंने सांख्यशास्त्र का षष्टितन्त्र के रूप में विस्तृत विवेचन किया।

---

१. The assumption of निर्माणकाय implies that the Master has not a physical body and his appearance before आसुरि doesnot therefore represents a historical fact, but it was certainly historical that आसुरि was a historical person and that his revival of सांख्य was an actual event in time. जयमङ्गला की भूमिका पृ० ३.

महाभारत में भी पंचशिख को कापिलेय मुनि कहा गया है जो आसुरि के प्रथम शिष्य थे।[1] आसुरिकृत कोई ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं है किन्तु 'षड्दर्शनसमुच्चय' की हरिभद्र कृत टीका में एक श्लोक उद्धृत है जिसे आसुरि का कहा गया है। श्लोक का अर्थ है—विवेक से युक्त द्रष्टा की बुद्धि में ही पुरुष का भोग कहा जाता है। बुद्धि में पुरुष की स्थिति उसी प्रकार होती है जिस प्रकार स्थिर जल में चन्द्रमा का निर्मल प्रतिबिम्ब पड़ता है।[2]

सांख्यशास्त्र के वेद मूलक होने का विवेचन करते हुए इसी भूमिका में कहा जा चुका है कि सांख्यकारिका में आनुश्रविक उपाय के रूप में जिस वैदिक उपाय का खण्डन किया गया है वह वस्तुतः यज्ञयागादि कर्मकाण्ड का ही खण्डन है। सांख्यकारिका में जैसा कि उसके कर्ता ईश्वरकृष्ण का दावा है यदि सांख्य परम्परा का प्रतिपादन मात्र ही है तो यह निश्चित रूप से कपिल से प्राप्त हुई होगी। क्योंकि सांख्यकारिकाकार के समय में वैदिक मन्त्र एवं यज्ञयागादि की अध्यात्मपरक व्याख्या निश्चित रूप से विद्यमान थी जिसका समारम्भ बृहदारण्यक और छान्दोग्य प्रभृति प्राचीनतम उपनिषदों में ही हो गया था। ब्राह्मण ग्रंथ वेदों की कर्मकाण्डपरक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं जो निश्चितरूप से गृहस्थ धर्म है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन दिनों उपनिषदों के द्वारा वैदिक कर्मकाण्ड की अध्यात्मपरक व्याख्या का अभियान प्रारम्भ नहीं हुआ था। इसके पहले ही कपिल ने आसुरि को सांख्य का उपदेश दिया होगा। वैदिक कर्मकाण्ड निश्चित रूप से व्यक्ति को कर्म में प्रवृत्त कराता है। उससे ऊबने पर अध्यात्म विद्या ही शान्ति प्रदान कर सकती है। इसलिए आसुरि यदि वास्तविक रूप से कोई व्यक्ति हुए हैं तो उनका समय उपनिषदों से पूर्व ब्राह्मणों का समय ही मानना होगा। क्योंकि उपनिषदों के रहते हुए आध्यात्मिक शान्ति या उपरति के लिए उपनिषदों में प्राप्त सामग्री कम पर्याप्त नहीं है कि उसके लिए सांख्य की शिक्षा अपेक्षित हो।

---

१. तत्र पञ्चशिखो नाम कापिलेयो महामुनिः ॥६॥
आसुरेः प्रथमं शिष्यं यमाहुः चिरजीविनम् ॥१०॥

महाभारत, शां०प०, अध्याय २१८

२. विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते।
प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छो यथा चन्द्रमसोऽम्भसि ॥

वेद को कर्मकांड कहकर उसमें दोषोद्भावन की प्रथा प्राचीन होते हुए पर्याप्त अर्वाचीन भी है। जैन, बौद्ध यहां तक कि वेदान्तियों ने भी वेद का खंडन उसे कर्मकांड कहकर ही किया है। गीता में भी वेद को त्रैगुण्य-विषय कहा है[1] तथा वेदवाद में रत रहनेवालों को अविपश्चित् अर्थात् अल्पज्ञ या अविवेकी की उपाधि से विभूषित किया है।[2] इन सब स्थलों में वेद का अर्थ कर्मकांड ही किया जाता है। यहाँ शंका हो सकती है कि क्या इनको भी इसी आधार पर उपनिषदों से पूर्व का मानना उचित होगा ? कदापि नहीं। क्योंकि जहाँ तक जैन एवं बौद्धों का सम्बन्ध है, वे कर्मकांड के साथ ही साथ अध्यात्मवाद का भी खंडन दोनों को एक ही सिक्के के दो रूप समझते हुए करते हैं। उनकी दृष्टि में वैदिक कर्मकांड और औपनिषद अध्यात्म परस्पर अनुरोधी होने से एक ही हैं। अत: उनके द्वारा कर्मकांड के रूप में वेद का खंडन सांख्यों के खंडन से सर्वथा भिन्न प्रकार का है। जहां तक अद्वैत वेदान्त एवं गीता के द्वारा वेद के नाम से कर्मकाड के खंडन का प्रश्न है वह स्पष्टरूप से मीमांसकों का खंडन है जो आज भी कर्मकांड को ही वेद का प्रतिपाद्य मानते हैं।

३. पंचशिख

सांख्यशास्त्र के कर्त्ताओं में कपिल के बाद दूसरा महत्त्वपूर्ण नाम पंचशिख का है जिनको षष्टितन्त्र का कर्ता माना जाता है। महाभारत में इन्हें पराशरगोत्रीय भिक्षु कहा गया है।[3] महाभारत में एक दूसरे स्थान पर इनकी उत्पत्ति की कथा बतलाते हुए कहा गया है कि कपिला नाम की एक ब्राह्मणी थी जिसके स्तनों का पानकर एक बालक का पोषण हुआ। इसीलिए उसे कापिलेय कहा गया। वही आगे चलकर पंचशिख के नाम से प्रसिद्ध हुआ।[4] इनके पंचशिख नाम की व्युत्पत्ति भी महाभारत के शान्तिपर्व में ही उपलब्ध

---

१. गीता २।४५

२. वही २।४२

३. पराशरसगोत्रस्य वृद्धस्य सुमहात्मनः ।
भिक्षोः पञ्चशिखस्याहं शिष्यः परमसम्मतः ॥महा० १२। ३२०।२४

४. ब्राह्मणी कपिला नाम काचिदासीत् कुटुम्बिनी ।
तस्याः पुत्रत्वमागम्य स्त्रियः स पिबति स्तनौ ॥
ततः स कापिलेयत्वं लेभे बुद्धिं च नैष्ठिकीम् ।
एतन्मे भगवानाह कापिलेयस्य सम्भवम् ॥ वही २१८।१५,१६

होती है ।[1] इतना कुल होने पर भी हमें पंचशिख के पारिवारिक जीवन के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है । न ही उनके काल के विषय में हम निश्चय-पूर्वक कुछ कह सकते हैं । गार्बे के अनुसार पंचशिख ईसा की प्रथम शताब्दी में हुए थे । क्योंकि योगसूत्र के व्यास भाष्य में पंचशिख का नाम तो नहीं मिलता किन्तु कुछ उद्धरण उसमें ऐसे दिये गए हैं जिनको वाचस्पतिमिश्र पंचशिख का कहते हैं । ये उद्धरण निम्नलिखित हैं —

१. एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम् ।[2]

२. आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद्भगवान्परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच ।[3]

३. तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मि इत्येवं तावत्सम्प्रजानीते ।[4]

४. व्यक्तमव्यक्तं वा सत्त्वमात्मत्वेनाभिप्रतीत्य तस्य सम्पदमनुनन्दत्यात्मसम्पदं मन्वानस्तस्य व्यापदमनुशोच्यात्मव्यापदं मन्वानः सः सर्वोऽप्रतिबुद्धः ।[5]

५. बुद्धितः परमपुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन्कुर्यात्तत्रात्मबुद्धिं मोहेन ।[6]

६. स्यात्स्वल्पः सङ्करः सपरिहारः सप्रत्यवमर्शः । कुशलस्य नापकर्षायालं कस्मात्कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति यत्रायमावापं गतः स्वर्गेऽप्यपकर्षमल्पं करिष्यति ।[7]

७. रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च परस्परेण विरुध्यन्ते, सामान्येन त्वतिशयैः सह प्रवर्तन्ते ।[8]

८. तुल्यदेशश्रवणानाम् एकदेशश्रुतित्वं भवति ।[9]

---

१. पञ्चस्रोतसि निष्णातः पञ्चरात्रविशारदः ।
पञ्चज्ञः पञ्चकृत् पञ्चगुणः पञ्चशिखः स्मृतः । महा० १२।२।८
२. योगभाष्य १।४
३. यो० भा० १।२५
४. ,, ,, १।३६
५. ,, ,, २।५
६. ,, ,, २।६
७. ,, ,, २।१३
८. ,, ,, ३।१३
९. ,, ,, ३।४१

दो सांख्यसूत्रों में भी पंचशिख का नाम उल्लिखित है।

१. आधेयशक्तियोग: पञ्चशिख: । ५।३२

२. अविवेकनिमित्तो वा पञ्चशिख: । ६।६८

इनके अतिरिक्त सांख्य प्रवचन-भाष्य तथा ब्रह्मसूत्र पर शाङ्करभाष्य की 'भामती' टीका में भी पञ्चशिख के उद्धरण यत्र तत्र दिये गए हैं। सांख्य-कारिका (२२) के गौडपादभाष्य एवं माठरवृत्ति में एक श्लोक पंचशिख के नाम से उद्धृत किया है जिसे पंचशिखकृत का माना जाता है।[१] यद्यपि वहां पंचशिख का नाम उल्लिखित नहीं है किन्तु 'भावागणेश' ने, 'तत्त्वयाथार्थ्य-दीपन' में तथा हरिभद्रसूरि ने 'शास्त्रवार्तसमुच्चयं में इसे पंचशिखरचित बताया है। भावागणेश का समय तो ईसा की सातवीं शताब्दी है। किन्तु हरिभद्रसूरि को अष्टम शताब्दी के आरम्भ का माना जाता है। योगसूत्र पर उपलब्ध व्यास-भाष्य का समय अनेक प्रमाणों के आधार पर चतुर्थ शताब्दी ईस्वी से पहले का ही ठहरता है। इससे यह ज्ञात हाता है कि ईसा की चतुर्थ शताब्दी तक पंचशिख की रचनाओं से लोग पूर्ण परिचित थे। इसीलिए व्यासभाष्य में उद्धरणों के साथ पंचशिख का नाम उल्लिखित करने की आवश्यकता नहीं समझी गई। जैसाकि वाचस्पति ने पंचशिख के नाम का पुन: पुन: उल्लेख किया है। इससे भी यही ज्ञात होता है कि यद्यपि उनके समय में पंचशिखाचार्य की रचनाओं का प्रचार कम हो गया था तथापि वे उपलब्ध थीं और उनके उद्धरण का बहुत अधिक महत्त्व था। भावागणेश ने पंचशिख को समाससूत्र का व्याख्या-कार भी कहा है।[२] सांख्यकारिका के अनुसार पंचशिख आसुरि के शिष्य थे एवं उन्होंने उस तन्त्र का जिसका उपदेश कपिल ने आसुरि को दिया था, विस्तारपूर्वक विवेचन किया।[३]

चीनी परम्परा के अनुसार भी पंचशिख षष्टितन्त्र के कर्ता माने जाते हैं। इससे कुछ विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि सांख्यकारिका का तन्त्र शब्द षष्टितन्त्र के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। किन्तु योग-भाष्य की तत्त्ववैशारदी

---

१. पञ्चविंशति तत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे रत: ।
जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशय: ।।

२. समाससूत्राण्यालम्ब्य व्याख्यां पञ्चशिखस्य च ।। तत्त्वयाथार्थ्यदीपन भूमिका

३. एतत्पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ ।
आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन च बहुलीकृतं तन्त्रम् ।।सां० का० ७०

टीका में वाचस्पति ने षष्टितन्त्र को योग का ग्रंथ मानते हुए उसे वार्षगण्यकृत कहा है।[1] म० म० पण्डित गोपीनाथ कविराज की धारणा है कि वाचस्पति मिश्र को षष्टितन्त्र उपलब्ध नहीं था।[2] किन्तु महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा के अनुसार वाचस्पति मिश्र षष्टितन्त्र को अच्छी तरह जानते थे और उसके कर्ता पंचशिख महाभारत में उल्लिखित पंचशिख से सर्वथा भिन्न थे। क्योंकि दोनों के दार्शनिक विचारों में पर्याप्त अन्तर है।[3]

४. विन्ध्यवास या विन्ध्यवासी

डा० तककुस ने अपने एक निबन्ध में यह सिद्ध करने का बहुत प्रयास किया है कि सांख्यकारिका के कर्ता ईश्वरकृष्ण और कुमारिलभट्ट के श्लोकवार्तिक में उल्लिखित विन्ध्यवास या विन्ध्यवासी एक ही थे।[4] कुमारिलभट्ट ने श्लोकवार्तिक में एक श्लोक उद्धृत किया है जिसका अभिप्राय यह है कि विन्ध्यवासी दूसरे जन्म में शरीर की कामना नहीं करते। किन्तु उसके अस्तित्व में कोई प्रमाण ज्ञान नहीं होता।[5] यद्यपि इस श्लोक में विन्ध्यवासी ही ईश्वरकृष्ण थे ऐसा नहीं बताया गया है किन्तु उनके द्वारा प्रतिपादित मोक्ष के सिद्धान्त का इसमें निरूपण होने से ही यहाँ 'विन्ध्यवासी' शब्द से ईश्वरकृष्ण का ग्रहण कर लिया गया है। किन्तु वस्तुस्थिति इससे कुछ भिन्न ही है। गोपीनाथ कविराज प्रभृति विद्वानों ने इन दोनों के एक होने के उक्त कथन का खण्डन किया है। क्योंकि जैसाकि माठरवृत्ति के चीनी अनुवाद से प्रमाणित होता है कि यदि माठर कुषाण वंशी राजा कनिष्क के समय में ईसा की प्रथम शताब्दी में हुए थे तो सांख्य कारिकाकार का समय उनसे कुछ पूर्व ही मानना होगा। किन्तु योगसूत्र पर भोज के राजमार्तण्ड,[6] मनुसंहिता पर मेधातिथिभाष्य[7] तथा स्याद्वादमञ्जरी एवं सर्वदर्शनसंग्रह के उल्लेखों से विन्ध्यवासी

---

१. अत्रैव षष्टितन्त्रशास्त्रस्यानुशिष्टिः। मायेवतु माया। सुतुच्छकं विनाशि। योगभाष्य ४।१३ पर तत्त्ववैशारदी। २. जयमङ्गला की भूमिका पृ० ५,६

३. बाल० पृ० २२६ ;

४. J. R. A. S. 1205 Page 47-52

५. अन्तराभवदेहो हि नेष्यते विन्ध्यवासिना।
तदस्तित्वे प्रमाणं हि न किञ्चिदवगम्यते।। श्लोकवार्तिक, पृ० ७०४

६. सत्त्वतप्यत्वमेव पुरुषतप्यत्वम्। याज्ञ० स्मृ० ४।२३

७. सांख्या हि के चिन्नान्तराभवमिच्छन्ति विन्ध्यवासप्रभृतयः। मनुस्मृति, १।२५ पर भाष्य।

इतने प्राचीन नहीं प्रतीत होते ।

त्रिकाण्डशेष, हैमकोश एवं संयमिनाममाला नामक ग्रंथों के उद्धरणों के आधार पर माठरवृत्ति की भूमिका में तनुमुखराम ने विन्ध्यवासी और व्याडि को एक बताया है । व्याडि प्रसिद्ध वैयाकरण वर्ष के शिष्य एवं पाणिनि के सहपाठी थे जो नन्दों के समय में हुए थे । कथासरित्सागर में व्याडि का जीवन वृत्त पर्याप्त विस्तार से दिया गया है । जिसके अनुसार ये नन्दों के मंत्री भी थे । महाभाष्यकार पतञ्जलि ने अपने भाष्य में इनका उल्लेख बड़े गौरव से किया है तथा इन्हें 'संग्रह' नामक ग्रंथ का कर्ता बताया है जिसे कैय्यट ने लक्षश्लोकात्मक कहा है । माठरवृत्ति की भूमिका में उन्हें पाणिनिसूत्रों की संग्रह नामक टीका के कर्ता तथा किसी कोश के रचयिता एवं पतञ्जलि के भी पूर्ववर्ती सांख्य-योगाचार्य कहा है ।[1] इसके आधार पर यही कहा जा सकता है कि विन्ध्यवासी अर्थात् व्याडि चतुर्थ शताब्दी ईसा पूर्व हुए थे । चीनी परम्परा के अनुसार विन्ध्यवासी ने 'हिरण्यसप्तति' नामक सांख्यग्रंथ की रचना की । डा० बेलवल्कर के अनुसार 'हिरण्यसप्तति' सांख्यकारिका की ही एक टीका है । किन्तु पण्डित गोपीनाथ कविराज का कहना है कि जैनों के अनुयोग-द्वार-सूत्र में ब्राह्मणों के कुछ ग्रंथों की सूची सुरक्षित है उसमें कनकसत्तरि (कनकसप्तति) भी एक है । उनके अनुसार वही 'स्वर्णसप्तति' या हिरण्यसप्तति है । इसको चीनी परम्परा सांख्यसप्तति के नाम से जानती है ।[2]

डा० हरदत्त शर्मा ने महामहोपाध्याय गङ्गानाथ झा कृत सांख्यतत्त्व-कौमुदी के अनुवाद की भूमिका में इसे स्वीकार नहीं किया है । इनके अनुसार 'कनकसत्तरि' के आधार पर विन्ध्यवास और ईश्वरकृष्ण को एक कहना सर्वथा अनुपयुक्त है । और यदि व्याडि ही विन्ध्यवास के रूप में हिरण्यसप्तति के कर्ता हैं तो वह निश्चित ही ईश्वरकृष्ण से भिन्न हैं अन्यथा ईश्वरकृष्ण का समय चतुर्थ शताब्दी ईसापूर्व के पहले ले जाना होगा । इसलिए जैसा कि कीथ ने

---

१. स च भगवतो वर्षस्य शिष्यो नन्दसमकालीनः पाणिनिसूत्राणां संग्रहाख्यटीकायाः कस्यचित्कोशस्य च कर्ता, दाक्षायणेः पतञ्जलेरपि पुरोगामी सांख्य-योगाचार्यश्च । माठरवृत्ति भूमिका पृ० ३

२. जयमङ्गला की भूमिका पृ० ७

कहा है, यही मानना युक्तियुक्त है कि एक से अधिक विन्ध्यवासी हुए हैं। सांख्य के विन्ध्यवासी वैय्याकरण व्यांडि एवं हिरण्यसप्तति के कर्ता से सर्वथा भिन्न एवं स्वतन्त्र हैं।

५. वार्षगण्य

सांख्य के अन्य शास्त्रकारों की भांति ही वार्षगण्य के नाम से भी हम सर्वथा अपरिचित नहीं हैं। किन्तु इनके व्यक्तित्व का स्पष्ट रूप अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है। इनके द्वारा लिखित कोई ग्रंथ न तो उपलब्ध है, न किसी ने उसका उल्लेख ही किया है। इनके नाम से कुछ उद्धरण यत्र तत्र अवश्य उपलब्ध होते हैं। योगसूत्र के व्यासभाष्य में ऐसे दो वाक्य उद्धृत हैं।

१. मूर्तिव्यवधिजातिभेदाभावान्नास्ति मूलपृथक्त्वमिति वार्षगण्यः।[1]

२. गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्॥[2]

वाचस्पति मिश्र ने द्वितीय उद्धरण को षष्टितन्त्र का बताया है। किन्तु ब्रह्मसूत्र की भामती टीका में उन्होंने इसी श्लोक को यह कहते हुए उद्धृत किया है कि योगशास्त्र के निरूपण कर्ता भगवान् वार्षगण्य ने कहा है।[3] इनके अतिरिक्त सांख्यकारिका की तत्त्वकौमुदी व्याख्या में भी पञ्चपर्वा अविद्या के प्रवक्ता के रूप में वार्षगण्य का नाम उल्लिखित है।[4] कीथ ने सांख्यकारिका (१७) के गौडपादभाष्य तथा माठरवृत्ति में उपलभ्यमान उद्धरण 'पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते' को वार्षगण्य का बताया है।

इन्हीं सब उद्धरणों एवं अनेकशः उल्लेखों के आधार पर वार्षगण्य को को भी षष्टितन्त्र का कर्ता कहा गया है। जिसका विवेचन षष्टितन्त्र के निरूपण के अवसर पर विस्तारपूर्वक किया जायेगा। प्रो० हिरियन्ना ने

---

१. योगभाष्य ३।५३

२. वही ४।१३

३. अतएव योगशास्त्रं व्युत्पादयिताऽऽह स्म भगवान् वार्षगण्यः।
ब्रह्मसूत्र शां० भा० २।१।३ पर भामती

४. पञ्चपर्वाऽविद्या इत्याह स्म भगवान वार्षगण्यः। सांख्य का० ४७ पर तत्त्व कौमुदी।

'ओरियन्टल रिसर्च मद्रास' नामक पत्रिका में 'षष्टितन्त्र एवं वार्षगण्य' नामक शीर्षक से एक निबन्ध लिखा है।[1]

६. जैगीषव्य

प्रो० कीथ ने कूर्म पुराण का० उल्लेख करते हुए सांख्य के प्रवक्ता जैगीषव्य का नाम दिया है और उन्हें पञ्चशिख का सहपाठी कहा गया है। वाचस्पति मिश्र ने भी अपनी न्यायवार्तिक की 'तात्पर्यटीका' में इन्हें 'धारणाशास्त्र' का कर्ता बताया है।[2] किन्तु बुद्धचरित में अराडकलाम ने जनक और पराशर के साथ जैगीषव्य का नाम भी उन लोगों में परिगणित किया है जिनको सांख्य के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति हुई है। जयमङ्गला की भूमिका की टिप्पणी में भी इस बात का विवरण उपलब्ध होता है। महाभारत के शान्तिपर्व में जनक को भिक्षु पञ्चशिख से उनके शिष्य होने का आग्रह करते हुए पाया जाता है जो पराशरगोत्रीय थे।[3] वाचस्पतिमिश्र ने सांख्यतत्त्वकौमुदी में इनको अनेक जन्मों की घटनाओं के स्मरण कर्ता के रूप में उल्लिखित किया है।

७. वोढु

वोढु भी केवल नाम से ही प्रसिद्ध हैं। हमें न तो उनकी कोई पुस्तक उपलब्ध है और न कोई उद्धरण ही। ऋषि तर्पण में आसुरि के बाद तथा पञ्चशिख के पहले वोढु का नाम पाया जाता है। वेबर के अनुसार बुद्ध के ही नाम का यह ब्राह्मणीकरण है। कीथ ने वोढु का नाम आसुरि से भी पहले रखते हुए इन्हें अथर्ववेद के एक परिशिष्ट का कर्ता बताया है।[4]

८. देवल

महाभारत के शान्तिपर्व में नारद और असितदेवल का विस्तृत सम्वाद उपलब्ध होता है जिसमें पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश के अतिरिक्त भाव, अभाव एवं काल नामक तत्त्वों को मिलाकर आठ प्रकार के भूतों का उल्लेख है। इनमें से काल ही भाव को प्रेरित कर उससे पाँचों महाभूतों की उत्पत्ति कराता है। इन्द्रियाँ स्वयं ज्ञान की अधिष्ठात्री नहीं हैं अपितु वे क्षेत्रज्ञ

---

१. जर्नल ऑफ ओरियन्टल रिसर्च मद्रास, अप्रिल-जून १९२९ पृ० १०७-११२
२. न्यायसूत्र ३।२।५४
३. महाभारत १२ ; ३२१।२४
४. Samkhya System पृ० ५१

पुरुष को प्राप्त विषय की सूचना देती हैं। इन्द्रियों के ऊपर चित्त तथा चित्त के ऊपर मन, मन के ऊपर बुद्धि तथा इन सबके ऊपर पुरुष है। पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के साथ चित्त, मन और बुद्धि को मिलाकर आठ प्रकार के करण होते हैं। वहाँ कहा गया है कि सांख्यज्ञान का विधान पुण्य और पाप के विनाश के लिए होता है। उसका विनाश हो जाने पर प्रमाता ब्रह्मभाव को प्राप्त कर परागति का अनुभव करता है[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि नारद और देवल का सम्वाद सांख्य की आचार-संहिता का विधान करता है। याज्ञवल्क्यस्मृति की टीका 'अपरार्क' में देवल के जो उद्धरण उपलब्ध होते हैं वे तत्त्वसमाससूत्रों से बहुत अधिक मिलते जुलते हैं।

अपने धर्मशास्त्र के इतिहास में महामहोपाध्याय काणे ने कहा है कि बृहस्पति और कात्यायन के समान देवल भी स्मृतिकारों के समय के हैं जिनको ईसा की चौथी से छठवीं शताब्दी के बीच का माना गया है। श्री उदयवीर शास्त्री ने महाभारत के विकसित रूप का समय द्वितीय शताब्दी ई० पू० माना है किन्तु आधुनिक, पाश्चात्य एवं पौरस्त्य विद्वान् महाभारत के विकास का अन्तिम समय चतुर्थ शताब्दी ई० पू० मानते हैं। देवल ईश्वरकृष्ण से बहुत अधिक प्राचीन नहीं प्रतीत होते। माठर वृत्ति में सांख्याचार्यों का जो नामोल्लेख मिलता है उसमें देवल अन्तिम हैं। उसके बाद ही ईश्वरकृष्ण आते हैं। यद्यपि देवल नाम के साथ प्रभृति शब्द का प्रयोग इस बात का सूचक है कि देवल और ईश्वरकृष्ण में बहुत अन्तर हैं। किन्तु माठरवृत्ति में उपलभ्यमान परम्पराप्राप्त यह नामावली अन्य प्रमाणों से पुष्ट नहीं होती। इससे केवल इतना ही ज्ञात होता है कि देवल सांख्य के एक आचार्य थे जो ईश्वरकृष्ण के पहिले हो चुके थे।[2]

९. सनकादि

सांख्य की प्रथम कारिका के भाष्य में गौडपाद ने डेढ़ श्लोकों में ब्रह्मा

---

१. महाभारत १२।२७४।३९

२. कपिलादासुरिणा प्राप्तमिदं ज्ञानं ततः पञ्चशिखेन तस्माद्भार्गवोलूक-वाल्मीकि-हारीत-देवलप्रभृतीनागतम्। ततस्तेभ्य ईश्वरकृष्णेन प्राप्तम्।
माठरवृत्ति, सां० का० ७१

के पुत्रों के नामों का उल्लेख किया है[1] जो निम्नलिखित है सनक, सनन्दन, सनातन, आसुरि, कपिल, वोढु, तथा पञ्चशिख। किन्तु महाभारत के शान्तिपर्व में परिगणित नामों की सूची कुछ भिन्न ही है। सन, सनक, सुजात, सनकसनन्दन, सनत्कुमार, कपिल और सनातन। किन्तु कपिल को छोड़कर महाभारतप्रोक्त इन शेष नामों के विषय में कोई अन्य उल्लेख नहीं मिलता। इनमें से केवल सनन्दन का आचार्य के रूप में सांख्य-सूत्र में उल्लेख पाया जाता है।[2] माठरवृत्ति में उल्लिखित अन्य नामों में पराशर भी है किन्तु उनके नाम से कोई ग्रंथ या कृति सांख्य पर उपलब्ध नहीं है। सम्भवतः पञ्चशिख के कुल में उत्पन्न होने से इन्हें सांख्य शास्त्र के प्राध्यापकों में परिगणित किया गया हो। शेष में से उलूक सम्भवतः कौशिक हैं। सांख्यकारिका के चीनी अनुवाद में ईश्वरकृष्ण को कौशिक गोत्र का बताय गया है।[3] वाल्मीकि और शुक के सांख्यप्रवक्ता होने के विषय में कहीं कोई भी अन्य उल्लेख या प्रमाण प्राप्त नहीं होता जिसके आधार पर माठरवृत्ति के कथन की पुष्टि हो सके।

संक्षेप में सांख्यशास्त्र के प्राचीन या आर्ष चिन्तकों का यही इतिहास है। ईश्वरकृष्ण एवं उनके टीकाकारों के विषय में आगे विस्तार पूर्वक विचार होगा।

---

१. सनकश्च सनन्दश्च तृतीयश्च सनातनः।
आसुरिः कपिलश्चैव वोढुः पञ्चशिखस्तथा॥
इत्येते ब्रह्मणः पुत्राः सप्त प्रोक्ता महर्षयः॥ गौडपादभाष्य, सां० का० १

२. लिङ्गशरीरनिमित्तक इति सनन्दनाचार्यः। सां० सू० ६।६९

३. The Chinese Samkhya Karika
gives कौशिक as the family name of the author.
जयमङ्गला की भूमिका, पृ० २

५ सांख्य-साहित्य

आश्चर्य की बात है कि दर्शन की जिस विधा ने अन्य सभी को सर्वाधिक रूप से प्रभावित किया है उसका अपना साहित्य बहुत विशाल नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि दुर्भाग्य वश सांख्य-दर्शन के प्राचीनतम ग्रंथ काल के गाल में समाते गये और जो कुछ शेष रहे हैं उनकी संख्या बहुत थोड़ी है। यहाँ पहले उन मौलिक कृतियों का उल्लेख किया जायगा जो अब उपलब्ध नहीं हैं अनन्तर जो ग्रथ उपलब्ध हैं उनका विवरण किञ्चित् विस्तार से प्रस्तुत होगा।

(क) अनुपलब्ध

१. सांख्यसूत्र

जिसप्रकार आस्तिक दर्शनों की शेष अन्य पांच विधाओं की रचना किसी न किसी ऋषि ने सूत्रात्मक ग्रंथ के रूप में की, उसी प्रकार सांख्य दर्शन के आद्य प्रणेता कपिल भी ऋषि ही थे जिन्होंने सूत्रों में सांख्य-सिद्धान्त का निरूपण किया था, जिसका उल्लेख सांख्यकारिका एवं अन्यान्य अनेक ग्रंथों में हुआ है। पर दुर्भाग्यवश वह कृति आज उपलब्ध नहीं है। सांख्यसूत्र के नाम से जो कृति आज हमें उपलब्ध है वह निश्चित रूप कपिल की रचना नहीं है। एक दूसरी कृति तत्त्वसमाससूत्र भी बहुत बाद की है। इनके सम्बन्ध में आगे उपलब्ध साहित्य के प्रसङ्ग में विस्तार पूर्वक विवेचन किया जायेगा। यहाँ हमें इतना ही कहना है कि महर्षि कपिल कृत सांख्यसूत्र बहुत समय से उपलब्ध नहीं है। यही कारण है कि सांख्य या अन्य किसी भी दर्शन के ग्रंथों में वे उद्धृत नहीं किये जा सके। कपिल रचित साँख्यसूत्र कितने थे तथा कितने अध्यायों एवं पादों में उनका विवेचन हुआ था आज कुछ भी नहीं कहा जा सकता। न अब आशा ही की जा सकती है कि वह कभी मिल सकेगा। सांख्यसूत्र और तत्त्वसमाससूत्र के कपिलकृत न होने की युक्तियों का उपन्यास इनके विवेचन के अवसर पर किया जायेगा।

२. षष्टितन्त्र

सांख्यकारिका के उल्लेख से ज्ञात होता है कि सांख्य शास्त्र का आकर-

ग्रंथ 'षष्टितन्त्र' के नाम से ही विख्यात था। इसके अनेक उद्धरण जयमङ्गला टीका में उपलब्ध होते हैं। हिरियन्ना ने इनका सम्यक् विवेचन अपने 'षष्टि-तन्त्र और वार्षगण्य' नामक निबन्ध में किया है।[1] इनके अनुसार षष्टितन्त्र पञ्चशिख की रचना थी। इसके साठ भागों में सांख्य के साठ तत्त्वों का विवेचन विस्तार पूर्वक किया गया था। सांख्यकारिका ७० के 'आसुरिरपि पञ्चशिखाय, तेन बहुधा कृतं तन्त्रम्।' की व्याख्या में जयमंगलाकार ने इस तथ्य का स्पष्टतया प्रतिपादन किया है कि पञ्चशिख मुनि ने षष्टितंत्र की रचना की थी।[2] षष्टितंत्र के अनेक उद्धरण योगभाष्य में उपलब्ध होते हैं। वहाँ एक श्लोक उद्धृत है—

'गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथं यातं तन्मायेव सुतुच्छकम्॥

वाचस्पति मिश्र ने अपनी टीका तत्त्ववैशारदी में बताया है कि यह श्लोक षष्टितंत्र का है। लेकिन उन्होंने ही ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य की अपनी 'भामती' नामक टीका में इसे वार्षगण्य कृत कहा है और इसे योगशास्त्र का ग्रन्थ माना है।[3]

इनके अतिरिक्त षष्टितंत्र का एक तीसरा उल्लेख भास्कर का है जिसमें उन्होंने षष्टितंत्र को महर्षि कपिल की कृति कहा है।[4] आचार्य शंकर ने भी ब्रह्मसूत्र के भाष्य में परमर्षि प्रणीत 'तन्त्र' नामक स्मृति का उल्लेख किया है जो सम्भवत: षष्टितन्त्र के लिये ही है।[5]

इसप्रकार इस सम्बन्ध में निश्चय पूर्वक कह सकना अत्यन्त कठिन है कि षष्टितंत्र किस की रचना है। क्योंकि जिन टीकाकारों ने ये उल्लेख किये हैं उनमें से किसी को अप्रमाणिक नहीं कहा जा सकता। न ही उनका यह

---

१. J. O. R. April-June 1929. pp. 107-112.
२. तेन इति। पञ्चशिखेन मुनिना बहुधाकृतं तन्त्रम्। षष्टितंत्राख्यं षष्टिखण्डं कृतमिति। तत्रैव षष्टिरर्था व्याख्याता॥ जयमंगला।
३. अतएव योगशास्त्रं व्युत्पादयिताह स्म भगवान् वार्षगण्यः 'गुणानां सुतुच्छकम्।' भामती, ब्रह्मसूत्र २।१।३
४. कपिलमहर्षिप्रणीतषष्टितंत्राख्यस्मृतेः। ब्र० सू० २।१।१
५. स्मृतिश्च तन्त्राख्या परमर्षिप्रणीता। ब्र० सू० शां० भा० २।१।१

प्रमाद हो सकता है। फिर भी सांख्यकारिका के 'तेन बहुधा कृत तन्त्रम्' उल्लेख एवं जयमङ्गलाकार के द्वारा पुनः पुनः उसे पञ्चशिख कृत कहने से सामान्य रूप से विद्वान् 'षष्टितन्त्र' को पञ्चशिख की ही कृति मानने लगे हैं। इसके अतिरिक्त बौद्ध ग्रन्थ अभिधर्म में वार्षगण्य के नाम से जिस सिद्धान्त का निरूपण किया गया है वह सत्कार्यवाद मात्र है।

२. राजवार्तिक

सांख्यकारिका ७२ पर वाचस्पति मिश्र की टीका तत्त्वकौमुदी में 'राजवार्तिक' के नाम से तीन श्लोक उद्धृत हैं जिनमें सांख्य के विवेच्य साठ तत्त्वों का नामतः परिगणन किया गया है। प्रश्न यह है कि 'राजवार्तिक' स्वतन्त्र रूप से सांख्य का कोई ग्रन्थ था या किसी प्राचीन ग्रन्थ की टीका। तथा उसका कर्ता कौन था? गार्बे का विचार है कि इसके कर्ता विश्रुत साहित्यकार राजा भोज ही हैं। दासगुप्त की राय में यह सांख्यकारिका की एक टीका थी जो अब उपलब्ध नहीं है। इन तीन श्लोकों के अतिरिक्त राजवार्तिक का अन्य कोई भी अंश कहीं उद्धृत नहीं है। इनमें परिगणित सांख्यीय तत्त्वों के नाम एवं क्रम प्रायः वही हैं जो अहिर्बुध्न्य संहिता में उपलब्ध होते हैं। जयमंगला, माठरवृत्ति सांख्य-तत्त्व-विवेक, तत्त्व-याथार्थ्यदीपिका एवं तत्त्वसमास-सूत्रों में भी थोडे से परिवर्तन के साथ इन्हीं तत्त्वों का परिगणन उपलब्ध होता है।

(ख) उपलब्ध

यह पहिले ही कहा जा चुका है कि सांख्यदर्शन का साहित्य बहुत विशाल नहीं है, उसमें उपलब्ध तो और भी स्वल्प है। जो भी ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं उनमें सांख्यकारिका, सांख्यसूत्र, तत्त्वसमाससूत्र एवं सांख्यसार नामक मौलिक ग्रन्थ तथा इन पर कृत टीकायें और टिप्पणियाँ हैं। चूंकि इन सब में प्राचीनतम सांख्यकारिका को ही माना जाता है अतः सबसे पहले हम उसी का विवरण प्रस्तुत करते है।

१. सांख्यकारिका

सांख्य दर्शन के इतिहास में 'सांख्यकारिका' का महत्त्व कई प्रकार से है। अब तक उपलब्ध ग्रन्थों में प्राचीनतम तो यह है ही इसके साथ ही यह शास्त्रीयसांख्य का एक प्रतिनिधि ग्रन्थ है। प्रतिनिधि ग्रन्थ कहने का यहाँ

विशेष अभिप्राय है। आरम्भ से ही सांख्य-सिद्धान्त एवं उसके विषय विवेचन की प्रणाली इतने लोकप्रिय हो गये थे कि क्या शैव, क्या वेदान्त यहां तक कि जैन एवं बौद्ध दार्शनिकों ने भी अपने सिद्धान्तों के विवेचन में उसका उपयोग किया। इतना ही नहीं धर्मशास्त्र, आयुर्वेद तथा कामशास्त्र पर भी इसका प्रभाव परिलक्षित होता है। परिणामस्वरूप सांख्य का विवेचन या ज्ञान किसी भी ग्रन्थ या सिद्धान्त का एक आवश्यक अङ्ग हो गया। इसकी पुष्टि हमें पुराणों एवं महाभारत से भी होती है जिनमें सांख्य सिद्धान्तों का विस्तार-पूर्वक विवेचन उपलब्ध होता है। इसप्रकार की लोकप्रियता का जो परिणाम होता है वही सांख्य के साथ भी हुआ और सांख्य के मूलभूत सिद्धान्तों की ठीक ठीक जानकारी रख सकना संभव नहीं रह गया।

ऐसी स्थिति में सांख्य के लिए जीवनमरण का प्रश्न उपस्थित हो गया। ईश्वर कृष्ण ने सांख्यकारिका लिखकर उसे मरने से बचा लिया। इसी लिए इसका महत्त्व इतना अधिक है।

मूलतः सांख्य जो भी रहा हो आगे चलकर उस का निरूपण दो शाखाओं में उपलब्ध होता है सेश्वर और निरीश्वर। महाभारत और पुराण सांख्य सिद्धान्तों में ईश्वर का भी निरूपण अनिवार्य रूप से करते हैं जबकि सांख्यकारिका सांख्य के उन सिद्धान्तों का निरूपण करती है जिनमें ईश्वर के लिये कोई स्थान नहीं है। कपिलकृत सांख्यसूत्र एवं षष्टितंत्र नामक ग्रंथों के लुप्त हो जाने पर सांख्यकारिका ही एक ऐसा प्रामाणिक ग्रन्थ शेष रहता है जिसके आधार पर शास्त्रीय सांख्य का आज का भवन खड़ा है। शंकर से लेकर माधव प्रभृति सभी आचार्यों ने अपनी कृतियों में सांख्य-सिद्धान्त के निरूपण के लिये मात्र सांख्यकारिका को ही उद्धृत किया है। षड्दर्शन की सभी विधाओं के सूत्र एवं भाष्य ग्रन्थ के प्रसिद्ध टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने सांख्यकारिका पर भी एक टीका तत्त्वकौमुदी लिखी है। सांख्यकारिका के चीनी एवं तिब्बती भाषाओं में भी अनुवाद इस बात के प्रमाण हैं कि बौद्ध जगत् में भी सांख्य दर्शन के नाम पर सांख्यकारिका को ही उसके प्रतिनिधित्व के गौरव से मण्डित किया गया है। इस पर प्राप्त इतनी अधिक एवं महत्त्वपूर्ण व्यक्तिओं की टीकायें भी इसकी महत्ता का विशेषरूप से प्रतिपादन करती हैं।

(क) कर्ता एवं काल

सांख्यकारिका के कर्ता का नाम ईश्वरकृष्ण है जो ७१ वीं कारिका

में स्पष्ट रूप से उल्लिखित भी है ।[1] किन्तु यह ईश्वर कृष्ण कौन हैं, तथा कब और कहाँ हुए ? इसके विषय में निश्चित रूप से कुछ भी ज्ञात नहीं है । डा० तंककुसु ने अपने एक निबन्ध में इन्हें विन्धवास या विन्ध्यवासी से अभिन्न सिद्ध करने का प्रयास किया है ।[2] इनके अनुसार ईश्वर कृष्ण ईसा की पञ्चम शताब्दी में हुए । बौद्ध परम्परा के अनुसार परमार्थ ने षष्ठ शताब्दी ईस्वी के मध्य (५५७-५६९) सांख्य की कारिकाओं का चीनी भाषा में अनुवाद किया जो 'हिरण्य-सप्तति' के नाम से विख्यात है । परमार्थ के अनुसार वसुबन्धु के गुरु बुद्धमित्र का विन्ध्यवास के साथ शास्त्रार्थ हुआ था तथा विन्ध्यवास की मृत्यु वसुबन्धु से पहले हो गई थी । इसप्रकार विन्ध्यवास और वसुबन्धु समसमायिक थे । एक दूसरी परम्परा के अनुसार विन्धवास गुप्तवंशी राजा बालादित्य के समसामयिक तथा वार्षगण्य के शिष्य थे । एक तीसरी परम्परा हमें बताती है कि वार्षगण्य के शिष्य ने हिरण्यसप्तति की रचना की । किन्तु ये सभी परम्परायें ऐसी हैं जिन्हें ऐतिहासिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता । अन्यथा हिरण्यसप्तति के कर्ता विन्धवास और सांख्यकारिका के कर्ता ईश्वरकृष्ण एक ही मान लिये जायें तो एक ऐतिहासिक घपला हो जायगा । इन परम्पराओं से एक ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ईश्वर कृष्ण वसुवन्धु से पहले के हैं वसुवन्धु का समय लग भग ३०० ई० है । एस० एन० दास गुप्त ने भी अपने भारतीय दर्शन के इतिहास ग्रन्थ में विन्ध्यवास और ईश्वर कृष्ण को भिन्न-भिन्न व्यक्ति माना है ।

कीथ का कहना है कि ईश्वर कृष्ण का समय ३०० ई० के बाद नहीं लेजाया जा सकता ।[3] कालीपद भट्टाचार्य ने अपने एक निबन्ध में बताया है कि ईश्वर कृष्ण ईसा की प्रथम शताब्दी में हुए थे ।[4] महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज का कहना है कि ईश्वर कृष्ण को इससे भी पूर्व का होना चाहिये । क्योंकि प्रसिद्ध जैन ग्रन्थ अनुयोगद्वारसूत्र में वैदिक परम्परा के ग्रंथों की जो सूची दी हुई है उसमें 'कनकसत्तरि' का नाम भी उल्लिखित है जो

---

१. शिष्यपरम्परया आगतमीश्वरकृष्णेन चैतदार्याभिः ।
   ...सप्तमार्यमतिना सम्यग्विज्ञाय सिद्धान्तम् ।। ७१

२. जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसाइटी ; १९०५ ; पृ० ४७-५२

३. Keeth, Sankhya System, p, 43

४. इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली; सितम्बर १९३२. पृ० ५१९-५२०

सांख्यकारिका के चीनी नाम हिरण्यसप्तति का ही उल्लेख प्रतीत होता है। क्योंकि इसी प्रसङ्ग में कविलियं, सट्टितन्त तथा माढर नाम भी उल्लिखित हैं। जैसा कि निर्धारण किया गया है यदि अनुयोग-द्वार-सूत्र की रचना प्रथम शताब्दी ईस्वी में हुई है तो इसका कोई कारण नहीं कि ईश्वर कृष्ण को ईस्वीपूर्व का न माना जाय। अर्थात् उन्हें कम से कम प्रथम शताब्दी ईसापूर्व का ही माना जाना चाहिए।[1] डा० त्र्यम्बक गोविन्द माईणकर ने सांख्यकारिका के आभ्यन्तर एवं वाह्य साक्ष्य पर इसके कर्ता ईश्वर कृष्ण और कविकुल गुरु कालिदास को एक ही व्यक्ति माना है। उनका कहना है कि विन्ध्यवास ही ईश्वर कृष्ण हैं जो वार्षगण्य के शिष्य थे तथा जिन्होंने बौद्धविद्वान् वसुबन्धु की परमार्थसप्तति के विरोध में सांख्यसप्तति की रचना की। वह इतनी उत्कृष्ट थी कि समसामयिक आश्रयदाता गुप्तसम्राट समुद्रगुप्त ने सुवर्ण से उसे पुरस्कृत किया। अतएव इसका नाम सुवर्ण-सप्तति या हिरण्यसप्तति पड़ गया जो आज भी चीनी परम्परा में अक्षुण्ण है।[2] डा० माईणकर ने इस विषय पर पर्याप्त अनुसंधान किया है और उत्तररामचति के टीकाकार घनश्याम तथा राजशेखर के उल्लेखों के आधार पर सिद्ध किया है कि ईश्वर कृष्ण, भर्तृमीढ और कालिदास एक ही व्यक्ति के भिन्न नाम हैं। ईश्वरकृष्ण आरम्भ में सांख्य-सिद्धान्त के समर्थक अनीश्वरवादी थे अनन्तर वही कवि के रूप में परमशैव हो गये। विन्ध्यवास शब्द उनके जन्मस्थान के नाम पर कृत प्रतीत होता है। सम्भवत: ईश्वरकृष्ण उनका घर का नाम तथा कालिदास और भर्तृमीढ उनकी उपाधियां थीं। ये समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय दोनों के समय में विद्यमान थे।

डा० माईणकर की प्रस्थापना में अन्तर्विरोध कहीं नहीं है और विद्वद्वर्ग ने इसका समर्थन नहीं तो विरोध भी नहीं किया है। इसके स्वीकृत हो जाने पर ईश्वर कृष्ण के साथ ही कालदास और भर्तृमीढ या भर्तृमेण्ढ की समय आदि की समस्या का भी समाधान हो जाता है।

(ख) आकार प्रकार

ईश्वरकृष्ण की कृति सांख्यकारिका में कुल ७२ कारिकाएं हैं जिनमें

---

१. जयमंगला की भूमिका पृ० ७

२. Dr. T. G. Mainkar ; Kalidasa His Art and Thaught.

से अन्तिम तीन कारिकाओं में साख्यशास्त्र की आचार्य परम्परा का उल्लेख हुआ है। चीनी परम्परा में इसका 'सांख्यसप्तति' या 'सुवर्णसप्तति' नाम इस बात का सूचक है कि कारिकाओं की संख्या सत्तर है। गौड़पाद का भाष्य ६९ कारिकाओं पर ही उपलब्ध होता है। भाष्य का अन्त एक ऐसे श्लोक से होता है जिसमें कहा है कि कपिल मुनि ने संसार से विमुक्ति के लिए जिस सांख्य का प्रवचन किया उसका सार इन सत्तर आर्याओं में दिया गया है, तथा जिन पर गौड़पाद ने भाष्य किया है।[1] ६९वीं कारिका के भाष्य में यह कहना कि सत्तर कारिकाओं पर यह भाष्य किया गया है इस बात का प्रमाण है कि इसके पूर्व की कोई एक कारिका लुप्त हो गई है। लोकमान्य तिलक ने उस लुप्त कारिका का अनुसंधान गौड़पाद के भाष्य के आधार पर ही किया है और उसे सम्प्रति उपलब्ध सांख्य की ६१वीं कारिका के अव्यवहित उत्तर में रखना ठीक समझा है। उनका कहना है कि ६१वीं कारिका पर कृत गौडपाद भाष्य एक नहीं दो कारिकाओं का है। क्योंकि उसमें बिना किसी प्रसंग के ही 'केचित् ईश्वरं कारणं ब्रुवते' लिखकर ईश्वर, काल एवं स्वभाव की कारणता का निरूपण एवं उसका निराकरण किया गया है और मात्र प्रकृति को ही जगत् का कारण बताया गया है जिसकी संङ्गति ६१वीं कारिका के मूल से नहीं लगती। अतएव गौडपाद के द्वारा ७० कारिकाओं पर भाष्य किये जाने की प्रतिज्ञा तथा ६१वीं कारिका पर ईश्वर, काल एवं स्वभाव की जगत् के प्रति कारणता का बिना किसी प्रसंग से ही निराकरण पाकर लोकमान्य ने एक नयी कारिका की सृष्टि करदी जो संभवतः ६२वीं कारिका रही होगी। कल्पित कारिका निम्नप्रकार है :—

कारणीश्वरममेके ब्रुवते कालं परे स्वभावं वा।
प्रजाः कथं निर्गुणतो व्यक्तः कालः स्वभावश्च ॥

सूर्यनारायण शास्त्री ने इस प्रकार की किसी कारिका के होने की संभावना का खंडन करते हुए कहा है कि गौडपाद एवं माठर दोनों ही ६१वीं कारिका की व्याख्या में ईश्वर, काल एवं स्वभाव की कारणता का पूर्वपक्ष

---

१. सांख्यं कपिलमुनिना प्रोक्तं संसारविमुक्तिकारणं हि।
यत्रैताः सप्ततिरार्या भाष्यं चात्र गौडपादकृतम् ॥ सांख्यकारिका ६९ पर गौडपाद भाष्य।

के रूप में विवेचन कर प्रकृति की कारणता के सिद्धांत से उसका निराकरण करते हुए पुनः ६१वीं कारिका के मूल 'न पुनर्दर्शन मुपैति पुरुषस्य' तथा सकुमारतरं की व्याख्या करते हैं। फिर भी यदि हम इस प्रकार की किसी कारिका के लुप्त हो जाने की संभावना करते हैं तो उसके लुप्त होने का समय भी ५०० ई० से पहले का ही मानना होगा। क्योंकि तिलक भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि परमार्थ की टीका गौडपाद और माठर की टीकाओं से अधिक के पूर्ण है। पर परमार्थ में ६१वी के बाद किसी भी ऐसी कारिका का पाठ नहीं हुआ है।[1] विषय की दृष्टि से भी ६१वीं के बाद जगत् के कारणत्व का पुनः प्रतिपादन करने लग जाना सर्वथा आप्रासंगिक लगता है। यह कहना भी कोई महत्त्व नहीं रखता कि सांख्य अनीश्वरवादी दर्शन है अतः सांख्यकारिका में कोई ऐसी कारिका अवश्य होनी चाहिए जो ईश्वर का साक्षात् खंडन करती हो। प्रसंग को देखते हुए ईश्वर-विषयक निरूपण का अवसर ५६वीं कारिका के पहिले ही संभव था ६१वीं के बाद नहीं। युक्ति-दीपिका में कारिका ५५ एवं ५६ की व्याख्या में जगत् के परम कारण परमाणु एव ईश्वर का विवेचन किया है।

इसके अतिरिक्त माठर वृत्ति में अन्त में एक और कारिका प्राप्त होती है जिसे ७३वीं संख्या दी है। तुलना करने पर इसका और ७१वीं कारिका का विषय प्रायः एक ही लगता है। अन्तर दूसरी पंक्ति में प्रयुक्त उपमा मात्र का है। चीनी पाठ में ६३वीं, ७२वां और ७३वीं कारिकायें उपलब्ध नहीं होती। इस प्रकार उसमें कुल ७० कारिकाओं का ही पाठ मिलता है जिनमें अन्तिम कारिका वर्तमान ७१वीं कारिका है। और इस प्रकार इसका सप्तति नाम सार्थक है। तककुसु का समर्थन करतें हुए तिलक ने भी चीनी पाठ में इस कारिका (६३) की अनुपलब्धि को एक त्रुटि ही माना है क्योंकि वह 'सांख्य सत्तरि' में तो मिलती ही है। उसपर गौडपाद का भाष्य भी उपलब्ध होता है जो संभवतः एक प्राचीनतम टीका है। इसलिये श्री सूर्यनारायण शास्त्री का यह निष्कर्ष सर्वथा उचित प्रतीत होता है कि सांख्य की लुप्त कारिका के अन्वेषण से 'प्रक्षिप्त' कारिका का अन्वेषण कम महत्त्व का नहीं होगा।

प्रचलित सांख्यकारिका की अन्तिम ७२वीं कारिका से ज्ञात होता

---

१. सूर्यनारायण शास्त्री, सांख्यकारिका तृ० सं० पृ० १०५

२. तस्मात् समासदृष्टं शास्त्रमिदं नार्थतः परिहीनम्।
तन्त्रस्य च बृहन्मूर्तेर्दर्पणसंक्रान्तमिव बिम्बम् ॥७३॥

है कि षष्टितन्त्र में सांख्यसिद्धांत का विवेचन बहुत विस्तारपूर्वक था। जिसमें दृष्टान्त के रूप में आख्यायिकायें भी उद्धृत थीं तथा पूर्वपक्ष के रूप में अन्य सिद्धान्तों का भी विवेचन किया गया था। सांख्यकारिका में विशुद्ध रूप से सांख्यसिद्धांत का ही विवेचन अत्यन्त संक्षिप्त रूप में किया गया है।[१] तिलक ने जिस कारिका का प्रक्षेप किया है उसमें पूर्वपक्ष के रूप में ईश्वर, काल एवं स्वभाव की कारणता के सिद्धांत का प्रतिपादन हुआ है जो सांख्यकारिका के ही उपर्युक्त विवरण से विप्रतिषिद्ध है। अतएव श्री सूर्यनारायण शास्त्री प्रभृति विद्वानों ने इसकी संभावना का निराकरण किया है। इस दृष्टि से विचार करने पर द्वितीय कारिका भी इसके अनुपयुक्त ही ठहरती है जिसमें मीमांसा के कर्मकांड को 'अविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः' कहकर 'तद्विपरीतः श्रेयान्' की उक्ति से उसका निराकरण किया गया है। पूर्वापर प्रसंग देखने पर भी इस कारिका की स्थिति अनिवार्य नहीं प्रतीत होती। फिर इसे ही क्यों न प्रक्षिप्त मानलिया जाय? इससे एक ओर जहां स्वयं ग्रंथकार की उक्ति 'पर वाद विवर्जिताः' का निर्वाह हो जाता है वहां दूसरी ओर सप्तति सांख्य की समस्या का भी समाधान हो जायेगा। यह तो हुआ प्रक्षिप्त कारिका का अनुसंधान। इसके विपरीत यदि लुप्त कारिका का ही अनुसंधान करना है तो वह कारिका जगत् की कारणता की उपपादिका न होकर पुरुष की अनेकता का निराकरण कर उसकी एकता की विधायक होनी चाहिए। क्योंकि जिसप्रकार पुरुष के ऊपर आरोपित बन्धन एवं मोक्ष का निराकरण स्वयं सांख्यकारिका में कर दिया गया है उसी प्रकार उसके ऊपर आरोपित अनेकता का भी निवारण होना चाहिए था। इसका विस्तृत विवेचन आगे सांख्यीय पुरुष के स्वरूप के विवेचन के अवसर पर किया जायेगा।

टीकायें और भाष्य

सांख्यकारिका की लोकप्रियता का प्रमाण उसपर उपलब्ध उसकी अनेक टीकायें और भाष्य हैं।[१] उनका संक्षिप्त विवरण यहां प्रस्तुत किया जाता है।

(१) सांख्यकारिका भाष्य—यह गौडपाद भाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। इसके कर्ता गौडपाद हैं जिन्हें शंकराचार्य के गुरु गोबिन्द पाद का भी गुरु

---

१. सप्तत्यां किल येऽर्थाः तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य।
आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि। सां० का० ७२।

माना जाता है। यह भाष्य किसी पूर्ववर्ती टीकाकार का संकेत नहीं करता अतः संभवतः यह सांख्यकारिका की प्राचीनतम टीका है। इसका समय ईसा की सप्तम शताब्दी है। यह टीका कई स्थानों से छपी है। डा० त्र्यम्बक गोविन्द माईणाकर ने इसका आंग्ल भाषा में अनुवाद किया ही जो ओरियंटल बुक एजेन्सी पूना से प्रकाशित है।

(२) माठरवृत्ति—माठराचार्य के नाम से सांख्यकारिका की एक विस्तृत टीका उपलब्ध होती है जिसे माठरवृत्ति कहते हैं। गौड़पाद भाष्य के साथ इसका अत्यधिक साम्य है। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि इसी का संक्षेप गौडपाद भाष्य है। इसके समय के विषय में निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। इसमें ७३ कारिकायें उल्लिखित हैं जिनपर टीका हुई है।

(३) जयमङ्गला :—शंकराचार्य के नाम से भी सांख्यकारिका की एक टीका उपलब्ध होती है जिसका नाम जयमंगला है। वाचस्पति मिश्र की टीका तत्त्व-कौमुदी में स्थल-स्थल पर जयमङ्गला का खंडन मिलता है अतः वह वाचस्पति से तो पूर्व की है ही। टीका का आरम्भ निम्नश्लोक से होता है :—

अभिगततत्त्वालोकं लोकोत्तरवादिनं प्रणम्य मुनिम्।
क्रियते सप्ततिकायाष्टीका जयमङ्गला नाम।

यह टीका पूरी ७२ कारिकाकाओं पर है जबकि इसे सप्ततिका की टीका कहा है। गौडपाद भाष्य से जयमंगला के पाठ कहीं-कहीं भिन्न हैं।

(४) सांख्यतत्त्वकौमुदी —सांख्यकारिका की टीकाओं में सबसे अधिक गंभीर एवं विद्वत्तापूर्ण टीका वाचस्पति मिश्र की है। जिसका नाम — सांख्य-तत्त्व-कौमुदी है। यह पर्याप्त लोकप्रिय है। वाचस्पति मिश्र मिथिला निवासी दर्शन के अति प्रतिभाशाली विद्वान् थे। सभी दर्शनो पर उनका अधिकार, समान था। सभी आस्तिक या वैदिक दर्शनों पर इनकी कृतियां उपलब्ध हैं। जिनमें वेदान्त दर्शन पर शांकर भाष्य की टीका 'भामती' का स्थान सर्वोपरि है। इनका समय ईसा की अष्टम शताब्दीं का अन्तिम चरण (७८३ ई० के लगभग) है।

सांख्य-तत्त्व-कौमुदी सांख्यकारिका की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण टीका है जो सांख्य के सरल एवं स्थूल प्रतीत होनेवाले सिद्धान्तों की सारगर्भित तथा सूक्ष्मदर्शिनी व्याख्या है। इसपर उपलब्ध अनेक प्रटीकायें इसकी महत्ता के

प्रतिपादक है। इसकी यद्यपि अनेक प्रटीकायें हैं परन्तु निर्णयसागर से प्रकाशित पं० श्री शिवनारायण कृत सारबोधिनी टीका अत्यन्त ही महनीय एवं परमविशद है। इसके अनुवादों में ओरियण्टल बुक एजेन्सी पूना से प्रकाशित महामहोपाध्याय गंगानाथ झाकृत अंग्रेजी तथा श्री आद्याप्रसाद मिश्र कृत हिन्दी के अनुवाद सर्वोत्तम हैं।

वाचस्पतिमिश्र ने अपनी टीका में स्थल-स्थल पर गौडपाद भाष्य एवं जयमङ्गला का खण्डन भी किया है पर बड़ी शालीनता के साथ। सांख्यकारिका को ठीक-ठीक समझने के लिए तत्त्वकौमुदी का गहन अध्ययन नितान्त अपेक्षित है।

(५) युक्तिदीपिका—सांख्यकारिका की एक अन्य टीका भी उपलब्ध है जिसके कर्ता का नाम उसमें उल्लिखित नहीं है। इस टीका का नाम युक्तिदीपिका है जो पहिले कलकत्ते से तथा सम्प्रति दिल्ली (मोतीलाल बनारसीदास के यहां)से प्रकाशित हुई है। युक्तिदीपिका के रचनाकाल का अनुमान लगाना भी कठिन ही प्रतीत होता है। टीका अत्यन्त विस्तृत एवं मर्मस्पर्शिनी है। अनेकत्र नयी व्याख्यायें भी की गई हैं।

२. सांख्यसूत्र

जिस प्रकार न्याय, वैशेषिक, योग, मीमांसा एवं वेदान्त के सूत्र हैं उसी प्रकार सांख्यदर्शन का विवेचन भी मूलतः सूत्रों में हुआ था जिनके कर्त्ता कपिल मुनि हैं। सांख्यसूत्र के नाम से उपलब्ध इन सूत्रों को कपिलकृत मानने में अनेक आपत्तियाँ हैं जिनका विवेचन आगे किया जायेगा। छह अध्यायों में विभक्त ५२७ सूत्रों के इस ग्रंथ में सांख्यदर्शन के सभी शास्त्रीय विषयों का विशद रूप से विवेचन उपलब्ध होता है। प्रथम तीन अध्यायों में सांख्यीय सिद्धान्तों का विवेचन हुआ है। चतुर्थ अध्याय में दृष्टान्त दिये गये हैं। पञ्चम अध्याय विरोधियों के सिद्धान्तों एवं तर्कों के खण्डन में नियोजित हुआ है तो अन्तिम-षष्ठ अध्याय का विषय सांख्यसिद्धान्तों की पुनः प्रतिष्ठा करना है।

आधुनिक विद्वानों का कथन है कि वर्तमान सांख्यसूत्र कपिल की रचना नहीं हैं अपितु ये बहुत बाद लगभग ईसा की नवम शताब्दी में लिखे गये हैं। इस प्रकार की मान्यता का आधार यह है कि इन सूत्रों में प्रयुक्त अनेक वाक्य ऐसे

उपलब्ध होते हैं जो अन्य कृतियों से उद्धृत हैं। उदाहरणतः सांख्यसूत्र 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ४।३ ब्रह्मसूत्र ४।१।१ से तथा 'वृत्तयः पञ्चतय्यः' क्लिष्टाः (सां० सू० ३।३४; ४।२४) योगसूत्र ११।४४ से गृहीत है। सांख्य-सूत्र के पञ्चम अध्याय के ४० से ५१ संख्या के सूत्रों में वेद की प्रामाणिकता की प्रतिष्ठा का जो प्रतिपादन हुआ है वह वेदान्त का प्रभाव मात्र है। इसके अतिरिक्त सांख्यकारिका भी के अनेक वाक्य इन सूत्रों में उद्धृत हुए हैं। चौदहवी शताब्दी के माधवाचार्य ने अपने 'सर्वदर्शन-संग्रह' में सांख्यकारिका को तो उद्धृत किया है पर एक बार भी सांख्यसूत्र को उद्धृत नहीं किया है। इन सूत्रों के प्राचीनतम टीकाकार अनिरुद्ध हैं जो १५००ई० के लगभग के हैं। इसके अति-रिक्त समास सूत्रों की टीका 'सर्वोपकारिणी' के कर्ता का कहना है कि समास सूत्रों के कर्ता कपिल से सांख्यसूत्रों के कर्ता कपिल भिन्न व्यक्ति हैं। किन्तु चूंकि सर्वदर्शन संग्रहकार ने समास सूत्रों का भी उल्लेख कहीं नहीं किया है अतः उनकी प्राचीनता भी सन्देहास्पद ही प्रतीत होती है। इस सम्बन्ध में एक बात जो सबसे विलक्षण है वह यह कि यदि इन सांख्यसूत्रों के कर्त्ता कपिल ही हैं तो वह अपने सूत्रों में पञ्चशिख का उल्लेख किस प्रकार से करते हैं।[1] जो निश्चित रूप से कपिल के शिष्य आसुरि के भी शिष्य होने से उनसे बहुत बाद के हैं।

श्री उदयवीर शास्त्री ने अपने एक निबन्ध 'एन्टीक्विटी आफ दि सांख्यसूत्र' में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि सांख्य के इन सूत्रों के कर्त्ता कपिल ही थे। उनकी धारणा है कि कपिल कृत मूल सांख्यसूत्रों में अनेक सूत्र बाद में प्रक्षिप्त कर दिये गये हैं जिससे पूरे ग्रन्थ के बाद में कृत होने की भ्रांति होती है। उदाहरण के तौर पर प्रथम अध्याय के २०वें से लेकर ५५वें तक के सूत्र प्रक्षिप्त हैं क्योंकि उन्नीसवां सूत्र लगभग उसी विषय का प्रति-पादन करता है जिसका ५५वां।[2] इसी प्रकार उसी अध्याय के ५३वें एवं ५४वें सूत्र १५वें और १६वें से अभिन्न हैं। इस प्रकार के अनेक सूत्र उपलब्ध होते हैं जो निश्चित रूप से प्रक्षिप्त हैं। इनके प्रक्षेप के समय का भी संकेत इन्हीं से मिलता है। कुछ

---

१. अविवेकनिमित्तो वा पञ्चशिखः। सां० सू० ६।६८

२. न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते। वही १।१९
न द्योगोऽप्यविवेकान्न समानत्वम्। सां० सू० १।५५

सूत्रों में स्रुघ्न एवं पाटलिपुत्र नाम उल्लिखित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन सूत्रों का प्रक्षेप भी उस समय हुआ जब ये नगर समूचे भारत में प्रसिद्ध थे। यह समय चतुर्थ शताब्दी ईसापूर्व से पञ्चम शताब्दी ई० का है। श्री शास्त्री के अनुसार कुल ६८ सूत्र ऐसे हैं जिन्हें प्रक्षिप्त कहा जा सकता है। तथा जिनको निकाल देने पर सांख्य का प्राचीनतम रूप स्पष्ट हो जाता है।

श्री उदयवीर शास्त्री की सूत्रों के प्रक्षेप वाली बात यदि मान भी ली जाय तो भी सांख्यसूत्रों की प्राचीनता सिद्ध नहीं हो पाती। क्योंकि उनके रहते हुए कोई कारण नहीं कि शंकराचार्य और माधवाचार्य सांख्यीय तत्त्वों के विवेचन के लिए सांख्यकारिकाओं को ही उद्धृत करें, एक बार भी सांख्यसूत्र को नहीं। इससे तो यही सिद्ध होता है कि उनके समय में कपिल के सूत्र अवलुप्त हो चुके थे और सांख्यसूत्र के नाम से इन सूत्रों की रचना अभी हो नहीं पायी थी। क्योंकि ऋषि कृत सूत्रों की विद्यमानता एवं उपलब्धि के होते हुए भी जानबूझ कर उनका तिरस्कार करते हुए उनके स्थान पर एक मानव ईश्वर कृष्ण की कृति को उद्धृत करना सर्वथा असंगत अतएव असंभव था। जबकि अन्य दर्शनों के विषय में उन्होंने ही सर्वदा आर्षग्रन्थों को ही विशेष रूप से समुद्धृत किया है।

सांख्यकारिका और सांख्यसूत्रों की तुलना करने पर अनेक स्थल ऐसे पाये जाते हैं जिनमें परस्पर बहुत अधिक साम्य है। कही कहीं तो वही पदावली उभयत्र प्रयुक्त हुई है।[1] शास्त्री जी का कहना है कि सांख्यकारिका कार ने उन्हे सांख्यसूत्र से लिया है। जबकि अन्य विद्वान् इन्हे सांख्यकारिका से सूत्र में लिया गया मानते हैं। इन सांख्यसूत्रों के कपिल-कृत न होने का प्रबलतम प्रमाण वाचस्पति मिश्र द्वारा सांख्य-सूत्र एवं भाष्य की अपेक्षा सांख्यकारिका पर टीका करना है जबकि अन्य दर्शनों के सूत्र एवं भाष्योंपर ही उनकी टीकायें है। आर्ष ग्रंथ सांख्यसूत्र के विद्यमान रहते हुए सांख्यकारिका

---

१. (क) हेतुमदनित्यमव्यापिसक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।
सां० सू० १।१२४ ; सां०का० १०

(ख) सात्त्विकएकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहंकारात्।
सां० सू० २।१४ ; सां०का० २५

(ग) सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च।
सां० सू० २।३१ ; का० २९

पर टीका वह कभी नहीं लिखते। जहाँ तक व्यास-भाष्य एवं अन्य ग्रन्थों के प्रति सांख्य सूत्रों की उत्तमर्णता की बात है वह शास्त्री जी के अपने स्वान्तः सुखाय के लिये चाहे भले हो विद्वद्वर्ग के मन को आन्दोलित नहीं कर पाती।

वर्तमान साँख्यसूत्र की अनेक टीकायें हुई हैं जिनमें से निम्नलिखित उपलब्ध हैं।

(१) अनिरुद्ध वृत्ति—इसके कर्ता अनिरुद्ध हैं।

(२) सांख्यवृत्तिसार—यह टीका महादेव सरस्वती की हैं जिन्हें वेदांती महादेव भी कहा जाता है। ये स्वयंप्रकाश तीर्थ के शिष्य थे। यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है कि यह अनिरुद्ध की टीका का ही संक्षिप्तीकरण है तथापि कहीं कहीं बहुत ही महत्त्वपूर्ण बातें भी इसमें कही गई हैं।

(३) सांख्य प्रवचन भाष्य—सांख्य सूत्रों के ऊपर विज्ञानभिक्षु कृत विस्तृत भाष्य 'प्रवचनभाष्य' के नाम से प्रसिद्ध है। विज्ञान भिक्षु एक वेदान्ती सन्यासी थे।

(४) लघु सांख्यवृत्ति—प्रसिद्ध वैयाकरण नागेशभट्ट या नागोजी भट्ट द्वारा कृत साँख्यसूत्रों की टीका लघुवृत्ति के नाम से ही अधिक प्रचलित है जो विज्ञान भिक्षु के भाष्य का सार मात्र है।

(५) सांख्य तरङ्ग—सांख्य सूत्रों की यह टीका विश्वेश्वरदत्त मिश्र द्वारा कृत है। जो बाद में देव तीर्थ स्वामी हो गये। इनको काष्ठ जिह्व भी कहते थे।

३. तत्त्वसमास या समाससूत्र

सांख्यसिद्धान्त का केवल २५ सूत्रों में निरूपण करने वाली इस कृति को कपिलकृत मूल सांख्यसूत्र होने का श्रेय दिया जाता है। विज्ञान भिक्षु सांख्य-सूत्र, सांख्यसार एवं तत्त्वसमास को एक ही व्यक्ति की कृति मानते प्रतीत होते हैं। सांख्यीय तत्त्वों की एक भिन्न क्रम में व्यवस्था देखकर मैक्समूलर ने भी पहिले यही समझा कि यह एक अति प्राचीन एवं मौलिक कृति है। उन्हें यह वास्तविक रूप से सांख्यदर्शन की आद्य कृति प्रतीत हुआ। अनन्तर उन्होंने ही स्वयं इसे मूलकृति तो नहीं पर सांख्यकारिका के पूर्व की रचना ठहराया क्योंकि जिन विषयों का विवेचन दोनों करते हैं वहाँ तत्त्व-समास का निरूपण अधिक प्राचीन प्रतीत होता है। कीथ की धारणा ठीक इसके विपरीत यह है कि

तत्त्वसमास - इसका यह नाम ही सिद्ध करता है कि यह बाद की रचना हैं जिससे पूर्वतः विस्तारपूर्वक विवेचित सांख्य-सिद्धान्तों का इसमें संक्षेपतः तात्त्विक रूप से ही निरूपण हुआ है तथा जिसका मूल्य सांख्य कारिका से निश्चित रूप से बहुत कम है क्योंकि इसमें सांख्य के मूल-सिद्धान्तों का ठीक ठीक प्रतिनिधित्व नहीं हो सका है। -

इसकी उतनी प्राचीनता में सन्देह इसलिये भी होता है कि शंकर एवं वाचस्पति दोनों में से किसी में भी इसके उद्धरण उपलब्ध नहीं होते। न किसी भी रूप में उन्होंने इसका उल्लेख ही किया है। यही स्थिति माधवाचार्य की है जिन्होने अपने सर्वदर्शन संग्रह में तत्त्वसमास का उल्लेख तक नहीं किया जबकि उन्होंने सांख्यकारिका के अनेक उद्धरण दिये हैं। इसलिये इस कृति को माधव के समय के भी अनन्तर लगभग चौदहवीं शताब्दी का मानना ही युक्ति युक्त प्रतीत होता है। इसकी निम्नलिखित टीकाओं के होने का प्रमाण मिलता है।

(१) सर्वोपकारिणी—यह टीका किसी अज्ञात व्यक्ति की है जिसमें कर्ता के नाम का उल्लेख कहीं नहीं हुआ है।

(२) सांख्यसूत्र विवरण—यह भी किसी अज्ञातनामा व्यक्ति की टीका है।

(३) सांख्य-क्रम-दीपिका, सांख्यालंकार या सांख्यसूत्रप्रवेशिका इसके भी कर्ता का नाम ज्ञात नहीं होता।

(४) तत्त्वयाथार्थ्यदीपन—यह टीका भावा विश्वनाथ के पुत्र भावा गणेश दीक्षित की है। जो सांख्यसूत्रों पर प्रवचन भाष्य के कर्ता विज्ञान भिक्षु के ही शिष्य थे।

(५) रघुनन्दन दीक्षित के पुत्र क्षेमेन्द्र दीक्षित के द्वारा सूत्रों की एक अन्वयात्मक व्याख्या भी उपलब्ध होती है जिसका कोई नाम नहीं है।

(ग) पौराणिक एवं महाभारतीय सांख्य

महाभारत एवं देवी भागवत प्रभृति कुछ पुराणों में भी सांख्यदर्शन का सम्यक् निरूपण उपलब्ध होता है। गुण, पांचमहाभूत तथा व्यक्ताव्यक्त

चौवीस तत्त्वों का स्पष्ट उल्लेख महाभारत के वनपर्व में प्राप्त होता है।[1] महाभारत के शान्तिपर्व में प्रकृति और पुरुष के अन्तर का विवेचन करते हुए कहा है कि इन दोनों में से एक प्रकृति गुणों की सृष्टि करती है तथा दूसरा निर्गुण निर्विकार रहता है। गुण आत्मा में नहीं होते किन्तु वह गुणों को जानता है।[2] यहाँ पर प्रकृति के लिए सत्त्वं शब्द का प्रयोग किया गया है। शान्तिपर्व में भीष्म पितामह के द्वारा सांख्य और योग का अलग अलग अध्यायों में विशद् विवेचन उपलब्ध होता है। इसी प्रकार गीता एवं श्रीमद्‌भागवत तथा देवी भागवत आदि पुराणों में सांख्यीय तत्त्वों का विवेचन सुव्यवस्थित ढंग से हुआ है। इसे ही आधुनिक विद्वान 'एपिकसांख्य' की संज्ञा देते हैं। क्योंकि इसका अधिक विवेचन महाभारत में ही उपलब्ध होता है। एपिक-सांख्य की एक विशेषता यह है कि उसे सेश्वर सांख्य भी कहा जाता है। उसके अनुसार प्रकृति और पुरुष का नियन्ता ईश्वर अवश्य है जिसकी आराधना या उपासना करने से जीव का कल्याण होता है। एपिक-सांख्य का पर्यवसान वेदान्त में होता है। क्योंकि यहाँ ईश्वर को ब्रह्म भी कहा गया है और उसे ही सभी पुरुषों का उत्पत्तिस्थल (योनि) माना है।[3] यहीं यह भी बताया गया है कि सांख्य के प्रवचन कर्त्ता आसुरि भी उसी एकाक्षर ब्रह्ममण्डल को प्राप्त हुए जो अव्यय है तथा नाना रूप में दिखाई देता है।[4]

---

१. महाभूतानि खं वायुरग्निरापस्तथा च भूः
शब्दः स्पर्शश्च रूपश्च रसोगन्धश्च तद्गुणाः ॥ २१०।१७।
सर्वैरिहेन्द्रियार्थैस्तु व्यक्ताव्यक्तैस्तु संकृतैः।
चतुर्विंशक इत्येष व्यक्ताव्यक्तमयो गुणः। २१०।२१

२. सत्त्वक्षेत्रज्ञयोरेतदन्तरं विद्धि सूक्ष्मयोः।
सृजतेऽत्र गुणानेक एको न सृजते गुणान् ॥ ३३
न गुणान् विदुरात्मानं स गुणान् वेद सर्वतः।
परिद्रष्टा गुणनान्तु संसृष्टा मन्यते यथा ॥३५

३. बहूनां पुरुषाणां स यथैका योनिरुच्यते। म० भा० शा० प० ३५०।२६

४. तसथैकाक्षरं ब्रह्म नानारूपं प्रदृश्यते।
आसुरिर्मण्डले तस्मिन्प्रतिपेदे तदव्ययम्।

श्रीमद्भगवद्गीता में सांख्य के प्रस्थापक कपिल को कृष्ण का रूप कहा है 'सिद्धानां कपिलो मुनिः। भागवत पुराण के तृतीय अध्याय में भी सांख्य-सिद्धान्तों का निरूपण हुआ है। इनके अतिरिक्त वायुपुराण, ब्रह्माण्डपुराण एवं स्कन्दपुराण के प्रभासखण्ड में भी सांख्यदर्शन का निरूपण उपलब्ध होता है। यह समूचा पौराणिक सांख्य महाभारत के सांख्य-विवेचनों के अनुरूप ही है। महाभारत के समसामयिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मनुस्मृति के १२वें अध्याय में भी सत्व, रजस् एवं तमस् का उल्लेख हुआ है। शंख-स्मृति में भी सांख्यीय चौबीसतत्त्वों का विवेचन उपलब्ध होता है। किन्तु यहां पुरुष को विष्णु कहा गया है (७।२१।२५)। याज्ञवल्क्यस्मृति भी सांख्यसिद्धान्त से अछूती नहीं है। वह भी व्यक्त से बुद्धि, बुद्धि से अहंकार और अहंकार से तन्मात्र आदि के उत्पन्न होने का उल्लेख करती है।[1] यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि महाभारत, पुराण एवं स्मृतियों में सांख्यीय तत्त्वों के विवेचन के साथ साथ ईश्वर की सत्ता का भी निरूपण हुआ है। इसीलिए इनमें विवेचित सांख्य को सेश्वर-सांख्य भी कहते हैं। इसके विपरीत जिन विवेचनों में ईश्वर की चर्चा बिल्कुल नहीं है उसे निरीश्वर अथवा शास्त्रीय सांख्य के नाम से अभिहित किया जाता है। इसके प्रतिनिधि ग्रन्थ सांख्यकारिका, सांख्यसूत्र एवं तत्त्वसमास सूत्र तथा उनकी टीकाएं हैं। चूंकि सांख्य कारिका से पूर्व का कोई शास्त्रीय ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है इसलिए निरीश्वर अर्थात् शास्त्रीय सांख्य का प्रामाणिक प्रतिनिधि ग्रन्थ सांख्यकारिका ही है जिसकी व्याख्या प्रकृत ग्रन्थ में प्रस्तुत की गई है।

---

१. बुद्धेरुत्पत्तिरव्यक्तात् ततोऽहंकारसम्भवः।
तन्मात्रादीन्यहंकारादेकोत्तरगुणानि च ॥ या० स्मृ०, ३।१७९

☆

६ सांख्य-सिद्धान्त

१. शास्त्र की प्रवृत्ति

हम सुख चाहते हैं तथा उसकी प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील भी रहते हैं फिर भी वह अलभ्य ही बना रहता है। इसके ठीक विपरीत हम दुःख नहीं चाहते तथा उससे बचने के लिए सदा सचेष्ट भी रहते हैं फिर भी हम दुःखी रहते हैं। इस प्रकार दुःख से उद्विग्न रहकर सुख की कामना करते रहना ही हमारा स्वभाव है। प्रतिकूल वेदनीय होने से दुःख हेय है। दुःख क्या और क्यों है ? इसका अन्त संभव है कि नहीं ? और यदि संभव है तो स्थायी रूप से या क्षणिक ? इत्यादि प्रश्नों का उठना किसी भी प्रवुद्ध व्यक्ति के लिए सर्वथा स्वाभाविक है। दुःखों से निवृत्ति पाने के लिए लोगों ने सदा से अनेक उपायों का अविष्कार किया हैं क्योंकि कहने या चाहने मात्र से दुःख का अन्त नहीं होता। किन्तु जब तक दुःख के स्वरूप एवं उसके मूलकारण का यथार्थ रूप से ज्ञान न हो जाय तब तक उसके निवारण का प्रयास व्यर्थ है।

जिसप्रकार चिकित्साशास्त्र में रोग, रोगनिदान, रोग का निराकरण तथा उसके निराकरण के उपाय, ये चार विषय विवेच्य हैं उसी प्रकार सांख्य शास्त्र का भी विवेच्य विषय दुःख, दुःख का कारण, दुःखहानि और उसके उपाय का निर्धारण है। विविध प्रकार के दुःख की ज्वाला से निरन्तर दह्यमान प्रत्येक जीव दुःख का अन्त ही चाहता है।

त्रिविधदुःख—दुःख के तीन मुख्य प्रकार हैं, आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा अधिभौतिक। सामान्यरूप से वात, पित्त और कफ के वैषम्य के कारण उत्पन्न होने वाले रोग आदि शारीरिक तथा काम-क्रोध आदि से उत्पन्न मानसिक उभयविध दुःख आध्यात्मिक इसलिए कहे जाते हैं कि ये आत्मा के लिङ्ग, मन, बुद्धि अहंकार एवं उभयविध इन्द्रियों से संयुक्त शरीर में होते पाये जाते हैं। आत्मा अर्थात् पुरुष में इनके मूलकारण गुणों का सर्वथा अभाव होने से ये उसमें नहीं हो सकते। वायु, अग्नि एवं जल के देवताओं के प्रकोप से संभाव्यामान आंधी, तूफान, अग्निकांड एवं बाढ़ आदि से होने वाले दुःख आधिदैविक तथा सिंह व्याघ्र आदि भूतों अर्थात् प्राणियों से पहुंचने वाला दुःख ही आधिभौतिक है। शारीरिक एवं मानसिक समग्र दुःखों को आध्यात्मिक इसलिए कहते हैं कि इन सबका उपचार आन्तरिक उपाय से होता है। जो दुःख औषधि आदि के शरीर के

भीतर पहुंचा देने से दूर होते हैं अथवा जिनका उपशम शम, दम, तितिक्षा आदि से होता है उन्हें ही आध्यात्मिक कहा है। बाह्य दुःख दो प्रकार के होते हैं—आधि दैविक तथा अधिभौतिक। यही त्रिविध दुःख है। प्रतिकूल वेदनीय होने से तीनों ही हेय हैं।

दुःख-कारण—दुःख का कारण क्या है यह एक जटिल प्रश्न है। जहां तक रोगों का सम्बन्ध है उनका कारण आहार विहार में व्यक्तिक्रम हो सकता है पर आंधी तूफान आदि आदिदैविक एवं सिंह व्याध रूप आदि आधिभौतिक दुःखों के लिए व्यक्ति या समाज कहाँ तक उत्तरदायी है। जन्म एवं मरण भी दुःख ही है जो मनुष्य क्या प्राणिमात्र के वश की बात नहीं। फिर दुःख का वास्तविक या मूल-कारण क्या है ? सांख्यशास्त्र बताता है कि दुःख स्वभाव से है। हमारा शरीर ही नहीं निखिल जगत् जिन उपादानों से बना है दुःख का मूल भी उन्हीं में है। निखिल ब्रह्माण्ड का मूलकारण मूलप्रकृति है जो गुणात्मिका है। सत्व, रज एवं तम नामक इन तीनों गुणों में रजोगुण ही दुःख का मूल बिन्दु है। आत्मा को छोड़कर निखिल ब्रह्माण्ड में कोई भी ऐसा तत्त्व शेष नहीं बचता जिसमें रजोगुण सम्मिलित न हो। रजोगुण का कार्य ही दुःख है। इस प्रकार दुःख जीवन का एक सत्य है। जो कहीं ऊपर से लादा नहीं जाता अपितु अपने में ही विद्यमान है।

शारीरिक एवं मानसिक दुखों के कारण तो स्पष्ट रूप से हमारे मन, बुद्धि, अहंकार एवं इन्द्रियाँ हैं जिनकी उत्पत्ति तीनों गुणों से ही मानी गई है, सिंह व्याघ्रादि एवं आँधी तूफान से होने वाले दुःख भी आधिदैविक एवं आधिभौतिक होने से त्रिगुणात्मक ही हैं। उनका प्रकोप भी रजोगुण के क्षोभ से ही होता है।

अथवा पुरुष अनादिकाल से ही प्रकृति के चंगुल में फंसा है। प्रकृति ने इसे सूक्ष्म एवं स्थूल शरीर का चोंगा पहिना रखा है जो त्रिगुणमय है। इन सूक्ष्म एवं स्थूल शरीरों से पुरुष बाह्य पदार्थों का उपयोग करता है। भोग एक प्रकार का कार्य है जो संस्कार पैदा करता है। उन संस्कारों को भोगने के लिए पुनः शरीर चाहिए। शरीर पाकर व्यक्ति कर्म में प्रवृत्त न हो यह कैसे हो सकता है क्योंकि उसी के लिए तो शरीर मिलता है। कर्म क्या अच्छे क्या बुरे सभी सुखदुःखमोहात्मक ही होते हैं। इस प्रकार पूर्वजन्म के कर्मों के भोग के लिए उत्तरोत्तर जन्मों में शरीर मिलते हैं। जिनसे सम्पादित कर्म संचित होते रहते हैं। इनके फल का जबतक भोग नहीं हो जाता ये विनिवृत्त नहीं होते। अतः ये कर्म ही हमें उपलभ्यमान सुखदुःखमोह के निदान हैं।

दुःख निवारण—दुःख के कारणों को देखते हुए उसके निवारण का प्रश्न बड़ा जटिल एवं असंभव सा प्रतीत होता है, क्योंकि शरीर के निवारण मात्र से दुःख का निवारण बन नहीं पाता। दुःख निवारण का अर्थ उसका अत्यन्ताभाव तो हो नहीं सकता। क्योंकि सांख्य सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक कार्य का अपना कारण होता है और इस कारण-परम्परा से वह कार्य अपने मूलकारण में निरन्तर बना रहता है। कार्य के रूप में तो उसीका आविर्भाव और तिरोभाव हुआ करता है। विनाश या सर्वथा निराकरण नहीं। यही कारण है कि किसी भी दुःख की निवृत्ति सर्वथा (ऐकान्तिक) एवं सर्वदा के लिए (आत्यन्तिक) नहीं हो पाती। अथवा जब तक स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर बने रहेंगे तब तक भोग होता रहेगा और दुःख भी बना ही रहेगा। अतः दुःख का निवारण वस्तुतः जन्मजन्मान्तर के कर्म एव तज्जन्य सूक्ष्म और स्थूल शरीर का ही निवारण है।

दुःखनिवारण के उपाय—दुःख के साथ ही दुःख की निवृत्ति के उपाय की जिज्ञासा को भी यदि अनादि कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। जिस प्रकृति ने हमें स्वभाव से ही दुःख दिया है उसी ने उसके निवारक के उपाय के अनुसंधान की शक्ति भी हमें प्रदान की है। रजोगुण का कार्य दुःख है तो उसके कारण एवं निवारण के उपाय का ज्ञान सत्त्व गुण का कार्य है जो रजोगुण के साथ ही प्रकृति का उतना ही महत्त्वपूर्ण अंश है। हम स्वभाव से ही दुःखी पर स्वभाव से ही ज्ञानी भी हैं। अतः मानव ने दुःख निवृत्ति के अनेक उपायों का अनुसंधान कर रखा है।

रोगरूप शारीरिक दुःखों के प्रशम एवं निवारण के लिए नाना प्रकार की ओपधियों एवं जड़ीबूटियों का विधान आयुर्वेद प्रभृति चिकित्सा-शास्त्रों में उपलब्ध होता है। मानसिक दुःख का प्रशम कमनीय पदार्थों के उपभोग से सुतरां हो जाता है यह अनुभव सिद्ध है। जहां तक दैवी प्रकोपों एवं ग्रह कृत दुखों का संबन्ध है, उपयुक्त मणि एवं मन्त्र आदि के प्रयोग से उनकी शान्ति करने की प्रथा समाज में विद्यमान ही है। आधिभौतिक दुःख से बचने के लिए तो निरन्तर सावधानी बरतना पर्याप्त है जिसकी जानकारी नीति-शास्त्र में निपुणता एवं शिष्ट जनों के उपदेशों से हो जाती है। इसप्रकार दुःख के तीनों प्रकारों के प्रशमन के लिए उक्त अनेक प्रकार के उपायों का विधान हुआ है जिन्हें लौकिक उपाय कहते हैं।

इसमें सन्देह का कोई अवसर नहीं कि ये उपाय शास्वत नहीं हैं। इनमे

दुःख की सामान्य रूप से निवृत्ति की तो चर्चा करना ही व्यर्थ है। क्योंकि इनसे किसी विशेष प्रकार के दुःख का ही प्रशमन सम्भव है जिसके लिए ये विहित हैं। उसमें भी इनके प्रयोग से उस दुःख विशेष का निवारण अवश्य हो जायेगा ऐसी बात भी नहीं है। ऐसा प्रायः देखा जाता है कि किसी रोग-विशेष की प्रसिद्ध दवा भी सबको एवं सदा लाभ नहीं करती। कभी काम करती है तो कभी नहीं करती। जब वह काम कर जाती है तब भी ऐसा नहीं होता कि एक बार निवृत्त दुःख सदा के लिए समाप्त हो जाय। अपितु इसके विपरीत वह औषध या उपाय कुछ समय के लिए ही कारगर होती है। इसीलिए श्रुति को याज्ञिक कर्मकांड रूप एक ऐसे उपाय का विधान करना पड़ा जिससे दुःख की ऐकान्तिक (पूर्ण रूप से) एवं अत्यन्तिक (सदा के लिए) निवृत्ति हो सके। स्वर्ग एक ऐसी जगह है जहां पहुंचने पर दुःख से सर्वथा छुटकारा हो सकता है। स्वर्ग के स्वरूप का निरूपण करते हुए कहा है कि :—

यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत् सुखं स्वः पदास्पदम्॥

श्रुति भी कहती है—"अपाम सोमममृता अभूम"। यज्ञ में सोम पान करते ही हम अमर हो जायेंगे। इस प्रकार वैदिक कर्मकांड का आविर्भाव भी दुःख निरोध के उद्देश्य से ही हुआ है। यज्ञ काम्य कर्म है। परिश्रम से धन कमाकर उसके द्वारा यज्ञ सम्पादित कर व्यक्ति मृत्यु के बाद स्वर्ग पहुंचता है जहां वह अपने पुण्यकर्मों के फल का उपभोग सुखपूर्वक करता है। अनन्तर पुनः मनुष्य रूप में जन्म लेकर यज्ञ यागादि करना और पुनः स्वर्ग की प्राप्ति करना, यही मानव जीवन का लक्ष्य है। मीमांसा का कर्मवाद इसी का विधान करता है।

सांख्य शास्त्र कहता है कि यह ठीक है कि वैदिक कर्मकांड से उस स्वर्ग की प्राप्ति होती है जहां किसी वस्तु की कमी न होने से दुःख नहीं होता। किन्तु एक तो वैदिक कर्मकांड सबके लिए सुलभ नहीं है। वह केवल श्रमसाध्य ही नहीं अपितु उसके लिए पर्याप्त धन की भी अपेक्षा होती है। दूसरे उसमें अन्य प्रकार के भी अनेक दोष हैं। प्रथम दोष यह है कि उसमें पशुहिंसा होती है जो हमारी मानसिक पवित्रता को भ्रष्ट कर देती है। किसी दूसरे प्राणी को मृत्यु का कष्ट देकर हम अपने को सुखी बनाना चाहते हैं, यह बात कम कष्ट कर नहीं है। अतः यज्ञादि कर्मकांड से स्वर्ग रूपी सुख प्राप्त करने का प्रयास

एक घृणित उपाय है। "स्वार्थी दोषं न पश्यति" न्याय से यदि इसे स्वीकार भी कर लिया जाए तो भी वैदिक कर्मकांड से प्राप्त स्वर्ग-सुख में भी दुःख के लिए स्थान बना रहता है। क्योंकि जैसा विधान है, स्वर्ग में भी उसके द्वारा सम्पाद्य कर्म के अनुसार ही उसे फल की प्राप्ति होती है। बड़े यज्ञ कर्ता वहां पर भी अधिक अधिकारों एवं सुख सामग्रियों का उपभोग करते है तो साधारण यज्ञों का कर्ता साधारण ही बना रहता है। जो व्यक्ति के मन में ईर्ष्या एवं मात्सर्य पैदा करता है फिर वह सुखी कहां है ? तथा इन सबसे बड़ी बात तो यह है कि 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति' के विधान केअनुसार वह सुख भी स्थायी नहीं है। अतः दुःख निवृत्ति के लौकिक उपायों की तरह ही वैदिक उपाय भी दुःख की ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक रूप से निवृत्ति करने में समर्थ नहीं होने से जिज्ञासु के लिए उपादेय नहीं है।

इस प्रकार लौकिक एवं वैदिक किसी भी उपाय से दुःख से छुटकारा पाते न देख सांख्यशास्त्र ने व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञान के सिद्धान्त का आविष्कार किया है। इसके अनुसार व्यक्त अर्थात् दृश्यमान जगत्, अव्यक्त अर्थात् उसका मूल-कारण जो दृष्टिगोचर नहीं होता अपितु केवल बुद्धिगम्य है तथा ज्ञ अर्थात् दोनों के ज्ञाता के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर दुःख की आत्यन्तिक एवं ऐकान्तिक निवृत्ति हो जाती है। सांख्यशास्त्र का कथन है कि 'मैं दुःखी हूं' मैं सुखी हूं, पुरुष की यह अनुभूति अपनी नहीं है अपितु प्रकृति के गुणों का परिणाम है। व्यक्ति जैसे ही यह समझ लेता है कि ज्ञान का सूत्र अलग है और क्रिया का अलग तथा समूचा दुःख समुदाय क्रिया का परिणाम है तो उसे शान्ति मिलती है और फिर वह दुःखी नहीं होता। तथा अन्त में जीवन के इस रहस्य को जानलेने पर जन्म-मरण के चक्र से भी मुक्त हो जाता है। जन्म ग्रहण करने पर तो दुःख का अनुभव निश्चित रूप से होगा। दुःख से निवृत्ति पाना है तो जन्म मरण के चक्र से निवृत्त होना होगा। जन्म आदि का कारण हमारा अज्ञान है। हम जगत् को भोग्य एवं अपने को उसका भोक्ता मानते हैं। फिर भोगके परिणाम को स्वयं पर आरोपित कर लेते हैं। हमारे में पुरुषतत्त्व प्रकृति से सर्वथा भिन्न है जो निर्गुण निर्विकार एवं निष्कलुष है। दुःख रजोगुण का कार्य है। गुण प्रकृति के स्वरूप के आधायक हैं। पुरुष को वे कदापि नहीं व्यापते। व्यक्ति कोअपने को चेतनपुरुष से अभिन्न तथा जड़ प्रकृति से भिन्न समझना चाहिये। हमारे मन, बुद्धि एवं अहंकार प्रकृति के तत्त्व हैं। पुरुषतत्त्व इनसेभिन्न है। जो इस रहस्य को जान लेता है वह त्रिविध दुःख से तो पीड़ित नहीं ही होता जन्म मरण के चक्र से भी मुक्त हो जाता है।

यहां एक प्रश्न और विचारणीय रह जाता है कि सांख्य के ही सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार जो भी कार्य है वह सत् है उसका सर्वथा अभाव हो ही नहीं सकता। दु:ख भी कार्य है अत: उसकी ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति संभव नहीं है। जब दु:ख की सर्वथा निरोध सिद्धान्तत संभव: नहीं तो उसके लिये शास्त्र की प्रवृत्ति की क्या आवश्यकता है ?

इसका उत्तर यह है कि दु:ख नित्य है इसमें कोई सन्देह नहीं। पर रजोगुण के कार्य के रूप में वह सूक्ष्म रूप से बना रहे इसमें किसी को आपत्ति नहीं। स्थूल रूप से जब वह हमारे अनुभव का विषय होता है तभी हमें कष्ट देता है। अत: उसका भोगारूढ़ न होना ही उसकी निवृत्ति है। सर्वथा अभाव नहीं। क्योंकि सत्कार्यवाद के अनुसार तो किसी भी वस्तु का सर्वथा अभाव होता ही नहीं। सांख्य शास्त्र में विहित दु:ख की ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति का यही अर्थ है कि हमें दु:ख की अनुभूति न हो, जो प्रकृति एवं पुरुष अथवा बुद्धि एव आत्मा सर्वथा भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं, इसके ज्ञान से ही संभव है अन्यथा नहीं। सांख्यशास्त्र की प्रवृत्ति का यही उद्देश्य एवं प्रयोजन है।

२. त्रिविध विज्ञान

सांख्यशास्त्र में ब्रह्मांड के निखिल तत्त्वों को मूलत: दो वर्गों में रखा है—(१) प्रकृति एवं (२) पुरुष। प्रकृति की दो अवस्थायें होती हैं: (१) अव्यक्त और (२) व्यक्त। पुरुष को ही ज्ञ कहते हैं। व्यक्त, अव्यक्त एवं ज्ञ के स्वरूप की यथार्थ रूप से जानकारी ही व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञान है। इनमें से अव्यक्त एवं ज्ञ तो एक-एक प्रकार के ही होते हैं पर व्यक्त के २३ भेद प्रभेद होते हैं।

व्यक्त का प्रथम रूप महत्तत्त्व है। जिसे हम बुद्धि भी कहते हैं उसी का समष्टिरूप महत्तत्त्व है। दूसरा भेद अहंकार है। इस अहंकार के एक ओर एकादश इन्द्रियां तथा दूसरी ओर पंचतन्मात्रायें मिलकर १६ प्रभेद होते हैं। इन्द्रियों में से पांच ज्ञान की, पांच कर्म की तथा एक उभयात्मक है। श्रोत्र, त्वग्, चक्षु, रसना तथा घ्राण ये ज्ञानेन्द्रियां हैं तथा वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ ये पांच कर्मेन्द्रियां कही जाती हैं। मन ज्ञान एवं कर्म दोनों का साधक होने से उभयात्मक होता है। इनके अतिरिक्त गन्ध, रस, रूप, स्पर्श एव शब्द नामक पांच तन्मात्राएं होती हैं। ये सब अहंकार के ही प्रभेद हैं। इन्ही तन्मात्राओं से अलग-अलग पंचमहाभूतों की उत्पत्ति होती है जिनके नाम पृथ्वी, जल,

तेज, वायु, एवं आकाश हैं। इस प्रकार निखिल ब्रह्माण्ड में निहित तत्त्वों की कुल संख्या पच्चीस हो जाती है।

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडषकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि। सां० का० २२

इन पच्चीस तत्त्वों में से एक है मूल प्रकृति जो किसी का विकार न होने से अविकृति तथा उसके अनेक विकार होने से प्रकृति कहलाती है अर्थात् उसके विकार संभव हैं पर वह किसी का विकार नहीं है। इसके अतिरिक्त महत्तत्त्व, अहंकार एवं पंचतन्मात्रायें प्रकृति एवं विकृति दोनों हैं। क्योंकि एक ओर जहां वे किसी से पैदा होती हैं दूसरी ओर वे दूसरे तत्त्वों को पैदा भी करती हैं। महत्तत्त्व मूलप्रकृति से विकृत होकर अहंकार को उत्पन्न करता है। अहंकार भी महत्तत्त्व से उत्पन्न होकर इन्द्रियों एवं तन्मात्राओं को पैदा करता है। तन्मात्रायें अहंकार से उत्पन्न हो महाभूतों को पैदा करती है। शेष १६ तत्त्व पंचज्ञानेन्द्रियां, पंचकर्मेन्द्रियां मन, एवं पंचमहाभूत ये विकृति मात्र हैं जो किसी अन्य तत्त्व से उत्पन्न ही होते हैं दूसरे को उत्पन्न नहीं करते। इन सबसे पृथक वह तत्त्व है जो न किसी से उत्पन्न होता है और न किसी को उत्पन्न करता है, अतः वह न प्रकृति है और न विकृति। वही तत्त्व पुरुष है।

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त॥
षोडकस्तु विकारो न प्रकृतिर्नविकृतिः पुरुषः॥ सां० का० ३

३. त्रिविधप्रमाण

चूंकि प्रमेय की सिद्धि प्रमाण से ही होती है[1] इसलिये दर्शन की सभी विधाओं में प्रमाण का निरूपण पर्य्याप्त विस्तार से किया गया है। सांख्यदर्शन पच्चीस तत्त्वों का निरूपण कर उनका अन्तर्भाव जड़ एवं चेतन केवल दो ही तत्त्वों में सिद्ध करता है। इसका जड़ प्रकृति एवं चेतन पुरुष के स्वरूप के विवेक से ही मोक्ष की सिद्धि का सिद्धान्त काल्पनिक नहीं अपितु प्रमाण पुष्ट है।[2]

---

१. प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि। सां० का० ४
२. उभयसिद्धिः प्रमाणात् तदुपदेशः। सां० सू० १।१०२

'प्रमीयते अनेन इति प्रमाणम्' की व्युत्पत्ति से प्रमा का करण होना ही प्रमाण का सामान्यलक्षण है। पुरुष का वह बोध (प्रतीति या ज्ञान) ही प्रमा है जो संशय, विपर्यय, विकल्प एवं स्मृति से भिन्न चित्त की वृत्ति के फल स्वरूप होता है।[१] 'घटमहं जानामि' इसप्रकार का अनुव्यवसायात्मक ज्ञान ही पुरुष का बोध कहलाता है। यह बोध संशयविषयक, मिथ्याज्ञान विषयक, स्मृति जन्य या यथार्थ है इसका निश्चय प्रमाणों से ही होता है। अतः प्रमाण उसे ही कहेंगे जिससे पुरुष को विषय के वास्तविक रूप का बोध होता हो। 'प्रमीयते अनेन' अर्थात् 'प्रमा का करण' प्रमाण है। प्रमाण के इस सामान्य लक्षण का यही अभिप्राय है।

सांख्यशास्त्र के अनुसार प्रमाण के कुल तीन ही प्रकार संभव हैं— दृष्ट, अनुमान एवं आप्तवचन। यहां दृष्ट का अर्थ प्रत्यक्ष एवं आप्तवचन का शब्द प्रमाण है। चूंकि निखिल ब्रह्माण में व्याप्त सभी प्रकार के विषयों का ज्ञान केवल इन्हीं तीन प्रमाणों से हो जाता है अतः प्रमाणों की अधिक संख्या मानने की कोई आवश्यकता नहीं।[२] उपमान, अर्थापत्ति, अभाव एवं ऐतिह्य आदि तथाकथित प्रमाणों का इन्हीं में अन्तर्भाव संभव है। अतः प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द ये तीन ही प्रमाण सांख्य को अभीष्ट हैं।[3] इनके लक्षण एवं स्वरूप का निरूपण कर अनन्तर सांख्य प्रतिपादित किस प्रमाण में अन्यप्रतिपादित किन प्रमाणों का अन्तर्भाव होता है, इसका विवेचन किया जायगा।

(१) प्रत्यक्ष या दृष्ट

दृष्ट प्रमाण का लक्षण करते हुए सांख्यकारिका में कहा है कि प्रतिविषयाध्यवसाय ही दृष्ट है। विषयं विषयं प्रति वर्तते, की व्युत्पत्ति से प्रतिविषय इन्द्रिय को कहते हैं जिसकी वृत्ति विषय से सन्निकर्ष है। अध्यवसाय तदाश्रित व्यापार है। अथवा बुद्धि के व्यापार ज्ञान को ही अध्यवसाय कहते हैं। विषय के सन्निकर्ष में आने पर उनके प्रति इन्द्रियों की वृत्ति होने से बुद्धि में तम का तिरोधान एवं सत्व का जो उद्रेक है वही अध्यवसाय है। यह अध्यवसाय ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। इससे चेतना शक्ति का जो अनुभव है वही यथार्थ अनुभव रूप प्रमा है।

---

१. असन्दिग्धाविपरीतानधिगतविषया चित्तवृत्तिः, बोधश्च पौरुषेयः फलं प्रमा। वा० मि०, तत्त्वकौमुदी सां० का० ४

२. तत्सिद्धौ सर्वसिद्धेर्नाधिक्यसिद्धिः। सां० सू० १।८८

३. दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्। त्रिविधं प्रमाणमिष्टम्। सां० का० ४

बुद्धितत्त्व तो वस्तुतः अचेतन है क्योंकि वह जड़ प्रकृति का परिणाम है। इसलिये जिस प्रकार जड़ मिट्टी का बना घड़ा भी जड़ ही होता है उसी प्रकार जड़ बुद्धि का परिणाम अध्यवसाय भी जड़ ही होना चाहिए। यही नहीं बुद्धि तत्त्व के सुखादि भी उसके परिणाम होने से अचेतन ही होने चाहिये। पर सुखादि का अनुषङ्गी पुरुष तत्त्व तो सचेतन है। बुद्धि तत्त्ववर्ती ज्ञान एवं सुख आदि का बुद्धि ही में प्रतिम्बित पुरुष पर आरोप होजाने से पुरुष भी ज्ञानादिमान् प्रतीत होने लगता है। साथ ही पुरुष की छाया पड़ने से अचेतन बुद्धि एवं उसके अध्यवसाय भी चेतन की तरह प्रतीत होने लगते हैं। अर्थात् इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष होने पर विषय इन्द्रिय में प्रतिबिम्बित हो जाते हैं। तथा विषय के प्रतिबिम्ब सहित इन्द्रियां बुद्धि में प्रतिबिम्बित होती हैं सत्त्वोद्रेक होनेपर पुरुष तत्व भी उसी बुद्धि में प्रतिबिम्बित होता है। अनन्तर 'मैं अमुक हूँ, ऐसी एक वृत्ति बुद्धि में उत्पन्न होती है वह वृत्ति बुद्धि में ही प्रतिविम्बीत चेतन पुरुष पर भी आरोपित हो जाने से उसीकी प्रतीत होती है। फलतः पुरुष अपने को ज्ञान एवं उससे होने वाले सुख दुःख का भागी समझने लगता है।[1] यही प्रतिविषयाध्यवसाय रूपी प्रत्यक्ष है।

यहां अध्यवसाय का अर्थ निश्चय है। लक्षण में इसके समावेश से संशयात्मक ज्ञान का निराकरण हो जाता है। अर्थात् संशयात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष इसलिये नहीं है कि वह अध्यवसाय अर्थात् निश्चयात्मक नहीं होता। विषय पद के रहने से अज्ञान अर्थात् मिथ्याज्ञान का निराकरण हो जाता है। क्योंकि विपर्ययज्ञान अर्थात् मिथ्याज्ञान अतस्मिंस्तद् ग्रहण रूप होता है जो शुक्ति में रजत की प्रतीति के समान भ्रम होता है। विषय पद से सद्विषय का ग्रहण होने से असद् विषयक ज्ञान प्रमाण की कोटि में नहीं आते। विषय के साथ प्रति उपसर्ग के प्रयोग से 'विषयं विषयं प्रति वर्तते' की व्युत्पत्ति द्वारा प्रत्यक्ष में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष का होना अनिवार्य है। अतः अनुमान एवं स्मृति आदि का यहाँ निराकरण इसलिये हो जाता है कि वे इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष जन्य नहीं होते। इसप्रकार समान एवं असमान जातीय तत्त्वों के व्यावर्तक होने से 'प्रतिविषया-ध्यवसाय' यह प्रत्यक्ष का निष्कृष्ट लक्षण सिद्ध हो गया।

सांख्य दर्शन के अनुसार किसी वाह्यवस्तु के विषय में बुद्धि की निश्चयात्मक वृत्ति ही प्रत्यक्ष है। चूंकि वह केवल एक ही प्रकार की होती है, अतः प्रत्यक्ष के निर्विकल्पक एवं सविकल्पक भेद भी संभव नहीं।

---

१. तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।
गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः।। सां० का० २०

अनुमान

... प्रत्यक्ष का ही कार्य है। क्योंकि वह प्रत्यक्ष पर ही आधारित होता है। अनुमान का सामान्य लक्षण करते हुए सांख्यकारिका मे कहा है "तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकम्"। लिङ्ग हेतु को कहते हैं जो व्याप्य होता है तथा लिङ्गी साध्य है जो व्यापक होता है। धूमादि हेतु व्याप्य एवं साध्य वह्नि आदि ही व्यापक हैं इसप्रकार का जो ज्ञान है तत्पूर्वक अर्थात् उस ज्ञान से होने वाली प्रतीति ही अनुमान है[1]

वाचस्पति मिश्र ने सांख्यकारिका के अनुमान के इस लक्षण का विवेचन करते हुए इसमें एक और 'लिङ्गि' पद का समावेश माना है लिङ्गं च लिङ्गि च लिङ्गि च तानि लिङ्गलिङ्गीनि तत्पूर्वकमिति लिङ्ग-लिङ्गिपूर्वकम्। यहां एकशेष के द्वारा एक लिङ्गि पद का लोप हो जाता है। उस द्वितीय लिङ्गी पद का अर्थ लिङ्गमस्यास्तीति की व्युत्पत्ति से पक्षधर्मता अर्थात् हेतु का तीसरी बार ज्ञान है। इसप्रकार लिङ्गिलिङ्ग अर्थात् व्याप्यव्यापक भाव ज्ञान पूर्वक पक्षधर्मता का ज्ञान ही अनुमान है। हेतु का पक्ष में होना ही पक्षधर्मता है। हेतु का ज्ञान तीन बार होता है। प्रथम बार केवल हेतु के रूप में, द्वितीय बार साध्य के साथ अन्वयव्यतिरेक रूप व्याप्ति-ज्ञान के रूप में तथा तृतीयबार व्याप्ति-ज्ञान पूर्वक पुनः पक्ष में हेतु का ज्ञान। इसी को हेतु अर्थात् लिङ्ग का परामर्श भी कहते हैं।

यद्यपि मूलग्रन्थ में व्याप्ति या पक्ष का शब्दतः उल्लेख नहीं हुआ है फिर भी लिङ्ग लिङ्गि पदों से हेतु साध्य तथा उनके बीच व्याप्य व्यापक भाव सम्बन्ध का ग्रहण स्वतः हो जाता है जिसका पर्यवसान व्याप्ति ज्ञान एवं उससे विशिष्ट पक्षधर्मता के ज्ञान में होता है तथा जिसके परामर्श से बुद्धि में प्रतिबिम्बत पुरुष को एक ऐसी वस्तु का बोध उत्पन्न होता है जिसका इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष नहीं होता। यही अनुमान है। अतः इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष के द्वारा ज्ञात वस्तु से व्याप्यव्यापक भाव सम्बन्ध के द्वारा असन्निकृष्ट वस्तु का ज्ञान ही अनुमान है।

अनुमान के तीन प्रकार होते हैं—पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट। ये विभाजन व्याप्ति के स्वरूप के अनुसार किये गये हैं। जहां व्याप्ति अन्वय-

---

१. तद् व्याप्यव्यापकभावपक्षधर्मताज्ञानपूर्वकमनुमानमिति अनुमानसामान्यं लक्षितम्। तत्त्व कौमुदी।

मुख से होती है वहां पूर्ववत् एवं सामान्यतोदृष्ट तथा जहाँ व्यतिरेक मुख से होती है वहां शेषवत् अनुमान होता है। इनमें से पहले दो भेद विधायक होते हैं तो तीसरा शेषवत् निषेधक। विधायक को वीत तथा निषेधक को ही अवीत भी कहते हैं। जिस अनुमान में हेतु और साध्य के साहचर्य-नियम रूप व्याप्ति का दृष्टान्त प्रत्यक्ष रूप में देखा जाता हो, उसे ही पूर्ववत् कहते हैं। जैसे धूम को देखकर वह्नि का अनुमान। अथवा विषय का साक्षात्कार कर जहाँ सामान्य का अनुमान किया जाता है उसे पूर्ववत् कहते हैं। सामान्यतोदृष्ट वह है जहां किसी विशेष का साक्षात्कार संभव न हो। अपितु सामान्य नियम के आधार पर विशेष का विना प्रत्यक्ष के ही अनुभव किया जाय। उदाहरणतः रूपादि के साक्षात्कार की क्रिया से उन के करण इन्द्रियों का अनुमान। जहाँ जहां क्रिया होती है वहाँ वहाँ करण अवश्य होते हैं। रूपविज्ञान भी एक प्रकार की क्रिया ही है अतः इनके भी करण का होना अनिवार्य है। जो इनके करण हैं वही इन्द्रियाँ है। यहां किसी इन्द्रिय का उस रूप में पूर्वतः साक्षात्कार नहीं हुआ होता जिस रूप में महानस में वह्नि-विशेष का साक्षात्कार हुआ होता है। पूर्ववत् से सामान्यतोदृष्ट का यही भेद है। व्यतिरेक व्याप्ति से सम्पन्न होने वाला निषेधक अनुमान शेषवत् है। जैसे शब्द आठों द्रव्यों से अतिरिक्त द्रव्य पर आश्रित है क्योंकि उनमें से कोई भी उसका समवायि कारण नहीं है। जिसका समावायिकारण इनमें से ही कोई हो वह इनसे अतिरिक्त द्रव्य पर आश्रित नहीं हो सकता, जैसे रूप।

(३) आप्तवाक्य

तीसरा प्रमाण आप्तवाक्य है। आप्त, प्राप्त अर्थात् युक्त को कहते हैं तथा वाक्य श्रुति से होने वाला वाक्यार्थ ज्ञान है। वाक्यार्थ ज्ञान की आप्तता (प्रामाणिकता) दो प्रकार से सिद्ध होती है स्वतः एवं परतः। वेद जहाँ स्वतः प्रमाण हैं वहाँ स्मृति, पुराण एव शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित ज्ञान की प्रामाणिकता भी वेद पर ही निर्भर है। वेद मूलक होने से ही ये प्रमाण माने जा सकते हैं, अन्यथा नहीं। अतएव वेद स्वतःप्रमाण हैं तो पुराणादि परतः। आप्तवाक्य अर्थात् शब्द-प्रमाण के ये ही दो प्रकार हैं।

वाक्यार्थ को प्रमेय एव वाक्य को उसका लिङ्ग मानकर इसका अन्तर्भाव अनुमान में नहीं किया जा सकता। क्योंकि जैसे धूम अपने प्रमेय वह्नि का लिंग अर्थात् उसमें रहने वाला एक धर्म है उसी प्रकार वाक्य, वाक्यार्थ रूप प्रमेय का धर्म रूप लिंग नहीं होता। देवदत्त घर जाता है, इस वाक्य

का अथ देवदत्त की गमन क्रिया है। यह वाक्य उस क्रिया का धर्म कदापि नहीं हो सकता। क्योंकि वाक्य की स्थिति गमनक्रिया रूपी अर्थ में किसी भी सम्बन्ध से संभावित नहीं। अथवा वाक्य एवं वाक्यार्थ का सम्बन्ध पूर्ववत् गृहीत नहीं होता। प्रत्येक प्रयोक्ता अपना नया वाक्य ही प्रयुक्त करता है। इस प्रकार आप्तवाक्य का अनुमान में अन्तर्भाव संभव नहीं। वाक्यार्थ का इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष न होने से वह प्रत्यक्ष भी नहीं है। अत आप्तवाक्य को एक स्वतंत्र प्रमाण मानना ही चाहिये। यहाँ आप्तग्रहण से जैन, बौद्ध एवं चार्वाकों की मान्यताओं के प्रामाण्य का निराकरण करना अभीष्ट है। क्योंकि वे आप्त अर्थात् युक्त नहीं हैं।

सांख्य-सिद्धान्त में केवल इन्हीं तीन प्रमाणों को मान्यता दी गई है। इनके अतिरिक्त प्रमाण तथाकथित हैं एवं उनका अन्तर्भाव इन्हीं में साधित हो जाता है। इनके अतिरिक्त सबसे पहले नैयायिकों का उपमान प्रमाण आता है जो पूर्वत ज्ञातः वस्तु के सादृश्य के आधार पर साध्य का ज्ञान है।[1] जैसे 'यथा गौः तथा गवयः' वाक्य के आधार पर गाय के समान जन्तु-विशेष को देखकर उत्पन्न बुद्धि। इस उपमान का अन्तर्भाव अनुमान में ही इसलिये हो जाता है कि गवय वस्तु के ज्ञान का जनक उसी का एक धर्म गोसादृश्य है। वही यहां लिंग है जिसका विशेष गो में दृष्ट होने से यह पूर्ववत् कोटि का अनुमान ही है। इसी प्रकार 'अर्थापत्ति' भी प्रमाण नहीं हो सकती। पीन देवदत्त का दिन में भोजन न करने की बात सुनकर रात्रि में भोजन करने की कल्पना ही अर्थापत्ति है जिसका शेषवत् अनुमान में अन्तर्भाव इसलिये हो जाता है कि पीनत्व भोजन का ही परिणाम रूपी धर्म है। जो लिंग होकर रात्रि के भोजन की अनुमिति कराता है। क्योंकि जहाँ भोजन का अभाव है वहाँ पीनत्व का भी अभाव ही पाया जाता है। अतः अर्थापत्ति भी अनुमान ही है। जहाँ तक 'अभाव' का प्रश्न है वह भी प्रत्यक्ष से भिन्न नहीं है। हमें भूतल के विविध रूपों का इन्द्रियार्थसन्निकर्ष होता ही है। कभी वह घटादि किसी अन्य वस्तु से युक्त होता है तो कभी उनसे सर्वथा रहित केवल भूतल मात्र। उसका प्रत्यक्ष ही 'घटाभाववद्भूतलम्' का ज्ञान है। जहाँ तक 'ऐतिह्य' का प्रश्न है युक्ति एवं तर्क की कसौटी पर कसने से वह प्रमाण की ही कोटि में नहीं ठहरता। परम्परा से प्रचलित प्रवाद को जिसके वक्ता का कोई ठिकाना

---

१. प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्। न्याय सू० २।१।५२

नहीं है कि वह कौन है, प्रमाण के रूप कैसे स्वीकारा जा सकता है। इसप्रकार इस सारे विवेचन का निष्कर्ष यही निकला सांख्य-शास्त्र दृष्ट, अनुमान एवं आप्तवचन नामक जिन तीन प्रमाणों का प्रतिपादन करता है उनके अतिरिक्त प्रमाण का कोई अन्य प्रकार संभव नहीं। जो कुछ उपमानादि नाम मतमतान्तरों में प्राप्त होते हैं वे या तो प्रमाण ही नहीं है या हैं भी तो इन्हीं तीनों में से किसी न किसी में अन्तर्भूत हो जाते हैं।

इन तीनों प्रमाणों की उपयोगिता भी अपनी अलग-अलग है। दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण की गति इन्द्रियगोचर तत्त्वों तक ही सीमित है। पच्चीस तत्त्वों में से केवल पंचमहाभूत ही ऐसे हैं जिनका इन्द्रियों से साक्षात् सन्निकर्ष संभव है। अतः इन्द्रियां इनका ही बोध करा पाती हैं। तथा इनके द्वारा होने वाले सुख दुःख का भी अनुभव प्रत्यक्ष ही माना जाता है जिसे मानस प्रत्यक्ष कहते हैं। सांख्य शास्त्र के अनुसार चितिछायापन्न बुद्धि का अनुभव ही ज्ञान है जो प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द तीनों से होता है। इन्द्रियगोचर बाह्य पदार्थ विषयक बोध ही प्रत्यक्ष है। अनुमान के तीनों भेदों में से प्रथम पूर्ववत् तथा अन्तिम शेषवत् भी उन्हीं तत्त्वों का ज्ञान कराते हैं जो कभी न कभी इन्द्रियगोचर हो सकते हैं। अथवा जिनकी अनुभूति तो हमें होती है पर साक्षात्कार नहीं होता। सामान्यतोदृष्ट अनुमान से उन तत्त्वों की सत्ता प्रमाणित होती है जो कभी भी इन्द्रियगोचर नहीं हो सकते। ऐसे तत्त्व केवल दो हैं—प्रकृति और पुरुष। इनकी सत्ता का अनुमान ही होता है साक्षात्कार नहीं। बाह्याभ्यन्तर करण कार्य हैं अतः इनका कोई उपादान कारण अवश्य होना चाहिए जो भी उपादान-कारण होगा वह त्रिगुणात्मक अवश्य होगा, क्योंकि ये सभी त्रिगुणात्मक है, और वह उपादान मूलप्रकृति है। इसी प्रकार मन बुद्धि अंहकार और इन्द्रियाँ करण हैं जो किसी कर्ता के उपयोग की वस्तु हैं। करण किसी कर्ता के लिये होते हैं। धनुषवाण को देखकर जैसे उसके चलाने वाले की सत्ता का बोध हमें उसे देखे विना ही हो जाता है, वैसे ही इन करणों के उपयोक्ता पुरुष की सत्ता भी इसी सामान्यतोदृष्ट नामक अनुमान से प्रमाणित हो जाती है। इसप्रकार सामान्यतोदृष्ट अनुमान से ही प्रकृति एवं पुरुष दोनों की सत्ता प्रमाणित होती है।[1] किन्तु स्वर्ग एवं अपवर्ग की सिद्धि अनुमान से भी संभव नहीं। अतएव उसके लिये आप्तवचन प्रमाण का उपन्यास किया गया है। जिस प्रकार वैदिक यज्ञयागदि में जिस स्वर्ग का निरूपण किया गया है उसमें श्रुति

---

१. सामान्यतोदृष्टादुभयसिद्धिः। सां० सू० १।१०३

ही प्रमाण है उसी प्रकार पुरुष के अपवर्ग रूप कैवल्य अर्थात् मोक्ष की सत्ता एवं उसके स्वरूप आदि के विषय में कपिल आदि आप्तपुरुषों के वचन ही प्रमाण हैं। प्रत्यक्ष या अनुमान से उनकी सिद्धि संभव नहीं। सांख्य सिद्धान्त के अनुसार संक्षेप में प्रमाण का यही निरूपण है।

४. सत्कार्यवाद

कोई भी कार्य बिना किसी कारण के सम्पन्न नहीं होता। इस कथन में किसी को भी कोई विप्रतिपत्ति नहीं। पर कारण और कार्य का स्वरूप क्या है? तथा कार्य कारण से सर्वथा भिन्न होता है या उसीका परिवर्तितरूप? इत्यादि प्रश्न अत्यन्त विचारणीय हैं। कार्यकारण भाव सम्बन्ध के अनुसार यदि इस ब्रह्माण्ड के मूलकारण का अनुसंधान करते हैं तो अनवस्था दोष आता है। क्योंकि प्रत्येक कार्य का कोई कारण होता है जो अपने कारण का कार्य भी है। इसलिये कार्यकारणभाव की स्पष्टव्याख्या अपेक्षित है जिसे दार्शनिकों ने की भी है। उपनिषदों में भी इस प्रकार की जिज्ञासा का विवेचन प्राप्त होता है कि सृष्टि के पूर्व कोई सत्ता थी या नहीं।

एक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाऽद्वितीयम्।

यह कार्यकरण भाव दो प्रकार से व्यवस्थित किया जाता है कारणवाद और कार्यवाद। कारणवाद भी दो प्रकार का होता है सत्कारणवाद और असत्कारण वाद। इसी प्रकार कार्यवाद भी दो प्रकार का है सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद।

असत्कारणवाद का अभिप्राय यह है कि कारण की किसी वास्तविक सत्ता के बिना ही कार्य की उत्पत्ति हो जाना। यह सिद्धान्त शून्यवादी बौद्धों का है। उनका मत है कि कोई भी कारण स्वयं विनष्ट हुए बिना किसी कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता। उदाहरणतः वीज के विनाश से ही आंकुर उत्पन्न होता है जो उस वीज का कार्य है। इसका अर्थ यह है कि इस सृष्टि की उत्पत्ति किसी वस्तु के विनाश अर्थात् अभाव से हुई है। और उत्पन्न होकर यह सत् अर्थात् वास्तविक है। यह प्रक्रिया जगत् की प्रत्येक वस्तु में जो पाई जाती है उसका यही रहस्य है। इसके ठीक विपरीत मत अद्वैतवादी वेदान्तियों का है जो यह मानते हैं कि वस्तुतः सत् अर्थात् तीनों काल में निरन्तर एकसा बना रहने वाला तत्त्व तो एक ही है और एक से दो या अधिक हो भी नहीं सकता। निखिल सृष्टि-प्रपंच जो कार्य के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित है वह नामरूपात्मक

है। नाम और रूप कोई ऐसें तत्त्व नहीं हैं जो परमार्थतः सत् हों। इनकी परीक्षा करने पर जो तत्त्व परमार्थतः सत् मिलता हैं वह आत्मा अर्थात् चैतन्य है जो केवल एक ही है। आकाशादि स्थूलभूत ही नहीं मन, बुद्धि आदि सूक्ष्म तत्त्व भी स्वतः कोई ऐसे तत्त्व नहीं हैं जो परमार्थरूप से सत् हों। अपितु यह निखिल ब्रह्माण्ड कारण-भूत उसी आत्म-तत्त्व का विवर्त है। जिसका अभिप्राय यह है कि आत्म-तत्त्व इन रूपों में परिणत नहीं हो गया है अपितु प्रतीत मात्र होता है। कहा भी है—अतात्त्विकोयोऽन्यथाभावो विवर्तः स उदीरितः।

नैयायिकों का सिद्धान्त कारण की अपेक्षा कार्य को दृष्टि में रखकर विचार करता है। उनका कहना है कि कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व कहीं भी किसी भी रूप में विद्यमान नहीं रहता, बल्कि सर्वथा एक नवीन वस्तु के रूप में उत्पन्न होता है। यहां यह अभिप्रेत नहीं है कि अभाव या कारण के विनाश से कार्य पैदा होता है अपितु कारण व्यापार से। कारण को लेकर कर्ता कुछ विशेष प्रकार का व्यापार करता है जिसके फलस्वरूप एक नवीन वस्तु कार्य के रूप में उत्पन्न हो जाती है जो अपने कारण से तत्त्वतः भी भिन्न होती है। इस प्रकार कार्य एवं कारण दोनों ही परमार्थतः तो सत् हैं पर एकरूप या अभिन्न नहीं। जिन परमाणुओं से यह सृष्टि बनी हैं वे तो सत् हैं ही उनसे निर्मित यह सृष्टि असत् इस रूप में कही जा सकती है कि वह अपनी उत्पत्ति के पूर्व अथवा कारण व्यापार के पूर्व किसी भी रूप में विद्यमान नहीं थी। इस प्रकार कार्य का कारण-व्यापार अथवा अपनी उत्पत्ति के पूर्व विद्यमान रहना ही असत्कार्यवाद है। कार्य यदि अपनी उत्पत्ति के पूर्व से ही विद्यमान रहे तो किसी के कर्तृत्व का क्या अर्थ है। विना किसी सचेतन कर्ता के किसी भी कार्य का उत्पन्न होना सर्वथा असंभव है।

सांख्य सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य को कार्यकारण भाव के उक्त तीनों में से कोई भी वाद स्वीकार्य नहीं हुआ। इसका कारण यह है कि इनको स्वीकार करने पर सांख्य सिद्धान्त के मूलतत्त्व प्रधान अर्थात् मूलप्रकृति की सिद्धि नहीं हो पाती, जो अव्यक्त है। सांख्य को एक ऐसे वाद की आवश्यकता थी जिसके अनुसार वह निखिल विश्वप्रपञ्च को एक रूप में समेट कर उसे सबका मूलकारण सिद्ध कर दे, वह एक तत्त्व चाहे सर्वथा अव्यक्त ही क्यों न हो। इसीलिये उसने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि कार्यों में परस्पर की अनुरूपता इस बात को बताती है कि उन सबके मूल में कोई एकतत्त्व है जिससे ये

सब उत्पन्न हुए हैं। इतना ही नहीं वह कारण ही कार्य के रूप में परिणत होकर प्रतिभासित हो रहा है। इसका अभिप्राय यह है कि कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व भी अपने कारण में विद्यमान रहता है और कारण व्यापार होने पर प्रगट हो जाता है। इस प्रकार कार्य का आविर्भाव और तिरोभाव हुआ करता है, नयी उत्पत्ति और विनाश नहीं। सूक्ष्मरूप से अपने कारण में वर्तमान कार्य का आविर्भाव ही उसकी उत्पत्ति तथा कारण में पुनः तिरोभाव ही उसका विनाश है जो कछुए के हाथ पैर के समान आवश्यकतानुसार आविर्भूत और तिरोभूत हुआ करता है। इसी को सत्कार्यवाद कहते हैं।

इस सिद्धान्त से एक ओर जहां प्रत्येक तत्त्व की उत्पत्ति का स्रोत मिल जाता है वहां सभी कार्यों का अपनी कारण परम्परा में अन्तर्भाव होते हुए सबके मूलकारण प्रकृति की सत्ता भी सिद्ध हो जाती है, जो कथमपि इन्द्रियगोचर नहीं। ब्रह्माण्ड के निखिल तत्त्वों का एकमात्र त्रिगुणात्मिका मूल-प्रकृति में समावेश कर तथा उसे जड़ सिद्ध करके प्रकृति एवं पुरुष अर्थात् जड़ एवं चेतन दोनों ही तत्त्वों को परमार्थ रूप में सत् बताकर द्वैत-वाद की प्रतिष्ठा करना ही सांख्य का लक्ष्य है जिसकी सिद्धि का सोपान उसका सत्कार्यवाद का यह सिद्धान्त है।

पूर्व वादों में विप्रतिपत्ति का प्रदर्शन करते हुए सांख्यशास्त्रियों का कहना है कि बौद्धों के असत्कारणवाद के अनुसार यदि असत् से सत् की उत्पत्ति के वाद स्वीकार कर लिया जांय तो सत् और असत् में अभेद संभव न होने से अनिर्वचनीय एवं अभावरूप कारण से शब्द एवं रूपात्मक सुखादि रूप यह जगत् किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है? क्योंकि सुखदुःखादि रूप कार्य का जो कारण है उसका भी सुखदुःखादि रूप होना ही उचित है। कार्य एवं कारण को एक रूप अर्थात् अभिन्न न मानें तो भी किसी न किसी अंश में अनुरूप तो मानना ही होगा। अन्यथा कोई व्यवस्था नहीं बनेगी। कार्य के रूप एवं गुण को समझकर तदनुरूप रूपगुण से संवलित वस्तु को ही उसकी उत्पत्ति के लिए ग्रहण किया जाता है। जहां तक एकमात्र सत् आत्मा से असत् रूप निखिल प्रपञ्च की भ्रान्त प्रतीति के वेदान्तियों के सिद्धान्त का सम्बन्ध है वह इसलिये उपयुक्त नहीं है कि उससे कार्य एवं कारण का तादात्म्य नहीं बनता। क्योंकि जब कार्य वस्तुतः कुछ है ही नहीं तो उससे कारण की एक रूपता कैसी? इसके अतिरिक्त निरन्तर प्रत्यक्षतः अनुभूयमान जगत् का असत् कहकर निरूपण करना वदतोव्याघात नहीं तो और क्या है। इसलिए

असत् से सत् एवं सत् से असत् की उत्पत्ति के विधायक दोनों ही वाद विचारणीय नहीं हैं। विचारणीय पक्ष केवल नैयायिकों का ही है जो यह मानते हैं कि कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व कारण में विद्यमान नहीं रहता। उनके इस कथन के विरोध में पांच युक्तियों का उपन्यास सांख्यकारिका में हुआ है जो एक ही कारिका में अनुस्यूत हैं :—

असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसंभवभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥

इसका अर्थ है कि कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व या कारण के कार्योत्पत्ति के अनुकूल व्यापार के पूर्व भी विद्यमान रहता है क्योंकि :—

१. असदकरणात्:—जो सत् अर्थात् किसी न किसी रूप में कहीं विद्यमान नहीं है उसे उत्पन्न नहीं किया जा सकता। जगत् में कोई भी वस्तु सर्वथा नवीन उत्पन्न नहीं होती। क्योंकि अभाव का भाव कथमपि नहीं हो सकता। कहा भी है—नासतो विद्यते भावः। यदि अभाव से ही भाव की की उत्पत्ति होने लगे तो अभाव के सर्वत्र सुलभ होने से सभी वस्तुओं की उत्पत्ति सर्वत्र स्वतः होनी चाहिये जो कदापि नहीं होती। अथवा जो वस्तु जिसमें विद्यमान नहीं है। उससे उसकी उत्पत्ति मानने पर किसी भी वस्तु में किसी अन्य वस्तु की उत्पत्ति हो सकती है, पर होती नहीं है। यदि यह कहें कि सत् एवंअसत् दोनों ही वस्तु के धर्म हैं जो बारी-बारी से उसमें रहते हैं। तो यह बात इसलिये सही नहीं है कि असत् अवस्था में जब वस्तु ही नहीं रहती तो उसमें उसके धर्म के विद्यमान होने का प्रश्न ही कहां उठता है। पेरने से तिलसे तेल, कूटने से धान से चावल तथा दुहने से गाय से दूध निकलता है, जो इस बात का प्रमाण है कि तेल, चावल और दूध निकलने के पहले से ही तिल, धान एवं गाय में विद्यमान थे। इससे यही सिद्ध होता है कि कार्य वस्तु अपनी उत्पत्ति के पूर्व भी अपने कारणवस्तु में विद्यमान थी, कारण के कार्योत्पादक व्यापार के अनन्तर वह व्यक्त हो गई। सांख्यसूत्र में इस का दृष्टान्त देते हुए कहा है कि जिसप्रकार मनुष्य के सींग नहीं हैं अतएव वह निकलती भी नहीं।[1] गाय, बैल आदि जिसमें वह पूर्वतः विद्यमान होती है उसी को निकलती है।

---

१. नासदुत्पादो नृश्रृङ्गवत्। सां०सू० १।११४

२. उपादानग्रहणात् :—कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व भी कारण में विद्यमान रहता है, इसकी सिद्धि में दूसरी युक्ति उपस्थापित करते हैं कि जब भी किसी कार्य को हम करना चाहते हैं तो उसके उपादान कारण का ग्रहण करते हैं। उपादान वही वस्तु है जिसमें कार्य समवाय सम्बन्ध से रहता है। अर्थात् कार्य जिसमें पूर्वतः विद्यमान होता है उसी को उस कार्य का उपादान कहते हैं। कहने का आशय यह है समवाय सम्बन्ध से कार्य अपने उपादान से सम्बन्धित रहता है। कार्य की असद् अवस्था में उपादान के साथ उसका संबंध कैसे बन सकता है। क्योंकि सम्बन्ध सर्वदा उभयाश्रित होता है। जब तक कारण के साथ कार्य की समकालीन सत्ता नहीं मानेंगे तब तक उनमें संबन्ध बन नहीं सकता। घड़ा का उपादान मिट्टी है। उसमें घड़ा पहिले ही सूक्ष्मरूप में विद्यमान है तभी घड़ा बनाने के लिए कुम्हार मिट्टी ही ले आता है। यदि यह कहा जाय कि कारणों से बिना किसी सम्बन्ध के ही कार्य की उत्पत्ति व्यवस्थित हो सकती है तो उससे जो गड़बड़ी होगी, उसके निरूपणार्थ अगली युक्ति देते हैं—

३. सर्वसंभवाभावात् :—बिना किसी सम्बन्ध के ही कारण से कार्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने पर सभी प्रकार के कार्य सभी कारणों से सम्पन्न होने चाहियें। पर ऐसा होता नहीं। कोई वस्तु किसी निश्चित वस्तु से ही उत्पन्न होती है सबसे नहीं। अन्यथा लोगों की सारी परेशानी दूर हो जाती। कोई वस्तु कहां होती है कहां नहीं यह विवाद ही समाप्त हो जाता। जिसके पास जो वस्तु है उसी से वह सभी वस्तुएं बना लेता। पर किसी भी एक कारण में सभी प्रकार के कार्यों को उत्पन्न करने की क्षमता कथमपि नहीं।

४. शक्तस्य शक्यकरणात् :—कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि बिना किसी सम्बन्ध के ही कारणों से कार्य की उत्पत्ति हो जाती है। फिर वहां कैसे व्यवस्था बनती है? उसका उत्तर दिया है शक्तस्य शक्यकरणात्। इसका अर्थ यही है जो कारण जिस कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ होता है वही उसे उत्पन्न कर सकता है, अन्य नहीं। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि कारण में रहने वाली वहशक्ति सर्वत्र होती है या समर्थ में ही केवल। यदि सर्वत्र होती है तो अव्यवस्था वैसी की वैसी बनी रहती है। और यदि यह कहें कि वह शक्ति शक्य अर्थात् समर्थ कारण में ही रहती है तो कार्य के विद्यमान रहने के बिना ही उसमें कार्योत्पादन का सामर्थ्य कैसे सिद्ध हो सकता है? इसपर यह कहा जा सकता है कि सभी कारणों में

शक्ति समान नहीं होती। अतः यह शक्ति की सीमा ही है कि वस्तु या व्यक्ति किसी कार्यविशेष को ही पैदा करे सबको नहीं। इसका उत्तर यही है कि क्या वह शक्तिविशेष कार्य से संम्बद्ध है या असंबद्ध। यदि संबद्ध है तो वह असत् अर्थात् कुछ है ही नहीं ? यह कैसे हो सकता है क्योंकि असत् के साथ संबद्ध होना सम्भव ही नहीं। असम्बद्ध होने पर वही अव्यवस्था। अतः यह ठीक ही कहा कि—शक्तस्य शक्यकरणात्।

५. कारणभावात् च :—कार्य कारण से इसलिए भी भिन्न नहीं है कि कार्य सर्वदा कारणात्मक ही होता है। कारण से भिन्न कार्य नहीं होता। जब कारण सद्रूप है तो उससे अभिन्न कार्य असत् कैसे हो सकता है ? पट तंतुओं से भिन्न नहीं हैं क्योंकि वह तन्तुओं का ही एक धर्म है। जो जिससे भिन्न होता है वह उसका धर्म नहीं होता, जैसे गाय, अश्व से भिन्न है तो वह उसका धर्म भी नहीं है। कारणभाव का अर्थ उपादानोपादेयभाव भी हैं। जिन वस्तुओं में उपादानोपादेयभाव होता है वे एक दूसरे से सर्वथा भिन्न नहीं होतीं।

यहां यह कहा जा सकता है कि जिन दो वस्तुओं में अर्थक्रिया भिन्न भिन्न होती हैं वे एक दूसरे से भिन्न हैं। तन्तु से कपड़ा सीने का काम लिया जाता है तथा पट से आच्छादन का। घड़े से जल ले आया जाता है जो मिट्टी से कदापि संभव नहीं। ऐसी स्थिति में दोनों को अभिन्न कहना कहां तक उपयुक्त है ? इसका उत्तर यह है कि अर्थ-क्रिया की व्यवस्था वस्तु के भिन्न होने का कारण नहीं है। एक ही अग्नि के दाहक, पाचक और प्रकाशक होने से वह अनेक नहीं हो जाता। इसके विपरीत अनेक भृत्य मिलकर पालकी ढोने का एक काम करते हैं उससे वे सब अभिन्न नहीं हो सकते। जहां तक तन्तुओं का सम्बन्ध हैं अकेले वह अच्छादन नहीं कर सकते पर मिलकर वही आच्छादन करने लगते हैं। इस उपर्युक्त युक्ति से यही सिद्ध होता है कि कार्य कारण व्यापार के पूर्व भी विद्यमान रहता है। उसका कार्य के रूप में आविर्भाव हुआ करता है। इस प्रकार इस सिद्धान्त के आधार पर पञ्चमहाभूत से लेकर महत् तक के सभी स्थूल सूक्ष्म तत्त्व अपने कारणों में तिरोहित होते हुए अन्त में तीनों गुणों में विलीन रहते हैं जिनकी साम्यावस्था का ही नाम मूलप्रकृति, अव्यक्त या प्रधान है। सत्कार्यवाद के सिद्धान्त की यही कृतार्थता है।

सदेवकार्यमुत्पत्तेः पूर्वं कारकरूपकम्।
आविर्भावतिरोभावौ जन्मनाशावुदीरितौ॥

५. सृष्टि एवं प्रलय

(क) जगत् का कारणतत्त्व

सर्वतः परिदृश्यमान इस जगत् का कारण कौनसा तत्त्व है इसका विवेचन प्रायः सभी दार्शनिक करते हैं। उपनिषदों में भी यह प्रश्न उठाया है कि इस विशाल ब्रह्माण्ड का मूल कारण क्या है ? इसके अनेक प्रकार से उत्तर भी दिए गए हैं। कोई काल को, कोई स्वभाव को, कोई नियति को, कोई यदृच्छा को तथा कोई ईश्वर को इस जगत् का कारण मानते हैं। ये सब उत्तर निमित्त कारण को ध्यान में रखकर दिये गए हैं। जगत् का उपादान कारण भी होना चाहिए। जिस तत्त्व से यह जगत् बना है वह क्या है ? यह जिज्ञासा अत्यन्त समीचीन है।

नैयायिक परमाणुओं को जगत् का उपादान एवं ईश्वर को इसका निमित्त कारण मानते हैं। वेदान्ती चित्तत्त्व आत्मा को ही इसका निमित्त एवं उपादान उभय कारण सिद्ध करते हैं। सांख्यशास्त्रियों का कहना है कि इस जगत् में चेतन और जड़ दोनों की सत्ता है। एक ओर जहां नदी पर्वत आदि ऐसे जड़ पदार्थ हैं तो दूसरी ओर मनुष्य, पशु, पक्षी ऐसे हैं जो चेतन कहे जाते हैं। जड़ एवं चेतन का संयोग भी हमें सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। उलझन यह है कि जड़ चेतन का कारण है या चेतन जड़ का ? आधुनिक वैज्ञानिक प्राचीन चार्वाकों की तरह जड़ से ही चेतन का विकास मानते हैं, जड़ ही चेतन के रूप में परिणत हो जाता है। वेदान्त का दृष्टिकोण इसके सर्वथा विपरीत है कि निखिल प्रपञ्च का मूल परम चेतन तत्त्व है। जड़ वस्तुतः कोई तत्त्व नहीं है। चेतन का ही नामरूपात्मक विवर्त यह निखिल ब्रह्माण्ड है। सांख्य-दर्शन इन दोनों से ही सहमत नहीं। इसका कहना है कि जड़ एवं चेतन दोनों ही तत्त्व सर्वथा स्वतन्त्र हैं, इनमें से कोई भी दूसरे का कारण या कार्य नहीं हो सकता। यह निखिल जगत् जड़ होते हुए भी स्वतः क्रियाशील है। चेतन तत्त्व सर्वथा निष्क्रिय है। अखिल विश्व का मूल त्रिगुणात्मिका प्रकृति है। सत्त्व, रज एवं तम नामक गुण ही इस जगत् के उपादान कारण हैं जो चेतन तत्त्व के संयोग से क्षुब्ध होकर अनेक सजातीय एवं विजातीय तत्त्वों में परिणत हो जाते हैं।

(ख) गुणत्रय

सांख्य-दर्शन अपने सत्यकार्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार यह मानता है कि इस जगत् में जो कुछ भी अनुभव पक्ष में आता है वह निर्मूल नहीं है।

यद्यपि जगत् की प्रत्येक वस्तु हमें विलक्षण दिखाई देती है पर परीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि वस्तुओं के स्वभाव में बहुत अधिक साम्य भी है। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जो सुखदुःखमोहात्मक न हो। जो धर्म कार्य के सभी भेदों में पाये जाते हैं वे कारण के ही होते हैं अर्थात् कारण में ही सूक्ष्म रूप से वर्तमान थे, ऐसी मान्यता सांख्य शास्त्रियों की है जिसका आधार सत्कार्यवाद है। जगत् के पदार्थों में रूप-रंग का जो वैविध्य है अथवा स्थूलता एवं सूक्ष्मता के बावजूद भी उनमें जो एकरूपता है, वही इनके मूलतत्त्व का स्वरूप हो सकता है। इस प्रकार कार्य जगत् में उपलभ्यमान अनेकता में एकरूपता के आधार पर हम सुख दुःखमोहात्मकता को निखिल प्रपञ्च में व्याप्त पाते हैं। अतः यही इनके मूलतत्त्व का धर्म है, इस बात का अनुमान हम सरलता से कर सकते हैं।

सुख, दुःख और मोह की सर्वव्यापकता हमें यह भी बताती है कि जगत् का कारण तत्त्व स्थूल नहीं अपितु अत्यन्त सूक्ष्म है। सांख्य ने इसी आधार पर सुख के मूल सत्त्व, दुःख के मूल रजस् एवं मोह के मूल तमस् नामक तीन गुणों की कल्पना अनुमान के आधार पर की है। सत्त्वगुण लघु एवं प्रकाशक होता है। रजोगुण स्वयं गतिशील होकर दूसरों को भी गतिप्रदान करता है। तमोगुण ठीक इसके विपरीत स्वयं जड़ है और अपने भारीपन से दूसरों की प्रवृत्ति को रोकता है।[1] ये क्रम से सुखात्मक, दुःखात्मक एवं मोहात्मक होते हैं तथा प्रकाश, प्रवृत्ति एवं नियमन करते हैं।[2] इनकी दो अवस्थाएं होती हैं। एक तो ये अपने प्रवाह में निरन्तर प्रवाहित होते रहते हैं यह साम्यावस्था है, दूसरी वैषम्यावस्था इनके परस्पर के संयोग से होती है। पूर्वावस्था में इनमें कोई परिणाम नहीं होता जबकि दूसरी अवस्था में इनसे निखिल विश्व की सृष्टि हो जाती है। इनकी पूर्वावस्था को ही मूल-प्रकृति, प्रधान एवं अव्यक्त के नाम से अभिहित किया जाता है तो दूसरी को क्षुब्धावस्था या सृष्टि की अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में तीनों गुण अपने स्वभाव के कारण कभी अपने में ही एक दूसरे को दबाने की चेष्टा में लगे रहते हैं तो कभी किसी कार्य की उत्पत्ति के लिए एक दूसरे का आश्रय भी बन जाते हैं।[3] इनके परस्पर के संश्लेष का ही परिणाम महत् आदि पदार्थों

---

१. सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरु वरणकमेव तमः ....। सांख्य का० १३

२. प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः ।। सां० का० १२

३. अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः। वही १२

की उत्पत्ति है जिसे ही सृष्टि कहते हैं। इस प्रकार ये गुण ही इस जगत् के उपादान कारण हैं जिनसे स्थूल सूक्ष्म निखिल प्रपञ्च की सृष्टि होती है।

(ग) सृष्टि की प्रक्रिया

पूर्व विवेचन से यह सिद्ध हो गया कि जगत् का उपादान कारण त्रिगुणात्मिका प्रकृति है। पुरुष तत्त्व से उसका संयोग ही इसका निमित्त कारण है। इस संयोग से जड़ प्रकृति सचेतन सी हो जाती है और उसकी क्रियाशीलता निष्क्रिय पुरुष पर आरोपित हो जाती है जिसका परिणाम यह होता है त्रिगुणात्मिका प्रकृति नये-नये तत्त्वों के रूप में परिणत होने लगती है। इसका प्रथम परिणाम बुद्धि के रूप में होता है जिसका लक्षण अध्यवसाय अर्थात् निश्चय करना है। इसी को महत्तत्त्व भी कहते हैं। इसको 'महत्' सम्भवतः इसलिए कहते हैं कि अव्यक्त प्रकृति का प्रथम परिणाम यही तत्त्व है जिसमें निखिल ब्रह्माण्ड के उत्पादन की क्षमता है। यह दो प्रकार का होता है सात्त्विक एवं तामस धर्म, ज्ञान, विराग एवं ऐश्वर्य नामक भाव इसके सात्त्विक रूप के परिचायक हैं तो इसका एक रूप तामस भी हैं जिसके भाव अधर्म, अज्ञान, राग एवं अनैश्वर्य हैं।

महत्तत्त्व से अहंकार की उत्पत्ति होती है। प्रमातृत्व की भावना ही अभिमान है जो विषयों को अपने से सम्बन्धित कर समझने की एक प्रवृत्ति है। यह अभिमान ही कि 'मैं ही अधिकारी हूं', ये विषय मेरे हैं' आदि अहंकार का लक्षण है। इस अहंकार से विषय और विषयी दो प्रकार की सृष्टियां होती हैं। विषयी एकादश इन्द्रियाँ हैं और इनके विषय पञ्चतन्मात्राएँ। इस अहंकार के तीन प्रकार होते हैं, वैकृत, भूतादि और तैजस। वैकृत में सत्त्व की, भूतादि में तम की तथा तैजस में रजोगुण की बहुलता होती है। अतएव वैकृत अहंकार से विषयों की प्रकाशिका इन्द्रियाँ एवं मन पैदा होते हैं तो भूतादि से तमोगुणमय पञ्चमहाभूतों की उपादान पञ्चतन्मात्राएँ। तैजस दोनों प्रकार की सृष्टियों में सहायक होता है।

एकादश इन्द्रियों में श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना एवं घ्राण नामक पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ; वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ नामक पाँच कर्मेन्द्रियां तथा मन हैं। ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों की प्रवृत्ति बिना मन के योग से नहीं हो सकती, अतः यह उभयात्मक है। ये ग्यारह तत्त्व विषयों के प्रकाशक होने से विषयी हैं। इनके विषय पाँचों तन्मात्राएँ हैं जिनसे पाँच महाभूत पैदा होते हैं।

शब्द तन्मात्रा से आकाश, स्पर्शतन्मात्रा से वायु, रूपतन्मात्रा से अग्नि, रस-तन्मात्रा से जल, तथा गन्धतन्मात्रा से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई है।[1] सृष्टि का यही क्रम है। इहीं तत्त्वों के परस्पर योग से स्थावर एवं जंगम निखिल जगत् की उत्पत्ति होती है। गाय, वृक्ष एवं घड़े आदि पदार्थ स्वतन्त्र तत्त्व नहीं हैं अपितु उक्त तत्त्वों के ही मिश्रण से उत्पन्न होते हैं। इसलिए इनकी गणना तत्त्व के रूप में नहीं होती। इनमें जो स्थूलता और इन्द्रियग्राह्यता है वह पृथ्वी आदि के समान ही है। अतः ये तत्त्वान्तर नहीं हैं। संक्षेप में सृष्टि का यही क्रम है। प्रलय के समय निखिल स्थूल जगत् पञ्चमहाभूतों में विलीन हो जाते हैं, पञ्चमहाभूत क्रमशः अपनी अपनी तन्मात्राओं के द्वारा अहंकार तथा महत्तत्त्व में अन्तर्भूत होकर अंततोगत्वा गुणत्रय में विलीन हो जाते हैं। यही प्रलय हैं।

यह तो तन्मात्रसृष्टि का निरूपण हुआ जिसे लिङ्गसर्ग भी कहते हैं। इसके अतिरिक्त बुद्धि की सृष्टि भी हैं जिसे प्रत्ययसर्ग या भावसर्ग कहते हैं। धर्मादिभावों से युक्त होकर ही बुद्धि उनसे समन्वित सूक्ष्म-शरीर की रचना करती है। ये भाव इसलिए कहे जाते हैं कि लिङ्ग की भावना या सृष्टि इन्हीं से होती है।[2] ये आठ हैं, धर्म-अधर्म, ज्ञान-अज्ञान, विराग अविराग (राग), ऐश्वर्य-अनैश्वर्य।

भावसर्ग में विपर्यय, अशक्ति तुष्टि एवं सिद्धि आते हैं। विपर्यय अज्ञान या मिथ्याज्ञान को कहते हैं। अशक्ति इन्द्रियों एवं बुद्धि की अपने विषय को ग्रहण करने की असामर्थ्य है। भौतिक विषय में ही सन्तुष्ट रहना तुष्टि तथा परम पुरुषार्थ की प्राप्ति ही सिद्धि है। तम, मोह, महामोह, तामिस्र तथा अन्धतामिस्र, विपर्यय के ये पाँच भेद हैं। जिन्हें ही क्रमशः, अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश के रूप में पञ्चक्लेशों के नाम से जाना जाता है। अशक्ति के अट्ठाईस प्रकार होते हैं जिनमें एकादश इन्द्रियों का वध एवं नव अतुष्टियां तथा आठ असिद्धियां आती हैं। तुष्टियाँ बाह्याभ्यन्तरभेद से नौ प्रकार की होती हैं जिनमें प्रकृति, उपादान, काल एवं भाग ये आध्यात्मिक

---

१. प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥ सां० का० २२

२. धर्मादिभिरन्विता बुद्धिस्तदन्वितं सूक्ष्मशरीरमित्युक्तम्।
भावयन्ति यतो लिङ्गं तेन भावा इति स्मृताः ॥

अर्थात् आभ्यन्तर हैं, शेष विषयों के अर्जन, रक्षण, क्षय, भोग एवं हिंसा दोष से उत्पन्न पांच बाह्य हैं। अध्ययन, शब्द, ऊह, सुहृत्प्राप्ति, दान तथा त्रिविध दुःख की तीन प्रकार की विनिवृत्ति ये आठ ही सिद्धियां हैं। संक्षेप में यही भाव अर्थात् प्रत्यय-सर्ग है।[१] इसकी सार्थकता लिङ्गसर्ग से है तथा लिङ्ग की सार्थकता इस भावसर्ग से है। इसीलिए दोनों की सृष्टि हुई है—

न बिना भावैर्लिङ्गं न बिना लिङ्गेन भावनिर्वृत्तिः।
लिङ्गाख्यो भावाख्यः तस्माद्द्विविधः प्रवर्तते सर्गः॥[२]

६ प्रधान (मूलप्रकृति)

सांख्य-दर्शन के अनुसार जगत का मूलकारण प्रकृति है जो 'प्रकर्षेण क्रियन्ते यस्याः सा प्रकृतिः' की व्युत्पत्ति के द्वारा महदादि तेईस तत्त्वों की उत्पादिका होने से इसकी अन्वर्थ संज्ञा है। इसे अव्यक्त भी इसलिए कहते हैं कि यह इन्द्रियगोचर कभी नहीं होती। इसकी सत्ता का हम अनुमान ही करते हैं। इसका एक नाम प्रधान भी है जिसका अभिप्राय यह है कि अन्त में सभी भौतिक तत्त्व इसी में निहित होते हैं 'प्रकर्षेण धीयते स्थाप्यते अत्र अखिलम् इति प्रधानम्।' प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। सत्त्व, रज एवं तम ही तीनों गुण हैं जो इसके स्वरूपात्मक हैं, धर्म या गुण नहीं। वस्तुतः तीनों गुणों के अतिरिक्त प्रकृति कोई अन्य तत्त्व नहीं है। इन गुणों की स्थिति दो प्रकार से होती है साम्य एवं वैषम्य। साम्यावस्था में केवल गुण ही रहते हैं।[३] यही प्रलयावस्था कहलाती है। वैषम्यावस्था में ये ही तीनों गुण परस्पर विभिन्न अनुपातों में मिश्रित होकर सृष्टि के रूप में परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार यह प्रधान ही जगत् का उपादान कारण है जिसमें निखिल ब्रह्माण्ड सूक्ष्मरूप में निहित है।

प्रधान के अस्तित्व में प्रमाण—पहले कहा जा चुका है कि प्रधान अर्थात् मूल-प्रकृति की सत्ता प्रत्यक्षतः नहीं होती अपितु उसकी सिद्धि अनुमान से होती है। धर्म से धर्मी की सत्ता का ज्ञान ही अनुमान है।[४] इस जगत् में उपलभ्यमान अशेष पदार्थ अचेतन, अविवेकी, विषय, सामान्य तथा प्रसवधर्मी हैं। कार्य के वे धर्म कारण से ही आते हैं जिनकी उपलब्धि कार्य के सभी प्रकारों

---

१. सां० का० ४६-५१ २. सां० का० ५२
३. सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। सां० सू० १-६१
४. कार्यात् कारणानुमानं तत्साहित्यात्। सां० सू० १।१३५

में होती है। अविवेकिता आदि धर्म ऐसे ही हैं। परीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि कार्य-जगत् के ये धर्म उसमें निहित गुणत्रय के कारण हैं। क्योंकि पुरुष में जहाँ तीनों गुणों का सर्वथा अभाव होता है, ये अविवेकता आदि धर्म कथमपि नहीं पाए जाते। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि निखिल प्रपञ्च का कोई मूल कारण अवश्य है जो त्रिगुणात्मक है। यहाँ पर व्यतिरेक-व्याप्ति के द्वारा ही कि 'जो त्रिगुणात्मक नहीं हैं, वह अविवेकिता आदि' धर्मों से युक्त भी नहीं हैं जैसे पुरुष,' प्रकृति की सत्ता सिद्ध होती है।[1] इस प्रकार गुणत्रय रूपी लिङ्ग (हेतु) से ही अव्यक्त प्रकृति की सत्ता प्रमाणित हो जाती है।[2]

प्रधान की सत्ता इसलिए भी सिद्ध होती है कि महत् से लेकर स्थूल भूतपर्यन्त व्यक्त जगत् के जितने भेद हैं वे परिमित हैं अर्थात् कुल तेईस ही हैं। इससे हम यह अनुमान करते हैं कि इनका कोई न कोई कारण अवश्य है जिससे ये इस परिमित संख्या में ही उत्पन्न हुए हैं। यदि इनका कोई कारण न होता तो ये अपरिमित होते। अथवा ये तत्त्व अपरिमित अर्थात् व्याप्य हैं जो किसी अन्य व्यापक तत्त्व की सत्ता के अनुमापक हेतु बनते हैं।[3] व्याप्य-व्यापक भाव ही व्याप्ति है जिसके आधार पर व्याप्य पदार्थ से व्यापक पदार्थ की अनुमिति होती है।

व्यक्त के इन भेदों में एकरूपता भी पाई जाती है। सुख दुःखमोहात्मकता ही इनकी एकरूपता है जो इस बात को बताती है कि इन सबका मूलतः किसी एक ऐसे तत्त्व से सम्बन्ध है जिसमें और कोई धर्म भले न हो, सुख-दुःखमोहात्मकता अवश्य है। वह सम्बन्धी तत्त्व इनका मूलकारण ही हो सकता है। क्योंकि कारण के गुण ही कार्य में प्रकट होते हैं और वह मूलकारण ही प्रधान अर्थात् अव्यक्त प्रकृति है। इसके अतिरिक्त कार्य की प्रवृत्ति कारण की शक्ति से होती है। जब भी किसी वस्तु की अपेक्षा होती है हम उसके कारण की खोज इसलिए करते हैं कि उसी से कार्य सिद्ध होगा। कारण और कार्य में विभाग और एकरूपता दोनों बातें होती हैं। कार्य के उत्पन्न होने के पूर्व तो कारण और कार्य एक होते हैं पर कार्य-दशा में इनका विभाग हो जाता है।

---

१. सां० का १४

२. अव्यक्तं त्रिगुणाल्लिङ्गात्। सां० सू० १-१३६

३. तत्कार्यतस्तत्सिद्धेर्नापलापः। वही १-१३७

कार्य की कारण से पृथक् सत्ता हो जाती है अतः जब निखिल ब्रह्माण्ड हमारे समक्ष कार्यरूप में विद्यमान है तो उससे उसके कारण का अनुमान हमें क्यों नहीं हो जाएगा, चाहे वह कितना ही अव्यक्त क्यों न हो ?[1] और वही कारण प्रधान अर्थात् मूल-प्रकृति है। इसलिए यही मानना चाहिए कि स्थावरजङ्ग-मात्मक इस अखिल विश्व अर्थात् महत् से लेकर स्थूलभूतपर्यन्त जगत् का कोई न कोई मूल कारण है और वह अव्यक्त है। वह अपनी त्रिगुणता के कारण व्यक्त रूप में प्रवृत्त अर्थात् परिणत होता है जिसके परिणामस्वरूप महत् आदि तत्त्व उद्भूत हुए हैं। जिस प्रकार वर्षा का ही जल नारियल, ताड़, आम एवं बेल आदि में मीठा, खट्टा, कषाय, तिक्त आदि अनेक स्वादों में परिणत हो जाता है उसी प्रकार त्रिगुणात्मक वही अव्यक्तप्रकृति मन, बुद्धि, अहंकार आदि करणों एवं स्थूल सूक्ष्म भूतों के रूप में व्यक्त हो जाती है। इनमें भेद का मुख्य कारण तीनों गुणों का विभिन्न अनुपात में मिश्रित होना है जिसके लिए ही सांख्यकारिका में कहा है—समुदयाच्च।

सांख्यसूत्र की प्रक्रिया कुछ भिन्न ही है। उसके अनुसार पृथ्वी आदि स्थूल महाभूतों से उनके उपादान पञ्चतन्मात्राओं का, एकादश इन्द्रियों के साथ पञ्चतन्मात्राओं के द्वारा अहंकार का, अहंकार से अन्तःकरणरूप महत्तत्त्व का और महत्तत्त्व से कार्यकारणभाव के द्वारा उसके कारण मूल-प्रकृति का अनुमानात्मक ज्ञान होता है।[2]

यहां एक जिज्ञासा और उत्पन्न होती है कि क्या जिस प्रकार व्यक्त के आधार पर हम उसके कारण अव्यक्त प्रकृति का अनुमान करते हैं उसी प्रकार अव्यक्त प्रकृति के आधार पर उसके भी कारण किसी अन्य परम अव्यक्त तत्त्व का अनुमान नहीं कर सकते ? यदि नहीं तो क्यों ? इसका उत्तर स्पष्ट है कि महत् आदि कार्यों का साक्षात्कार करके ही उनके कारण-भूत तत्त्व प्रधान का अनुमान किया गया है। चूंकि प्रधान का हम साक्षात्कार नहीं कर पाते अतः न तो वह कार्यरूप में गृहीत है और न किसी सम्भावित वस्तु के धर्म हेतु के रूप में ही। फलतः उसके आधार पर उसके भी कारण का अनुमान बन नहीं सकता। यदि किसी प्रकार प्रक्रिया के ठीक ठीक बैठे बिना भी प्रधान के कारण की कल्पना करें तो उसके कारण और उसके भी कारण की कल्पना का प्रश्न उठेगा और

---

१. सां० का० १५, १६

२. सां० सूत्र १।६२-६५

हम अनवस्था-दोष के चक्कर में फंस जायेंगे।[1] इसलिए नियम या प्रविधि की अवहेलना कर प्रधान के भी कारण के अन्वेषण का प्रयास तुषावघात के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अतः प्रधान अर्थात् अव्यक्त प्रकृति है और वही निखिल व्यक्त-तत्त्व का मूल भी है, यह सिद्ध हो गया।

७. पुरुष

(क) पुरुष की सत्ता में प्रमाण

इसके पूर्व यह सिद्ध किया, जा चुका है कि मूल-प्रकृति है और वह त्रिगुणात्मिकता है। इस जगत् के प्रत्येक तत्त्व में तीनों गुणों का विभिन्न अनुपात में समन्वय है। वस्तुओं में गुणों का न्यूनाधिक्य भाव इस बात का द्योतक है कि कोई तत्त्व ऐसा भी अवश्य है जहाँ इनका सर्वथा अभाव होगा।[2] इनकी पूर्णता तो प्रधान में है। वहाँ तीनों गुण अपने पूर्ण परिमाण में विद्यमान रहते हैं। पर व्यक्त या अव्यक्त में से कोई भी तत्त्व ऐसा नहीं है जिसमें तीनों गुणों का सर्वथा अभाव हो, जो न्यूनाधिक्यभाव का दूसरा पहलू है। जो ऐसा है वही तत्त्व पुरुष है। इस बात को सांख्य-शास्त्र में 'त्रिगुणादिविपर्ययात्' से प्रतिपादित किया गया है।

इसके अतिरिक्त पूर्ववर्णित व्यक्ताव्यक्त प्रकृति चौबीस तत्त्वों का एक संघात है। पलँग, रथ और गृह के समान यह भी अवश्य ही किसी के लिए होना चाहिए। इनका उपयोक्ता कोई सचेतन ही हो सकता है। निखिल प्रकृति का करण एवं कार्य भाव से जो उपयोक्ता है वही तत्त्व पुरुष है।[3] जो बुद्धि आदि अन्तः एवं वाह्यकरणों से इसका उसी प्रकार उपयोग करता है जिस प्रकार रथी अश्वों से रथ का। चेतन पुरुष ही अचेतन प्रकृति का अधिष्ठाता है।[4] तभी वह नाना प्रकार के क्रिया-कलापों में प्रवृत्त होती हैं। इन्द्रियों एवं विषयों के विद्यमान रहते हुए भी चैतन्य के अभाव में कोई क्रिया-कलाप सम्भव नहीं।

प्रकृति में नाना प्रकार की सुमधुर ध्वनियां, शीतोष्ण स्पर्श, नील, पीत,

---

१. त्रयोविंशतितत्त्वानां मूलमुपादानं प्रधानं मूलशून्यम् अनवस्थापत्त्या तत्र मूलान्तरासंभवादित्यर्थः। सां० सू० १-६७ पर प्रवचन भाष्य
२. त्रिगुणादिविपर्ययात्। सां० सू० १-१४१
३. संहतपरार्थत्वात् पुरुषस्य। सां० सू० १-६६
४. अधिष्ठानाच्चेति। सां० सू० १-१४२

हरित आदि रूप, मधुर लवण कटु कषाय आदि रस तथा नाना प्रकार के गंध एवं इन सब के मिश्रण से संगीत, सौन्दर्य, माधुर्य आदि ऐसे पदार्थ जुट जाते हैं जिनका उपभोग स्वयं प्रकृति नहीं कर सकती। इनका उपभोक्ता प्रकृति से भिन्न कोई ऐसा तत्त्व होना चाहिए जो सचेतन हो। वह तत्त्व ही पुरुष है।[1] ऐसे तत्त्व के अभाव में निखिल ब्रह्माण्ड शून्य ही रहेगा। किसी भी उत्तम से उत्तम पदार्थ की सार्थकता उसके उपभोक्ता को पाकर ही होती है। पदार्थ स्वयं अपना उपभोक्ता नहीं हो सकता। इस सृष्टि का इसी भोक्तृभाव के अनुसार विधान हुआ है जिसमें भोक्तृत्व चैतन्य से आता है। मनुष्य या पशु, पक्षी आदि सबका शरीर निश्चित रूप से प्रकृति की रचना है पर इसमें किसी चैतन्य तत्त्व का भी योग अवश्य है तभी यह अपने बाह्याभ्यन्तर करणों का उपयोग कर बाह्य विषयों का उपभोग करता है।

पुरुष के अस्तित्व में एक प्रमाण यह भी है कि कोई कोई व्यक्ति सब कुछ रहते हुए भी असन्तुष्ट, अतृप्त एवं अशान्त रहते हैं और कैवल्य चाहने लगते हैं। कैवल्य की ओर व्यक्ति की यह प्रवृत्ति उस पुरुषतत्त्व की पहचान है जो प्रकृति से सर्वथा भिन्न एवं स्वतन्त्र है। यह कैवल्य ही इसका अपना स्वरूप है जिसका अनुभव कर व्यक्ति उसे पाने के लिए छटपटाने लगता है।[2]

पुरुष की सत्ता के विषय में आधुनिक वैज्ञानिक चुप हैं। उनका कहना है कि जगत् के प्राणियों में उपलभ्यमान चैतन्य स्वतन्त्र रूप से कोई तत्त्व नहीं है अपितु जड़ प्रकृति का ही विकार अर्थात् एक धर्म है। क्योंकि जड़ आश्रय के बिना चैतन्य का आविर्भाव न कहीं होता है और न हो सकता है। इसलिए चैतन्य को एक स्वतन्त्र तत्त्व मानने की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यही दिया जा सकता है कि अग्नि भी ऐसा ही एक तत्त्व है जिसकी उद्भूति पृथ्वी या जल के आश्रय से ही सम्भव है स्वतन्त्र या इनसे निरपेक्ष रूप में कदापि नहीं। फिर अग्नि की स्वतन्त्र सत्ता या उसके स्वतन्त्र रूप से एक तत्त्व होने के सिद्धान्त का जिस प्रकार अपलाप नहीं किया जाता, ठीक उसी प्रकार चैतन्य रूप पुरुष की सत्ता का अपलाप इसलिए नहीं किया जा सकता कि उसकी अनुभूति जड़ तत्त्व के आश्रय के बिना नहीं हो सकती। अथवा जिस प्रकार अग्नि को पृथ्वी या जल का विकार नहीं माना जाता उसी प्रकार

---

१. सां० सू० १-१०५, १४३
२. सां० का० १७; सां० सू० १-१४४

चैतन्य को भी प्रकृति का विकार कहना कथमपि स्वीकार नहीं किया जा सकता।

(ख) पुरुष का स्वरूप एवं लक्षण

गुणत्रय के सर्वथा अभावरूप होने से पुरुष गुणों के क्रियाकलाप या परिणाम से सर्वथा अछूता है। फलस्वरूप उसमें सुख, दुःख एवं मोहात्मकता का सर्वथा अभाव होता है। चेतन होने से वह विवेकी एवं विषयी अर्थात् शब्दादि विषयों का उपभोक्ता होता है। अतः वह किसी का विकार तो है नहीं पर किसी तत्त्व को उत्पन्न करने की क्षमता भी उसमें नहीं हैं। क्योंकि उत्पादक या प्रेरक तत्त्व रजोगुण का उसमें लेश तक नहीं होता। फलतः उसमें प्रसवधर्मिता का सर्वथा अभाव होता है।[1] उक्त अंशों में वह प्रकृति से सर्वथा भिन्न होता है। लेकिन कुछ अंशों में वह प्रकृति के सर्वथा अनुरूप (समान) भी होता है। क्योंकि मूल-प्रकृति एवं पुरुष दोनों का ही कोई कारण नहीं होता तथा दोनों ही त्रिकालाबाध्य होने से नित्य, एवं सर्वव्यापक होने से विभु हैं। स्वरूपतः क्रिया-शून्य होने से पुरुष, तथा गुणों की साम्यावस्था में सृष्टि की क्रिया न होने से मूल-प्रकृति भी निष्क्रिय ही होती है। अपनी सत्ता के लिए किसी अन्य तत्त्व पर निर्भर न करने से दोनों ही अनाश्रित तत्त्व हैं।

पुरुष वस्तुतः बद्ध एवं मुक्त उभयरूप से व्यावृत्त होता है। अर्थात् उसमें स्वरूपगत भेद नहीं होता।[2] वह व्यक्त एवं शान्त चित्त का निर्विकार द्रष्टा है। पुरुष की साक्षिता बुद्धि से उसके साक्षात् सम्बन्ध के कारण है। वह बुद्धि का ही साक्षी होता है अन्य का द्रष्टामात्र।[3] इसके अतिरिक्त पुरुष स्वरूपतः नित्यमुक्त है। दुःखरूप बन्धन वस्तुतः चित्त का होता है, पुरुष का नहीं। पुरुष उदासीन है। उसकी यह उदासीनता उसका अकर्तृत्व भाव है। काम, संकल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, धृति, एवं ह्री आदि क्रियायें मन, बुद्धि एवं अहंकार की हैं पुरुष की नहीं। पुरुष में कर्तृत्व की जो प्रतीति होती हैं उसका कारण अग्नि एवं लोहपिण्ड या जल एवं सूर्य के समान बुद्धि और पुरुष का उपराग है।[4] इससे ही पुरुष में

---

१. सां० का० ११
२. व्यावृत्तोभयरूपः। सां० सू० १-१६०,
३. साक्षात्सम्बन्धात् साक्षित्वम्। सां० सू० १-१६१
४. सां० सू० १-१६३, १६४

क्रियाशीलता एवं बुद्धि में चेतनता की प्रतीति होने लग जाती है जो दोनों पर परस्पर के धर्म का आरोपमात्र है यथार्थ नहीं । अतः ठीक ही कहा है—

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम् ।
गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ।।[1]

(ग) पुरुष की अनेकता

सांख्य-सिद्धान्त के अनुसार जितने जीव उतने पुरुष हैं । उनका अपना जन्म एक दूसरे की अपेक्षा किये बिना ही होता है । एक की मृत्यु से सबका मरण भी नहीं हो जाता । यही नहीं प्रत्येक प्राणी के बाह्याभ्यन्तर उभयविध करण भी भिन्न भिन्न ही होते हैं । इनकी वचन, आदान, विहरण, उत्सर्ग एवं आनन्दात्मक प्रवृत्तियां भी एक साथ नहीं होतीं ।[2] इस विविधता का कारण प्रत्येक जीव में सत्त्व, रज एवं तम नामक गुणों का विभिन्न अनुपात में संमिश्रण है । पुरुष की अनेकता की साधिका सबसे प्रबल युक्ति यह है कि अनेक जीवों के मुक्त हो जाने पर भी अभी अनन्त जीव बद्ध पड़े हैं । इस प्रकार उनकी संख्या अनेक ही नहीं अनन्त हो जाती है ।

सांख्यशास्त्र प्रतिपादित अनेक पुरुषों को भी हम दो वर्गों में स्थापित कर सकते हैं—बद्ध और मुक्त । सामान्य रूप से प्रत्येक पुरुष अनादि काल से ही बद्ध है । विवेक हो जाने पर वह मुक्त हो जाता है । लेकिन पुरुष की अनेकता की साधक युक्तियों पर जब हम विचार करते हैं तो यही प्रतीत होता है कि पुरुष की यह अनेकता या अनन्तता बद्ध पुरुष के विषय में ही है मुक्त के विषय में नहीं । उदाहरणतः पुरुष की बहुलता का साधक प्रथम तर्क है जन्म, मरण, एवं करणों का प्रतिपुरुष नियत होना । किन्तु मुक्त पुरुष का तो न जन्म होता है न मरण तथा उसके करण भी नहीं होते । इसी प्रकार जो पुरुष मुक्त हो जाता है वह प्रकृति से असंभिन्न अपने विशुद्ध रूप को प्राप्त कर लेता है । फलतः उसमें प्रवृत्ति भी नहीं होती । क्योंकि प्रवृत्ति रजोगुण का धर्म है और पुरुष निर्गुण होता है । पुरुष की अनेकता का आधायक अन्तिम तर्क तीनों गुणों का विभिन्न अनुपात में सम्मिश्रित होकर उसमें रहना है । गुण प्रकृति के स्वरूप के आधायक हैं । पुरुष का प्रकृति से सम्पर्क होने से उस पर गुणों का आरोप मात्र हो जाता है । प्रकृति-पुरुष के सम्बन्ध का मुख्य प्रयोजन पुरुष को कैवल्य अर्थात्

---

१. सां० का० २०

२. सां० का० १८, सां० सू० १-१४९

मोक्ष की प्राप्ति कराना है जो इस बात का प्रमाण है कि संयोग बद्ध-पुरुष और प्रकृति में ही है। इसकी पुष्टि मुक्त पुरुष के स्वरूप निरूपण से भी होती है। वह पुरुष मुक्त है जिसे यह ज्ञान हो जाय कि जगत् में प्रवृत्ति निवृत्ति रूपी जो भी क्रिया हो रही है उसका आश्रय मैं नहीं हूँ। जन्म, मरण एवं करण आदि जिन्हें मेरा कहा जाता है या आजतक जिन्हें मैं अपना समझता था वे मेरे अर्थात् मुझसे सम्बन्धित नहीं हैं। इतना ही नहीं, इनका भोक्ता भी मैं नहीं हूँ क्योंकि मैं इनका स्वामी नहीं हूँ। इनका आश्रय वस्तुतः मैं नहीं अपितु प्रकृति ही है।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि पुरुष की अनेकता की साधक युक्तियों एवं प्रमाणों का सम्बन्ध केवल बद्धपुरुष से है। निखिल जगत् की सृष्टि के मूल-कारण प्रकृति का संयोग भी बद्धपुरुष से ही सम्भव है मुक्त से नहीं। फिर मुक्त पुरुष अनेक नहीं हो सकता। आगे चलकर पुरुष के बन्धन और मोक्ष भाव का निराकरण भी सांख्य शास्त्र में ही उपलब्ध हो जाता है।[2] 'न बध्यते, न मुच्यते एवं न संसरति' की उक्तियों से पुरुष के बद्ध एवं मुक्त होने का भेद भी काल्पनिक ही ठहरता है। जब वह बन्धन में आ नहीं सकता तो उसके मुक्त होने का प्रश्न ही कहाँ उठता है? जीवों की उत्पत्ति, विनाश एवं नाना योनियों में संसरण आदि क्रियायें प्रकृति का ही प्रपञ्च है न कि पुरुष का। फलतः पुरुष के कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व रूप का भी अपलाप हो जाता है। केवल साक्षित्व रूप ही शेष रहता है जिसके अनेक होने की कोई आवश्यकता नहीं। सांख्य सूत्र में भी इसका संकेत मिलता है कि एक ही पुरुष की नाना रूप में प्रतीति उपाधिभेद के कारण उसी प्रकार होने लगती है जिस प्रकार एक ही आकाश में घट, मठ एवं पट की उपाधियों के योग से घटाकाश, मठाकाश एवं पटाकाश की।[3] उपाधियों के भिन्न होने से ही उपाधिधारियों में भेद की कल्पना नहीं कर लेनी चाहिए।[4]

सांख्य-सूत्र में आत्मैक्यवाद का खण्डन करते हुए कहा है कि नित्य एक रस एवं अखण्ड रूप में विद्यमान अवयवहीन आत्मा में जन्म, मरण आदि विरुद्ध

---

१. सां० का० ६४

२. सां० का० ६२

३. उपाधिभेदेऽप्येकस्य नानायोग आकाशस्येव घटादिभिः। सां० सू० १-१५०

४. उपाधिर्भिद्यते न तु तद्वान्। सां० सू० १-१५१

धर्मों की प्रतीति सम्भव नहीं। आत्मा का एकत्व स्वीकार करने पर सभी उपाधियों से युक्त आत्मा में विरुद्ध धर्मों का साङ्कर्य होता रहेगा। पर एक ही देश और काल में वर्तमान ज्ञाता में उपाधियों का अध्यास कथमपि सम्भव नहीं।[1] जैसे स्फटिक मणि में रक्तिमा एवं नीलिमा आदि आरोपित धर्मों की भी एक व्यवस्था है उसी प्रकार पुरुष में सुखदुःखादि बुद्धि-धर्मों तथा ब्राह्मणत्व क्षत्रियत्व आदि आरोपित शरीर-धर्मों की व्यवस्था भी शास्त्रों में प्रतिपादित है। आरोप का अधिष्ठान पुरुष यदि एक ही है तो उसमें आरोपित परस्पर विरुद्ध सुखादि धर्मों की व्यवस्था नहीं बनेगी। जिस प्रकार घटाकाश आदि में उपाधि की व्यवस्था बन जाती है उसी प्रकार आत्मा में नहीं बनती। क्योंकि जिस प्रकार घट उपाधि के नाश हो जाने पर घटाकाश की सत्ता समाप्त हो जाती है। उसी प्रकार जन्म, मरण, एवं करण आदि उपाधियों के हट जाने पर भी जीव की परिसमाप्ति नहीं होती।[2]

यदि कोई यह कहे कि सुखादि चित्त के धर्म हैं, अतः प्राणियों में सुख दुःखमोहात्मकता के भेद का कारण चित्त-भेद है न कि पुरुष-भेद, तो इसका उत्तर यह है कि अनेकता के आरोप का आश्रयभूत पुरुष यदि अखंड और एक है तो वही कहीं दुःख, कहीं सुख तो कहीं मोह का भागी कैसे हो सकता है? श्रुतियों में आत्मा के अद्वैत भाव का प्रतिपादन जाति की दृष्टि से हुआ है व्यक्ति की दृष्टि से नहीं।[3] प्रत्येक आत्मा एकरूप है। पुरुषों में परस्पर भेदक कोई वास्तविक धर्म नहीं। अद्वैत परक श्रुतियों का तात्पर्य सभी पुरुषों में विद्यमान इसी एकरूपता से है। पुरुषों में स्वरूपतः भेद की प्रतीति व्यवहार की दृष्टि से ही है तत्त्वतः नहीं, जो अविवेकियों को ही होती है। किसी वस्तु के स्वरूप के विषय में अन्धों की राय से चक्षुष्मान् व्यक्ति के ज्ञान का खण्डन नहीं हो जाता। आत्मा की जातिगत व्यवस्था मानने पर वामदेव आदि के मुक्त हो जाने पर भी अन्य आत्माओं की स्थिति बने रहना उसी प्रकार अनुपयुक्त नहीं है जिस प्रकार अहर्निश मनुष्यों के मरते रहने पर भी मनुष्यता बनी ही रहती है। आत्मा की अखण्डता की रक्षा के लिए यह मानना ठीक नहीं कि आज तक किसी की भी मुक्ति नहीं हुई है। क्योंकि ऐसा मानने पर

---

१. एकमेकत्वेन परिवर्तमानस्य न विरुद्धधर्माध्यासः। सां०सू० १-१५२

२. अन्यधर्मत्वेऽपि नारोपात् तत्सिद्धिरेकत्वात्। सां० सू० १-१५३

३. नाद्वैतश्रुतिविरोधो जातिपरत्वात्। सां० सू० १-१५४

तो यही सिद्ध हो जायगा कि भविष्य में भी कोई मुक्त नहीं हो सकेगा। इस लिए यही मानना चाहिए कि पुरुष अनेक हैं।

८—लिङ्ग तथा सूक्ष्म एवं स्थूल शरीर

(क) लिङ्ग

सांख्यसिद्धांत के अनुसार व्यक्ति अच्छा बुरा जो कुछ भी कार्य करता है उसके संस्कार बनते हैं, उन्हें ही भाव कहते हैं। उन भावों या संस्कारों का भोग होता है। उत्तम कर्म के संस्कार उत्तम भोग प्रदान करते हैं तो बुरे कर्म के संस्कार अधोगमन के हेतु होते हैं लेकिन कर्म तो शरीर से ही होते हैं तथा शरीर की प्राप्ति कर्मों के अनुसार ही होती है। फिर प्रश्न यह उठता है कि पहले शरीर हुआ या कर्मसंस्कार। इसके अतिरिक्त शरीर तो मृत्युपर्यन्त ही रहता है फिर उस व्यक्तिविशेष के कर्मसंस्कारों का भोग उसी को मिलेगा, इसका निर्धारण कैसे होता है? मरने के बाद क्या बचता है जो जन्मजन्मान्तर एवं लोक-लोकान्तर तक जाता है? सांख्यशास्त्र में इसका समाधान लिङ्ग की मान्यता के सिद्धान्त से किया गया है।

सांख्य-दर्शन के अनुसार सृष्टि के आरम्भ में प्रकृति प्रत्येक पुरुष के लिए एक विशेष प्रकार के आवरण या शरीर पैदा करती है जिसे लिङ्ग कहते हैं। यह लिङ्ग सृष्टि के आरम्भ में ही उत्पन्न होकर प्रलयपर्यन्त बना रहता है, अतः नियत अर्थात् नित्य होता है। इसकी गति अबाध होती है। इस लिए यह शिला में भी प्रवेश कर सकता है तथा जल में भी बना रह सकता है। इसकी रचना महत्तत्त्व से लेकर सूक्ष्मभूत अर्थात् तन्मात्राओं तक को मिलाकर अठारह तत्त्वों से होती है जिसमें मन, बुद्धि एवं अहंकार सहित दसों इन्द्रियां और पांच तन्मात्राएं होती हैं।[1] कुछ लोग इसमें अहंकार को अन्तर्भूत नहीं करते और लिङ्ग को शेष सत्रह तत्त्वों से ही गठित मानते है।[2] यह लिङ्ग शरीर ही किये गए कर्म के संस्कारों से समन्वित होकर पूर्व-पूर्व स्थूलशरीर का परित्याग करते हुए कर्मफल के भोग के अनुरूप उत्तरोत्तर नाना प्रकार के नये

१. पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्। सां० का० ४०

२. (क) बुद्धिकर्मेन्द्रियैः प्राणपंचकैर्मनसा धिया।
शरीरं सप्तदशभिः सूक्ष्मं तल्लिङ्गमुच्यते॥

(ख) सप्तदशैकं लिङ्गम्। सां० सू० ३।९

स्थूल-शरीर धारण करता रहता है। लिङ्ग के बिना पुरुष के भोग का साधन स्थूल-शरीर नहीं हो सकता। इस लिङ्ग में ही धर्म, ज्ञान, विराग, ऐश्वर्य, एवं अधर्म, अज्ञान, राग एवं अनैश्वर्य नामक भाव समन्वित रहते हैं जिनके भोग के लिए यह भावों से अधिवासित होकर नाना प्रकार के लोकों एवं योनियों में स्थूल-शरीर धारण करता हुआ संसरण करता है।[1] सांख्यसूत्रकार का तो यहां तक कहना है कि पुरुष को सुख-दुःख का अनुभव भी लिङ्ग से ही होता है स्थूल-शरीर से नहीं।[2]

धर्म आदि आठभाव यद्यपि बुद्धि के हैं और साक्षात् रूप से बुद्धि में ही रहते हैं तथापि बुद्धि के लिङ्ग-शरीर में अन्तर्भूत होने से परम्परया ये लिङ्गशरीर में भी उपचरित होते हैं। कुछ लोग लिङ्ग को सूक्ष्मशरीर से भिन्न मानते हैं। भावों से रहित महत् से लेकर सूक्ष्मभूतपर्यन्त तत्त्वों का संवलित रूप ही लिङ्ग है जो अनादिकाल से प्रत्येकपुरुष के लिए नियत है तथा जीवन भर के किये हुए क्रिया-कलापों से बने भावों से युक्त होकर ही वह सूक्ष्म-शरीर बन जाता है। विज्ञानभिक्षु का कहना है कि इसमें पांच प्राणों का अन्तर्भाव स्वतः इस लिए हो जाता है कि प्राण अन्तःकरण के ही व्यापार हैं। सर्ग के आदि में हिरण्यगर्भरूपी उपाधि से युक्त समष्टिगत एक ही लिङ्ग होता है। अनन्तर उसी के अंश से जितने व्यक्ति होते जाते हैं उतने लिङ्ग भी बनते जाते हैं। क्योंकि उनके कर्मों का भोग होना है जो लिङ्ग से ही हो सकता है।[3]

इसकी लिङ्ग संज्ञा इसलिए है कि अन्त में इसका लय प्रकृति में हो जाता है---लयं गच्छतीति लिङ्गम्। महाप्रलय के बाद लिङ्गशरीर की स्थिति नहीं होती। प्रधान की स्थिति तो प्रलय के बाद भी होती है। यह लिङ्ग विभु अर्थात् व्यापक नहीं अपितु अणुपरिमाण होता है क्योंकि उसमें मन की ही प्रधानता है। मन अन्नमय होने से विभु नहीं हो सकता।[4]

(ख) सूक्ष्मशरीर

लिङ्ग कभी निराश्रय नहीं रहता। पर उसका आश्रय क्या है? इस

---

१. संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम्। सां० का० ४०
२. पूर्वोत्पत्तेस्तत्कार्यत्वं भोगादेकस्य नेतरस्य। सां० सू० ३।८
३. व्यक्तिभेदः कर्मविशेषात्। सां० सू० ३।१०
४. सां० सू० ३।१४,१५

सम्बन्ध में सांख्यकारिका के टीकाकारों में मतभेद है। गौडपाद अविशेष अर्थात् सूक्ष्मतन्मात्राओं को उसका आश्रय कहते हैं तो वाचस्पति विशेष अर्थात् स्थूलशरीर को ही उसका आश्रय मानते हैं। लिङ्ग एवं स्थूलशरीर से भिन्न एक सूक्ष्मशरीर भी होता है जो त्रयोदश करणों का बना होता है। उसी को लिङ्ग का शरीर भी कहते हैं। यह सृष्टि के आदि से उत्पन्न नहीं होता अपितु जीव के कर्मजन्य संस्कारों (भावों) से बनता और बिगड़ता रहता है। लिङ्ग के एक ही होते हुए भी सूक्ष्मशरीर प्रतिजन्म में परिवर्तित हो जाता है। जिस प्रकार आम और जामुन की गुठलियों में तत्त्वतः कोई भेद नहीं होने पर भी भिन्न-भिन्न संस्कारवश फल में भेद हो जाता है उसी प्रकार लिङ्ग के तत्त्वतः भिन्न न होने पर भी व्यक्तियों में भेद का कारण उनके कर्मजन्य संस्कारों से युक्त सूक्ष्मशरीर ही हैं। तदनुरूप ही स्थूलशरीर भी प्राप्त होता है।

(ग) स्थूलशरीर

लिङ्ग की रचना पुरुष के भोग की सिद्धि के लिए हुई है। पर वह विषयों का उपभोग करने में स्वतः समर्थ नहीं होता अपितु स्थूलशरीर के द्वारा ही उसका भोग संभव है। इसलिए स्थूल देह की रचना आवश्यक है। यह शरीर पाञ्चभौतिक अर्थात् पांचों स्थूलभूतों के योग से वनता है इसलिए स्थूल अर्थात् प्रत्यक्षतः परिदृश्यमान होता है। सांख्यसूत्रों के उल्लेख से ज्ञात होता है कि कुछ लोग आकाशरहित चार भूतों से तथा कुछ अन्य लोग केवल पार्थिव तत्त्वों से ही स्थूलशरीर की सृष्टि मानते हैं।[1]

स्थूल शरीर अनन्त हैं पर योनिभेद से इनके वर्गीकरण भी किये जाते हैं। इनकी रचना के भी विभिन्न प्रकार हैं। मनुष्य के स्थूलशरीर की रचना के प्रकार का निरूपण यहां किया जाता है। राग रजोगुण का धर्म है। उससे प्रेरित होकर ही स्त्री-पुरुष का संगम होता है जिससे गर्भाशय में रजवीर्य का मिश्रण होता है। प्रथम मास में वात, पित्त एवं श्लेष के क्षोभ से भूतचैतन्य से युक्त कलल मात्र की उत्पत्ति होती है। द्वितीय मास में वही कलल, अग्नि और वायु से सूखकर अर्बुद अर्थात् मांस का कील जैसा बन जाता है। अनन्तर अंगों की रचना होती है। शौनक के अनुसार सबसे पहले सिर की रचना होती है।

---

१. सां० सू० ३।१७,१८,१९

क्योंकि शरीर एवं इन्द्रियों का केन्द्र-स्थल सिर ही है। मार्कण्डेय का कथन है कि गर्भ का संचलन बिना हाथ पैर के हो नहीं सकता अतः उन्हीं की रचना पहले होनी चाहिए। पाराशर्य अर्थात् व्यास के अनुसार सबसे पहले नाभि की रचना होती है क्योंकि गर्भ का पोषण नाभि से ही होता है। कृतवीर्य हृदय की रचना को पहिले इसलिए मानते हैं कि यहीं से रक्त का संचार सभी अंगों में होता है। गौतम के अनुसार शरीर के मध्य भाग से सारे शरीर का सम्बन्ध होता है अतः पहिले उसी की रचना होनी चाहिए। पर धन्वन्तरि का विधान है कि गर्भ में शरीर के सभी अंगों की रचना युगपत् प्रारम्भ हो जाती है।

गर्भस्थ शिशु के रोम, रक्त एवं मांस माता से प्राप्त होते हैं तथा स्नायु, अस्थि एवं मज्जा के निर्मापक तत्त्वों की प्राप्ति पिता से होती है। अतएव इस शरीर को षाट्कौशिक अर्थात् छःकोशों वाला कहते हैं। इसके द्वारा ही बुद्धि के धर्मादिभावों की अभिव्यक्ति एवं शब्दस्पर्शादि बाह्य विषयों का उपभोग होता है। इस प्रकार प्राणी के जन्म से केवल स्थूल-शरीर का ही उद्भव नहीं मानना चाहिए अपितु सूक्ष्म-शरीर एवं लिङ्ग भी उसमें अन्तर्निहित होते हैं। व्यक्तित्व के विकास में भावों से अधिवासित सूक्ष्मशरीर ही इनमें सबसे अधिक महत्त्व का है।

६ बन्धन एवं मोक्ष अर्थात् भोग एवं अपवर्ग

सांख्य-दर्शन के अनुसार सृष्टि का प्रयोजन पुरुष के भोग और अपवर्ग की सिद्धि है। अतः भोग और अपवर्ग इन्हीं दो को पुरुषार्थ माना है। इन दोनों में भी भोग की सार्थकता अपवर्ग की प्राप्ति में ही है। इस प्रकार भोग अपवर्ग का साधन तथा अपवर्ग भोग का साध्य है। वस्तुतः पुरुष को अपने स्वरूप के यथार्थबोध से ही कैवल्य की प्राप्ति सम्भव हो जाती है तथापि उसे अपने स्वरूप का बोध स्वतः इसलिए नहीं हो पाता कि वह अनादिकाल से बद्ध है। बन्धन चूंकि प्रकृति का कार्य है अतः उससे मुक्ति के लिए भी प्रकृति का योग नितान्त अपेक्षित होता है।

वस्तुस्थिति तो यह है कि भोग भी पुरुष में न होकर प्रकृति में ही होता है। शब्दादि विषयों का, जो महाभूतों के गुण हैं, अन्तः एवं बाह्य करणों से साक्षात्कार ही भोग है जिसका आस्पद अर्थात् कर्ता व्यक्ति का अन्तःकरण है। प्रकृति ही स्वयं, ऐसे दो प्रकार के तत्त्वों को उत्पन्न करती है जिनमें एक

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि के रूप में भोग के विषय हैं तो दूसरे बाह्याभ्यन्तर करण विषयी। इस प्रकार यह भोग प्रकृति के द्वारा प्रकृति का ही है न कि पुरुष के द्वारा प्रकृति का। गीता की उक्ति 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' की यही व्याख्या है। पुरुष यद्यपि चेतन है तथापि उसमें किसी भी प्रकार की क्रिया सम्भव नहीं। चूंकि भोग भी एक प्रकार की क्रिया है अतः वह पुरुष में कैसे सम्भव हो सकती है? क्योंकि कोई भी क्रिया रजोगुण का धर्म है जिसका पुरुष में सर्वथा अभाव है। इस प्रकार सांख्य-सिद्धान्त के अनुसार ही पुरुष में भोक्तृत्व सम्भव नहीं। अपितु उसे अपने भोक्ता होने की भ्रान्ति हो जाती है। इस भ्रान्ति का आधार प्रकृति और पुरुष का संयोग है, जिससे जड़ प्रकृति पर पुरुष की चेतनता एवं अकर्ता पुरुष पर गुणों की क्रियाशीलता का आरोप हो जाता है जिसके फलस्वरूप यह सृष्टि है।

प्रकृति और पुरुष का यह संयोग प्रकृति की योजना के अनुसार ही होता है। प्रकृति पुरुष को कैवल्य की प्राप्ति कराने के लिए पहिले उसे अपना स्वरूप दिखा देना चाहती है। प्रकृति के द्वारा आत्मप्रदर्शन की क्रिया ही यह सृष्टि है जिसमें रमा हुआ पुरुष रजोगुण के कार्यभूत त्रिविध दुःख से प्रपीड़ित होता है तो उससे बचने का उपाय सोचता है। इस प्रसङ्ग में सबसे पहिले वह अपने चतुर्दिक परिदृश्यमान व्यक्त जगत् और उसके मूलकारण की गवेषणा करता है, अनन्तर ही वह अपने वास्तविक स्वरूप के निर्धारण में समर्थ होता है। चूंकि सम्पूर्ण दृश्य जगत् जड़ एवं त्रिगुणात्मक है, अतः इसका मूलकारण भी जड़ एवं त्रिगुणात्मक ही होना चाहिए। उसमें सचेतनता की प्रतीति चेतन तत्त्व पुरुष के सन्निधान से होने के कारण सर्वथा भ्रान्ति ही है। इसी प्रकार प्रकृति की क्रियाशीलता सचेतन पुरुष पर स्वभावतः ही आरोपित हो जाती है और जो पुरुष किसी क्रिया का आश्रय नहीं हो सकता वही स्वयं को निखिल क्रियाओं का कर्ता समझने लगता है।[1]

प्रकृति और पुरुष के संयोग का स्थल बुद्धि है जिसमें पुरुष तो प्रतिबिम्बित होता ही है बाह्य जगत् के क्रियाकलापों की भी सूचना एकत्र होती है तथा जो स्वयं क्रियशील भी है। फलतः जल में प्रतिबिम्बित सूर्य-बिम्ब के समान ही जो पानी के हिलने से हिलता हुआ दिखाई देता है, पुरुष भी बुद्धि की क्रियाशीलता से सक्रिय प्रतीत होता है। यह भ्रान्ति ही पुरुष

१. सां० का० २०

के द्वारा विषयों के भोग की भ्रान्ति है जिससे वह अपने को सुखी, दुःखी और मुग्ध समझने लगता है। यही पुरुष की बद्धता है। यहां प्रश्न यह उठता है कि पुरुष जिस प्रकार क्रिया का आश्रय नहीं है अपितु उस पर क्रियाशीलता का आरोप हो जाता है, उसी प्रकार ही वह ज्ञान का भी तो आश्रय नहीं है जो निश्चित रूप से प्रकृति के कार्य बुद्धि का धर्म है। फिर यह ज्ञान किसको होता है, प्रकृति या पुरुष को ? यदि प्रकृति को होता है तो उससे पुरुष का उपकार कैसे सम्भव हो सकता है ? इसीलिए सांख्यशास्त्र में पुरुष के बन्धन और मोक्ष का निराकरण कर उसे प्रकृति का ही बन्धन और मोक्ष कहा गया है।[1]

उक्त विवेचन से यह सिद्ध हो गया कि बन्धन और मोक्ष पुरुष का नहीं अपितु प्रकृति का धर्म है। पुरुष न बन्धन में आता है न मुक्त होता है। वह तो प्रकृति के इस बन्धनमोक्ष की लीला का द्रष्टामात्र है। इसीलिए उसे साक्षी कहा गया है। प्रकृति अपने ही कार्य बुद्धि के धर्म-अधर्म, अज्ञान, विराग-राग तथा ऐश्वर्य-अनैश्वर्य नामक धर्मों से अपने को ही बांधती है और ज्ञान नामक धर्म से मुक्त कर लेती हैं।[2] वस्तुतः प्रकृति अन्य है और पुरुष अन्य। इस प्रकार निखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त पच्चीस तत्त्वों के निरन्तर मनन एवं निदिध्यासन से व्यक्ति में एक विशेष प्रकार का बोध जाग्रत होता है कि क्रियाशीलता गुणों में है, चेतन में नहीं और उसका अधिष्ठाता पुरुष नहीं अपितु प्रकृति है। तथा मन, बुद्धि, अहंकार एवं इन्द्रियों सहित त्रयोदश अन्तकरण मेरे नहीं अपितु प्रकृति के हैं। यह ज्ञान किसी भी प्रकार के संशय या मिथ्याज्ञान से रहित होता है तो उसे सम्यक् ज्ञान कहते हैं और उससे वह बोध ही पुरुष का कैवल्य है।[3] इस बोध के जाग्रत होने पर पुरुष प्रकृति के तमाम क्रिया-कलापों से असम्पृक्त होकर प्रेक्षक के समान उसे देखता है। जिसका फल यह होता है कि उस पुरुष के प्रति प्रकृति की लीला समाप्त हो जाती है और उसके समक्ष प्रकृति का केवल ज्ञानात्मक रूप ही शेष रहता है।[4] पुरुष का यह दर्शन ही विवेक कहलाता है जिसके जाग्रत हो जाने पर सृष्टि की कोई उपयोगिता नहीं

---

१. सां० का० ६२
२. सां० का० ६३
३. सां० का० ६४
४. सां० का० ६५

रह जाती । फलतः प्रकृति और पुरुष के संयोग रहने पर भी प्रकृति इसके लिए सृष्टि से विरत हो जाती है ।[1]

प्रकृति और पुरुष के भिन्न-भिन्न होने का बोध जब जीवन में चरितार्थ हो जाता है तो उसे सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति समझना चाहिए । उसके होने पर व्यक्ति को धर्म, ज्ञान, विराग और ऐश्वर्य की प्राप्ति अनायास हो जाती है । वह प्रारब्ध कर्मों के संस्कारवश आधिभौतिक शरीर को उसी प्रकार धारण किये रहता है जिस प्रकार स्विच के आफ कर देने पर भी बिजली का पंखा पूर्व वेग के कारण कुछ देर तक अपने आप चलता रहता है ।[2] यही जीवन मुक्ति की दशा है । अनन्तर इस पाञ्चभौतिक शरीर के छूट जाने पर उसे ऐकान्तिक (पूर्ण रूप से) और आत्यन्तिक (सदा के लिए) उभयविध मुक्ति मिल जाती है ।[3] जहां तक लिङ्ग एवं सूक्ष्मशरीरों का सम्बन्ध है उनकी विनिवृत्ति तो विवेक होने के साथ ही हो जाती है । जिस प्रकार भुने हुए बीज पुनः अंकुर उत्पादन में समर्थ नहीं होते, उसी प्रकार कर्म के संस्कारों एवं उनके परिणाम-स्वरूप बुद्धि के भावों से सम्वलित सूक्ष्मशरीर ज्ञान की अग्नि में जलकर भस्मसात् हो जाता है जिसके फलस्वरूप उसके पुनर्जन्म या लोकलोकान्तर में संसरण की आवश्यकता नहीं होती । सांख्य दर्शन के अनुसार संक्षेप में मोक्ष का यही सिद्धान्त और स्वरूप है ।

---

१. सति संयोगऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य । सां० का० ६६
२. तिष्ठति संस्कारवशात् चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः। वही ६७
३. ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति । वही ६८

★

७. सांख्यकारिका:

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके[1] हेतौ ।
दृष्टेसाऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ॥१॥

दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः ।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ॥२॥

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥३॥

दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् ।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं, प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥४॥

प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं, त्रिविधमनुमानमाख्यातम् ।
तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनं तु[2] ॥५॥

सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात्[3] ।
तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात्सिद्धम्[4] ॥६॥

अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात् ।
सौक्ष्म्याद्व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च ॥७॥

सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात् कार्यतस्तदुपलब्धेः[5] ।
महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिसरूपं विरूपं च[6] ॥८॥

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥९॥

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥१०॥

---

१. मा०, गौ०—तदभिघातके, ज० —तदवघातके; वा० —तदपघातके ।
२. वा०—तु; गौ०, ज०, मा० — च ।
३. गौ०—प्रसिद्धिरनुमानात्; ज०, मा०, वा०—प्रतीति० ।
४. मा०—साध्यम् ।
५. गौ०, मा०—तदुपलब्धिः ।
६. गौ०, मा०—प्रकृतिविरूपं सरूपं च ।

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि ।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥११॥

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः ।
अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥१२॥

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टं उपष्टम्भकं चलं च रजः ।
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥१३॥

अविवेक्यादेः[1] सिद्धिस्त्रैगुण्यात् तद्विपर्ययाभावात् ।
कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धम् ॥१४॥

भेदानां परिमाणात् समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च ।
कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्वरूप्यस्य ॥१५॥

कारणमस्त्यव्यक्तं, प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च ।
परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् ॥१६॥

संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात् ।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं[2] प्रवृत्तेश्च ॥१७॥

जननमरणकरणानां[3] प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च ।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥१८॥

तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य ।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥१९॥

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम् ।
गुणकर्तृत्वेऽपि[4] तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ॥२०॥

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥२१॥

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥२२॥

---

१. गौ०, मा०, ज० — अविवेक्यादिः सिद्धः ।
२. मा० — कैवल्यार्थंप्रवृत्तेश्च ।
३. गौ० — जन्ममरण० ।
४. गौ० — गुणकर्तृत्वे च ।

अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम् ।
सात्त्विकमेतद् रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम् ।।२३।।

अभिमानोऽहंकार: तस्माद्द्विविध: प्रवर्तते सर्ग: ।
एकादशकश्च गणस्तन्मात्रपञ्चकश्चैव[1] ।।२४।।

सात्त्विक एकादशक: प्रवर्तते वैकृतादहंकारात् ।
भूतादेस्तन्मात्र: स तामस: तैजसादुभयम् ।।२५।।

बुद्धीन्द्रियाणि चक्षु: श्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि[2] ।
वाक्पाणिपादपायूपस्थानि[3] कर्मेन्द्रियाण्याहु: ।।२६।।

उभयात्मकमत्र मन: संकल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात् ।
गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाश्च[4] ।।२७।।

रूपादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्ति: ।
वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम् ।।२८।।

स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या ।
सामान्यकरणवृत्ति: प्राणाद्या वायव: पञ्च ।।२९।।

युगपच्चतुष्टयस्य तु वृत्ति: क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा ।
दृष्टे तथाप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्ति: ।।३०।।

स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते परस्पराकूतहेतुकां[5] वृत्तिम् ।
पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम् ।।३१।।

करणं त्रयोदशविधं तदाहरणधारणप्रकाशकरम् ।
कार्यं च तस्य दशधाऽऽहार्यं धार्यं प्रकाश्यं च ।।३२।।

अन्त:करणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम् ।
साम्प्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम् ।।३३।।

---

१. गौ०—तन्मात्र:पञ्चकश्चैव ।
२. गौ०·······रसनस्पर्शनकानि; श्रोत्रत्वक्चक्षूरसननासिकाख्यानि ।
३. गौ०, ज०, मा०.......पायूपस्थान् ।
४. मा०—बाह्यभेदाश्च ।
५. ज०—परस्पराकूतहेतुकीं ।

बुद्धीन्द्रियाणि तेषां पञ्च विशेषाविशेषविषयाणि[1] ।
वाग् भवति शब्दविषया, शेषाणि तु पञ्चविषयाणि[2] ॥३४॥

सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात् ।
तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि ॥३५॥

एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणगुणविशेषाः ।
कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥३६॥

सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः ।
सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम् ॥३७॥

तन्मात्राण्यविशेषाः तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः ।
एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च ॥३८॥

सूक्ष्मा मातापितृजा सह प्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः स्युः ।
सूक्ष्मास्तेषां नियता मातापितृजा निवर्तन्ते ॥३९॥

पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् ।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ॥४०॥

चित्रं यथाऽऽश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथाच्छाया ।
तद्वद्विना[3] विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम् ॥४१॥

पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन ।
प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम् ॥४२॥

सांसिद्धिकाश्च भावाः प्राकृतिका[4] वैकृताश्च धर्माद्याः ।
दृष्टाः करणाश्रयिणः कार्याश्रयिणश्च कललाद्याः ॥४३॥

धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण ।
ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः ॥४४॥

---

१. ज०—विषयीणि ।

२. ज०—विषयीणि ।

३. गौ०, ज०—विनाऽविशेषैः ।

४. गौ०—प्राकृता ।

वैराग्यात् प्रकृतिलयः संसारो भवति राजसाद् रागात् ।
ऐश्वर्यादविघातो विपर्ययात्तद्विपर्यासः ॥४५॥

एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्धाख्यः ।
गुणवैषम्यविमर्दात् तस्य च भेदास्तु पञ्चाशत् ॥४६॥

पञ्च विपर्ययभेदा भवन्त्यशक्तिश्च करणवैकल्यात् ।
अष्टाविंशतिभेदा तुष्टिर्नवधाऽष्टधा सिद्धिः ॥४७॥

भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोहः ।
तामिस्रोऽष्टादशधा तथा भवत्यन्धतामिस्रः ॥४८॥

एकादशेन्द्रियवधाः सह बुद्धिवधैरशक्तिनिर्दिष्टा ।
सप्तदशवधा बुद्धेर्विपर्ययात् तुष्टिसिद्धीनाम् ॥४९॥

आध्यात्मिक्यश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभागाख्याः ।
बाह्या विषयोपरमात् पञ्च च नव तुष्टयोऽभिमताः[1] ॥५०॥

ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः ।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः ॥५१॥

न विना भावैर्लिङ्गं न विना लिङ्गेन भावनिर्वृत्तिः[2] ।
लिङ्गाख्यो भावाख्यस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः[3] ॥५२॥

अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति ।
मानुषश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः[4] ॥५३॥

ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः ।
मध्ये रजो विशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ॥५४॥

तत्र जरामरणकृतं, दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः ।
लिङ्गस्याविनिवृत्तेस्तस्माद् दुःखं स्वभावेन ॥५५॥

---

१. गौ०—अभिहिताः ।

२. ज०—निष्पत्तिः ।

३. मा०—भवति द्विधा सर्गः ।

४. गौ०—समासतोऽयं त्रिधा सर्गः ।

इत्येष प्रकृतिकृतो[1] महदादिविशेषभूतपर्यन्तः ।
प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः ॥५६॥

त्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य ।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥५७॥

औत्सुक्यविनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः ।
पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम् ॥५८॥

रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात् ।[2]
पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते[3] प्रकृतिः ॥५९॥

नानाविधैरुपायैरुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः ।
गुणवत्यगुणस्य सतः तस्यार्थमपार्थकं चरति ॥६०॥

प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति ।
या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥६१॥

तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न[4] मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥६२॥

रूपैः सप्तभिरेव तु[5] बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः ।
सैव च पुरुषार्थं[6] प्रति विमोचयत्येकरूपेण ॥६३॥

एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम् ।
अविपर्ययाद् विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥६४॥

तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम् ।
प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः सुस्थः[7] ॥६५॥

---

१. गौ० कृती ।
२. ज०—नृत्तात् ।
३. गौ०— निवर्तते ।
४. गौ०, मा०—नापि ; वा०—ऽसौ ।
५. मा०— सप्तभिरेवं, क्वचित् 'तु' नास्ति ।
६. मा० पुरुषस्यार्थं ।
७. गौ०, ज० मा० स्वस्थः ; वा० (क्वचित्) स्वच्छः ।

दृष्टा मयेत्युपेक्षक[1] एको, दृष्टाहमित्युपरमत्यन्या[2] ।
सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य ॥६६॥

सम्यग्ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ ।
तिष्ठति संस्कारवशात् चक्रभ्रमिवद्[3] धृतशरीरः ॥६७॥

प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ ।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति ॥६८॥

पुरुषार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम् ।
स्थित्युत्पत्तिप्रलयाश्चिन्त्यन्ते यत्र भूतानाम् ॥६९॥

एतत्पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ ।
आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम् ॥७०॥

शिष्यपरम्परयाऽऽगतमीश्वरकृष्णेन चैतदार्याभिः ।
संक्षिप्तमार्यमतिना सम्यग्विज्ञाय सिद्धान्तम् ॥७१॥

सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य ।
आख्यायिकाविरहिताः[4] परवादविवर्जिताश्चापि ॥७२॥

तस्मात् समासदृष्टं शास्त्रमिदं नार्थतश्च परिहीनम् ।
तन्त्रस्य (च) बृहन्मूर्तेर्दर्पणसङ्क्रान्तमिव बिम्बम् ॥७३॥

---

१. गौ०—रङ्गस्थ इत्युपेक्षक एको ।
२. गौ०—उपरमत्येका ।
३. गौ०, मा०—भ्रमवद् ।
४. परिवाद०—इति क्वाचित्कः पाठः ।

ईश्वरकृष्णविरचिता

सांख्यकारिका

भाषानुवाद एवं अनुराधा संस्कृत-हिन्दी व्याख्योपेता

सांख्य-कारिका

वक्ता की उसी बात के प्रति श्रोता उन्मुख होता है जो उसके जीवन से सम्बन्धित अतएव उसके लिए उपयोगी होती है। जो बात उसके काम की नहीं होती, उन्मत्त-प्रलाप की तरह उसकी अवहेलना करना श्रोता के लिए अत्यन्त स्वाभाविक होता है। जहाँ तक सांख्य-शास्त्र का सम्बन्ध है यद्यपि उसका मुख्य लक्ष्य प्रकृति एवं पुरुष के एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न होने का निरूपण करना है तथापि वह जन-जीवन से साक्षात् सम्बन्धित है, किसी व्यक्ति का बुद्धि-विलास-मात्र नहीं। दुःख लोक-जीवन का कटु सत्य है। अतः उसकी सत्ता का अपलाप किसी भी प्रकार नहीं किया जा सकता। किन्तु दुःख की यही अनुभूति चिन्तन की परंपरा को जन्म देगी और उसी से दर्शन के ऊँचे-से-ऊँचे सिद्धांत विकसित होंगे, इसका आभास किसको हो सकता है ? अतः जो विषय लोक-जीवन में व्याप्त दुःख के निवारण के उपाय से सम्बन्धित है, उसके प्रति कौन श्रोता ऐसा है जो उन्मुख न होगा ? इसी अभिप्राय से ग्रंथकार ईश्वरकृष्ण पहली कारिका की अवतारणा के साथ अपने ग्रंथ की प्रस्तावना करते हैं :

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ॥१॥

दुःखत्रयेण आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिक-त्रिप्रकारकेण दुःखेन सह अभिघातात् अभितः बुद्धितत्त्वपुरुषौ हन्ति गच्छतीति असह्यसम्बन्धात्प्रतिकूल-वेदनीयत्वेन रूपेण वा संबन्धात् तदपघातके[1]तस्य दुःखत्रयस्योच्छेदके हेतौ विवेकरूपनिमित्ते, पुरुषाणां जिज्ञासा ज्ञानेच्छा भवतीति शेषः। दृष्टे लोक-प्रसिद्धभेषजादौ दुःखोच्छेदके हेतौ सुलभे सति दुष्करे विवेके सा जिज्ञासा अपार्था अपगतः अर्थः प्रयोजनं यस्याः सा निरर्थिका अन्यथासिद्धेत्यर्थः चेत्, न, कुतः एकान्तात्यन्ततोभावात् दृष्टेन हेतुना एकान्तस्य दुःखनिवृत्तेरवश्यं भावस्य, अत्यन्तस्य पुनःदुःखानुत्पादस्य च अभावादसम्भवादित्यर्थः ॥

---

१. जयमङ्गलाकार ने 'तदवघातके' पाठ दिया है।
गौडपाद ने इसे 'तदभिघातके' माना है।
यहाँ 'तदपघातके' पाठ वाचस्पतिमिश्र के अनुसार दिया गया है।

त्रिविध दुःखों के द्वारा पीड़ित होतें रहने से उनके निवारक (विवेकात्मक) हेतु के विषय में व्यक्तियों की जिज्ञासा (स्वतः) होती है। यदि कोई यह कहे कि दुःख के उच्छेदक औषध आदि लोक-प्रसिद्ध सुकर उपायों के सुलभ होते हुए विवेकरूपी दुष्कर उपाय के प्रति होने वाली जिज्ञासा निरर्थक नहीं तो और क्या है ? तो उसका यह कथन इसलिए उपयुक्त नहीं होगा कि उक्त भेषज आदि लौकिक उपायों से दुःख की निवृत्ति एक तो ऐकान्तिक अर्थात् अवश्य भावी नहीं, दूसरे उनके प्रयोग से एक बार निवृत्त दुःख से आत्यन्तिक अर्थात् सदा के लिए मुक्ति हो जाएगी, इसका भी निश्चय नहीं।

वाचस्पतिमिश्र ने प्रकृत कारिका की व्याख्या का उसकी प्रस्तावना के साथ सामञ्जस्य स्थापित करते हुए कहा है कि यदि संसार में दुःख न हो, अथवा दुःख हो भी तो उसके निवारण की इच्छा न हो, या इच्छा होने पर भी उसका निरोध सम्भव न हो तो उस ओर कोई प्रवृत्त न होगा। दुःख यदि नित्य है तो उसका उच्छेद सम्भव नहीं, क्योंकि जो सत् है उसका अभाव कभी नहीं हो सकता। दुःख के नित्य न होने पर भी उसके निवारण के उपाय का ज्ञान न होने से उसका उच्छेद नहीं हो सकता। यदि दुःख का निवारण सम्भव भी हो किन्तु शास्त्र-विषयक ज्ञान उसमें उपयोगी न हो अथवा उसके उपयोगी होने पर भी दुःख के उच्छेद का कोई अन्य अपेक्षाकृत सरल उपाय विद्यमान हो तो शास्त्र के प्रति किसी की भी जिज्ञासा कभी नहीं होगी। किन्तु दुःख नहीं है, ऐसी बात नहीं और उसके निवारण के लिए लोग इच्छुक न हों, यह भी नहीं है, अपितु प्रत्येक व्यक्ति दुःखों से त्राण पाना ही चाहता है। अतः ग्रन्थकार का कथन कि त्रिविध दुःख से प्रपीड़ित होने से ही उसके उच्छेद के उपाय विवेकख्याति के प्रति लोगों में जिज्ञासा उत्पन्न होती है, अत्यन्त समीचीन है।

दुःखत्रय से अभिप्राय दुःख के आध्यात्मिक, आधिभौतिक, तथा आधिदैविक तीनों प्रकारों से है। आत्मनि इति अध्यात्मं तदधिकृत्य जायमानमाध्यात्मिकम् की व्युत्पत्ति से यहां आध्यात्मिक पद से शारीरिक एवं मानसिक उभयविध दुःखों का ग्रहण होता है। चूंकि आत्मा में दुःख कथमपि सम्भव नहीं, अतः आत्मपद से उपचारतः शरीर एवं मन का ही ग्रहण उचित है। वात, पित्त एव कफ के प्रकोप से उत्पन्न होने वाले ज्वर अंगपीड़ा आदि दुःख शरीरिक एवं काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, ईर्ष्या, विषाद आदि विषयक मूलप्रवृत्तियों की तृप्ति न

---

१. तत्र त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः। सांख्यसूत्र १।१

होने से उत्पन्न दु:ख मानसिक होते हैं। यद्यपि सुख-दुख के मन का धर्म होने से उक्त सभीप्रकार के दु:ख मानसिक ही सिद्ध होते हैं तथापि जो दु:ख केवल मन में उत्पन्न होते हैं वे मानसिक और जो शरीर में उत्पन्न होते हैं उन्हें शारीरिक माना गया है। इन्हें आध्यात्मिक इसलिए कहा गया है कि ये सभी आन्तरिक उपाय से ही शान्त होते हैं। जिन दु:खों का उपचार बाहर से होता है वे दो प्रकार के होते हैं - आधिभौतिक एवं आधिदैविक। मनुष्य, पशु, सर्प एवं वृक्ष, पर्वत आदि से जो कष्ट मिलते हैं वे सभी 'भूतानि चराचरजातीयानि अधिकृत्य निमित्तीकृत्य जायमानं यद्दु:खं तदाधिभौतिकम्' की व्युत्पत्ति से आधिभौतिक कहे गये हैं। 'देवान् यक्षादीन् दिव: प्रभवान् वातवर्षातपशीतोष्णादीन् वा अधिकृत्य जायमानं यद्दु:खं तदाधिदैविकम्' की व्युत्पत्ति के अनुसार यक्ष, राक्षस आदि के आक्रमण, ग्रहों के प्रकोपजन्य वर्षा, धूप, शीत तथा उष्णता के आधिक्य से होने वाले दु:खों की संज्ञा 'आधिदैविक' अन्वर्थ ही है।[1]

उक्त विवेचन के अनुसार बाह्य एवं आभ्यन्तर भेद से दु:ख के वस्तुत: दो ही मुख्य प्रकार होते हैं। बाह्य जहां आधिभौतिक एवं आधिदैविक दो प्रकार का होता है, वहां आध्यात्मिक संज्ञक आभ्यन्तर-दु:ख के शारीरिक एवं मानसिक दो भेद होते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि परमार्थत: सभी प्रकार

---

१. आध्यात्मिकोऽपि द्विविध: शारीरो मानसस्तथा।
शारीरो बहुभिर्भेदैर्भिद्यते श्रूयतां च स: ॥२॥
शिरोरोगप्रतिश्यायज्वरशूलभगन्दरै: ।
गुल्मार्श: श्वयथुश्वासछर्द्यादिभिरनेकधा ॥३॥
तथाक्षिरोगातीसारकुष्ठाङ्गामयसंज्ञितै: ।
भिद्यते देहजस्तापो मानसं श्रोतुमर्हसि ॥४॥
कामक्रोधभयद्वेषलोभमोहविषादज: ।
शोकासूयावमानेर्ष्यामात्सर्यादिमयस्तथा ॥५॥
मानसोऽपि द्विजश्रेष्ठ तापो भवति नैकधा।
इत्येवमादिभिर्भेदैस्तापो ह्याध्यात्मिको मत: ॥६॥
मृगपक्षिमनुष्याद्यै: पिशाचोरगराक्षसै: ।
सरीसृपाद्यैश्च नृणां जायते चाधिभौतिक: ॥७॥
शीतवातोष्णवर्षाम्बुवैद्युतादिसमुद्भव: ।
तापो द्विजवरश्रेष्ठै: कथ्यते चाधिदैविक: ॥८॥ विष्णु पुराण ६।५

के शारीरिक दु:खों को ही बाह्य अतएव आधिभौतिक जानना चाहिए। क्योंकि इन्हीं दोनों में सभी प्रकार के दु:खों का समाहार हो जाता है। उसके आधिदैविक नामक भेद की कल्पना निरर्थक है।

चूंकि दु:ख का प्रत्येक प्राणी की बुद्धि में नियत रूप से विद्यमान प्रकार रजोगुण के परिणाम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जिसका अनुभव सभी प्राणियों को होना अनिवार्य है, अत: दु:ख की सत्ता का अपलाप कथमपि नहीं किया जा सकता। इसलिए उसके निवारण के लिए शास्त्रीय विषय की जिज्ञासा परम उपादेय है।

अभिघात और अपघात दो शब्द इस कारिका में ऐसे प्रयुक्त हुए हैं, जिनकी उपलब्धि अन्यत्र नहीं होती। अभि तथा अप पूर्वक हन् धातु से घञ् प्रत्यय करके इनकी निष्पत्ति होती है।[1]

अभिघात पद का अर्थ जयमंगलाकार ने पीड़न किया है तथा उसमें पंचमी विभक्ति हेतु अर्थ में मानी है।[2] वाचस्पति मिश्र[3] तथा स्वामिनारायण[4] ने इसे प्रतिकूलवेदनीयतात्मक सम्बन्ध माना है जो दु:खत्रय से चेतना शक्ति का होता है।

तदपघातके में जयमंगलाकार ने अप के स्थान पर अव उपसर्ग का प्रयोग किया है।[5] नारायण ने 'तदपघातके' का अर्थ दु:खत्रय के उपभोग की निवृत्ति का कारक किया है जो 'हेतौ' का विशेषण है। दु:खत्रय की निवृत्ति का जनक यह हेतु दृष्ट, आनुश्रविक या पारमार्थिक कोई भी हो सकता है क्योंकि जिज्ञासा सामान्य रूप से दु:ख के निवारक किसी भी तत्त्व के विषय में होती है। 'तदपघातके' में प्रयुक्त 'तत्' सर्वनाम पद से पूर्वपाद में पठित दु:खत्रय का परामर्श होता है। किन्तु ऐसा करने से भाषा सम्बन्धी अनुपपत्ति यह खड़ी

---

१. अभितो बुद्धितत्त्वपुरुषौ हन्ति गच्छति इति अभिघातः। अपहन्यते निवार्यते अनेनेति अपघातः।

२. अभिघातात् पीडनात् हेतोः। जयमंगला।

३. दुःखत्रयेणान्तःकरणवर्तिना चेतनाशक्तेः प्रतिकूलतया अभिसम्बन्धोऽभिघातस्तस्मात्। तत्त्वकौमुदी।

४. दुःखानां त्रयं दुःखत्रयं तस्य अभिघातात् प्रतिकूलवेदनीयतात्मकसम्बन्धात् चेतनस्येति शेषः। स्वामिनारायणभाष्य।

५. अवघातयति अपनयतीति अवघातकस्तस्मिन्। जयमंगला।

होती है कि सर्वनाम से प्रधान का ही परामर्श होना चाहिये गौण का नहीं। यहाँ दुःखत्रय का अभिघात के साथ षष्ठीतत्पुरुष समास होकर उपसर्जन अर्थात् गौण होने से पूर्व प्रयोग हुआ है। अतः उसका तत्पद से परामर्श नहीं हो सकता। ऐसा नहीं मानने पर 'देवदत्तपुत्रः समायाति, तं पश्य' वाक्य में प्रयुक्त तत्पद से पुत्र या देवदत्त किसका परामर्श हो, यह विवाद उपस्थित होने लगेगा। वाचस्पति मिश्र ने इसका समाधान करते हुए कहा है कि वाक्य में प्रयोग से गौण होते हुए भी तत्पद से यहाँ दुःखत्रय का ही परामर्श इसलिए हो जाता है कि बुद्धि प्रसंगानुरूप का ही ग्रहण करती है।[1] स्वामिनारायण का कहना है कि तत्पद की शक्ति दुःखत्रयत्वावच्छिन्नदुःखत्रयरूप अर्थ में ही निहित है। अतः दुःखत्रयाभिघातात् इस समस्त पद में गुणीभूत होने पर भी तत्पद से दुःखत्रय का ही परामर्श होता है। क्योंकि बुद्धि से उसी का सन्निकर्ष है।[2] वस्तुतः सर्वनाम से केवल प्रधान का ही नहीं अपितु बुद्धिस्थ विषय का भी परामर्श होता है। अन्यथा—

वर्तते राजमातङ्गास्तस्यैवामी तुरङ्गमाः।

वाक्य में 'राजमातङ्गाः' में प्रयुक्त राजा पद उपसर्जन है, किन्तु तस्य से उसका परामर्श न होने से अर्थ ही नहीं बन पाएगा। अतः प्रकृतस्थल में तत्पद से उपसर्जन होने पर भी दुःखत्रय का परामर्श शास्त्र एवं प्रयोग उभय-सम्मत ही है।

यहां एक मौलिक प्रश्न यह उठता है कि दुःख के उच्छेद की इच्छा होने से ही क्या होता है? सत्कार्यवादी सांख्य के मत से असत् की उत्पत्ति तथा सत् का निरोध कथमपि नहीं हो सकता। दुःख सत् है उसका सर्वथा निरोध तो हो नहीं सकता। निवृत्ति का अर्थ यहां ध्वंस होता है। सत्कार्य-वाद के अनुसार प्रागभाव एवं प्रध्वंसाभाव होते ही नहीं। अतः दुःख का भी सर्वथा ध्वंस रूपी अभाव सम्भव नहीं। फलतः इसके लिए प्रयास या जिज्ञासा का होना व्यर्थ ही नहीं, उपहासास्पद भी है। इस प्रकार इस विषय के अशक्य समुच्छेद की कोटि में आने से उसके निवारणार्थ किसी शास्त्र के प्रणयन की कोई आवश्यकता नहीं। दुःख नित्य है किन्तु वह सदा सबको बना नहीं रहता। उसका

---

१. उपसर्जनस्यापि (दुःखत्रयस्य) बुद्ध्या सन्निकृष्टस्य तदा परामर्शः।
तत्त्व कौमुदी।

२. प्रकृते च तत्पदस्य तत्पदोच्चारणानुकूलदुःखत्रय-विषयकसमस्तपदस्यैक-देशेऽभिघाते गुणीभूतस्य दुःखत्रयस्य बुद्ध्या सन्निकृष्टस्य तत्पदेन परामर्शः॥
स्वामिनारायण।

कारण यह है कि उसके दो रूप होते हैं स्थूल और सूक्ष्म। जब इसका भोग होता रहता है, तब वह स्थूल रूप में रहता है। उसे ही वर्तमान कहते हैं, किन्तु औषधोपचार के अनन्तर वह सर्वथा लुप्त नहीं हो जाता, अपितु सूक्ष्म रूप से उसी प्रकार बना रहता है जैसे अप्रज्वलित अवस्था में अग्नि। स्थूलावस्था में उसका आविर्भाव एवं तिरोभाव हुआ करता है सर्वथा विनाश या विध्वंस नहीं।

सांख्य के सत्कार्यवाद के अनुसार दुःख की नित्यता को स्वीकार करते हुए वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि यद्यपि दुःख का सर्वथा विनाश सम्भव नहीं तथापि उसका प्रतिरोध तो किया ही जा सकता है। सूक्ष्मावस्था में विद्यमान जिस दुःख का आविर्भाव नहीं हुआ है, उसे रोका तो जा ही सकता है। दुःख सूक्ष्मावस्था में नित्य बना रहे, इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं। आपत्ति उसके भोगारूढ़ होने में है। क्योंकि तभी हमें कष्ट भी होता है। वस्तुतः उसी अनागत दुःख का आविर्भाव न होने देना ही योगशास्त्र का भी लक्ष्य है।[1] दुःख दो प्रकार का होता है—आगत (आया हुआ) तथा अनागत (आनेवाला) प्रारब्ध कर्म के फलस्वरूप जिस दुःख का भोग हो रहा होता है, वह आगत है जिसका भोग इस शरीर से ही हो जाना है। योगी, साधक या मुमुक्षु को संचित कर्म के फलस्वरूप होने वाला भावी (अनागत) दुःख ही खटकता है। क्योंकि उसके भोग के लिए ही पुनः जन्मजन्मान्तर ग्रहण करना पड़ेगा। अतः उसके ही निरोध के लिए अर्थात् उसे भोगारूढ़ न होने देने के लिए उपाय की जिज्ञासा उचित ही है। सांख्यशास्त्र भी उसी दुःख को दृष्टि में रखकर उसके निरोध के उपाय प्रकृति-पुरुषान्यताख्याति का विधान करता है।[2]

यद्यपि इस संसार में क्या लौकिक, क्या परीक्षक सभी प्राणी दुःख को प्रतिकूल जानते हुए उसके परिहार के लिए स्वतः ही निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं। कोई भी ऐसा प्राणी नहीं है जो दुःख से उद्विग्न नहीं होता तथा सुख की कामना नहीं करता,[3] तथापि प्रायः सभी सांसारिक सुखों को दुःख से मिश्रित समझ कर कुछ विवेकी उनकी प्राप्ति की कामना न करते हुए दुःख के परिहार के लिए ही सचेष्ट रहते हैं। सामान्यतः व्यक्ति दुःखनिवृत्तिपूर्वक

---

१. हेयं दुःखमनागतम्। योगसूत्र २।१६

२. अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः। सा० सूत्र १।१

३. दुःखादुद्विजते सर्वः सर्वस्य सुखमीप्सितम्। महाभारत।

ही विषय-सुख की कामना करते हैं। पर कुछ प्रबुद्ध जन तात्कालिक दुःख की निवृत्ति एवं दुःखमिश्रित विषय-सुख की प्राप्ति को हेय समझते हुए दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति तथा उसके मिश्रण से रहित सुख की प्राप्ति को ही परम पुरुषार्थ मानते हैं। इसलिए दुःख के अभिघात अर्थात् प्रपीड़न से उसके अपघात अर्थात् निवारण की इच्छा या उसके उपाय को जानने की इच्छा का उत्पन्न होना कुछ प्रबुद्धजनों के सम्बन्ध में ही स्वाभाविक है, सबके लिए नहीं।

यहां एक प्रश्न और उपस्थित होता है कि दुःख किसका धर्म है? सांख्य-सिद्धान्त के अनुसार सुख दुःख मोहादि सभी धर्म बुद्धिगत होने से प्राकृत हैं, पुरुष रूप आत्मा के नहीं। क्योंकि वह तो कूटस्थ, नित्य एवं अपरिणामी है। उसमें दुःखादि परिणाम हो ही नहीं सकते। फिर दुःखत्रय का अभिघात किसको होता है? तथा उसके उच्छेद की आवश्यकता किसे है? इसका समाधान यह है कि यद्यपि दुःख अन्तःकरणरूपा बुद्धि का ही धर्म है, तथापि दुःखादि युक्त बुद्धि के सन्निधान से उसमें प्रतिबिम्बित पुरुष पर भी दुःख की छाया का आरोप विवेक-ग्रह के अभाव में उसी प्रकार हो जाता है जिस प्रकार जल में प्रतिबिम्बित निश्चल भी सूर्य का बिम्ब जल के हिलने से चंचल प्रतीत होने लगता है। इस प्रकार पुरुष का दुःख से प्रपीड़न औपाधिक ही होता है, वास्तविक नहीं। चूंकि यथार्थज्ञान रूप विवेक के अभाव में ही ऐसा होता है, इसलिए शास्त्र के निरूपण का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति के विवेक को जाग्रत करना है। वस्तुतः दुःख का यही अपघात या अवघात है। नित्य होते हुए भी दुःख प्रकृति का विकार बुद्धि-मात्र का धर्म है। आत्मा (पुरुष) दुःख से सर्वथा असंस्पृष्ट है। जो इस तथ्य को जान लेता है उसके दुःख की आत्यन्तिक एवं ऐकान्तिक निवृत्ति हो जाती है। यह बात शास्त्र-सम्मत ही है। अतः दुःख का निवारक उपाय शास्त्रप्रतिपाद्य ही है, त्याज्य नहीं। इसलिए उसका जिज्ञास्य होना भी युक्तियुक्त ही है। इन सब तथ्यों को ध्यान में रखकर ही कारिकाकार ने कहा है 'जिज्ञासा तदपघातके हेतौ'।

इसी पर आशंका करते हुए कहा है—दृष्टे साऽपार्था चेत्, जिसका अभिप्राय यह है कि दुःखत्रय का अस्तित्व है यह बात सही है। यह भी सही है कि उसके निवारण की प्रबल इच्छा होती है जो सम्भव भी है। किन्तु दुःख के निवारण के लिए शास्त्रप्रतिपादित उपाय के विषय में जिज्ञासा का होना स्वाभाविक इसलिए नहीं प्रतीत होता कि दुःख के उच्छेद के अन्य उपाय भी विद्यमान हैं जो लौकिक भी हैं और सरल तथा सुकर भी। कहते भी है, कि यदि पास के आक के पौधे पर शहद मिल जाय तो [illegible] व्यक्ति पहाड़ क्यों जाने

लगेगा ? अतः अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति यदि स्वतः हो जाय तो कोई भी समझदार व्यक्ति उसके लिए व्यर्थ का प्रयत्न नहीं करेगा ।[1]

शरीर के संताप को दूर करने के सैकड़ों उपायों का विधान उत्कृष्ट वैद्यों ने कर रखा है । अभिलाषा के अनुरूप स्त्री, खान-पान एवं वस्त्रालंकार आदि भोग्य-वस्तुओं की प्राप्ति से मानसिक संताप का भी प्रतिकार सरलता से एवं स्वतः हो जाता है । यह तो हुई आध्यात्मिक दुःख की निवृत्ति । आधि-भौतिक दुःख की निवृत्ति भी नीतिशास्त्र के अभ्यास, कुशलता एवं निरापद स्थान में निवास करने से हो जाती है तो मणि[2], मंत्र[3] एवं ओषधि[4] के उपयोग से ग्रहादिकृत आधिदैविक दुःख भी सरलता से प्रशान्त हो जाते हैं । अतः सांख्य—शास्त्रगम्य विवेकख्याति रूप उपाय की जिज्ञासा सर्वथा अस्वाभाविक एवं निरर्थक प्रतीत होती है ।

ग्रंथकार ने इसी की सम्भावना करते हुए कहा है कि 'दृष्टे सापार्था-चेत्' । 'चेत्' यह निपात है जिसका अर्थ यह शङ्का है कि क्या वह जिज्ञासा दृष्ट उपायों से अपार्थ हो सकती है ? 'अपगतः अर्थः प्रयोजनं यस्याः जिज्ञासायाः सा अपार्था निरर्थिका इत्यर्थः - जिसका कोई प्रयोजन शेष नहीं रहा वही अपार्थ है । 'न' के साथ इसका योग करके 'अपार्था न' अर्थात् सार्थिका एव अर्थ बनता है । चूंकि लौकिक उपायों से वह जिज्ञासा शान्त नहीं होती, इसलिए उससे भिन्न विवेकख्यातिप्रद शास्त्रीय उपाय के लिए उस जिज्ञासा की सार्थकता अभी भी बनी ही है । क्योंकि लौकिक उपाय से दुःख का एकान्ततः—अवश्यम्भावी एवं अत्यन्ततः—सर्वदा के लिए निरोध सम्भव नहीं । रसायन, कामिनी, नीतिशास्त्र एवं मणि-मंत्र आदि के विधिपूर्वक सेवन से भी आध्यात्मिक आदि दुःखों की निरपवाद रूप से निवृत्ति का न होना ही उनके निरोध की अनैकान्तिकता है तथा एक

---

१. अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत् ।
इष्टस्यार्थस्य संसिद्धौ को विद्वान् यत्नमाचरेत् ॥

२. दोषोपसर्गप्रभवाश्च ये ते नोपद्रवास्तं समभिद्रवन्ति ।
गुणैः समुग्रैः सकलैरुपेतो यः पद्मरागं प्रयतो बिभर्ति ॥

३. त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥ यजुर्वेद सं० ३ । ६०

४. कृष्णामरीचिसिन्धूत्थमधुगोरोचनाकृतम् ।
अञ्जनं सर्वदेवादिकृतोन्मादहरं परम् ॥

बार उनके प्रयोग से निवृत्त भी दुःख का पुनः आविर्भाव उसकी अनात्यन्तिकता है।[1] मूल कारिका में 'अत्यन्त पद से तसिल् प्रत्यय हुआ है जिसका प्रयोग किसी भी विभक्ति के स्थान पर होता है।

प्रकृत कारिका ग्रन्थ की प्रथम कारिका है। 'नामङ्गलं प्रयुञ्जीत' तथा 'निर्विघ्नतापूर्वकसमाप्तिकामो मङ्गलमाचरेत्' 'मंगलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते', इत्यादि विधानों के रहते हुए भी प्रकृत ग्रंथ का प्रारम्भ अमंगलार्थक 'दुःख' पद से होना परम्परा-विरुद्ध एवं अमंगलवादी प्रतीत होता है। पर पूरे वाक्य में दुःख के निवारण का विधान एवं उसके अपघातक हेतु की जिज्ञासा होने से यहाँ भी अमंगल के विनाशरूप मगल का ही विधान मानना चाहिए। वाक्य से पृथक् शब्द का अपना कोई अर्थ नहीं होता। प्रकृत कारिका के आरम्भ में दुःख शब्द का प्रयोग अवश्य हुआ है। किन्तु पूरे वाक्य से तो दुःख के उच्छेद अर्थ की ही अभिव्यक्ति होती है और वही ग्राह्य भी है। अन्यथा वाक्य में प्रयुक्त आदि पद के अमंगलार्थक होने से यदि श्लोक को अमंगलकारी मान लिया जाएगा तो उसी प्रकार शब्द में प्रयुक्त प्रथम अक्षर् 'न' के विपरीतार्थक या अभावार्थक होने से महाभारत[2] के प्रथम श्लोक के आरम्भ में 'नारायण' पद का प्रयोग या उसका अहर्निश उच्चारण भी अमंगलकारी ही माना जाएगा। किन्तु ऐसा माना नहीं जाता। अतः जिस प्रकार 'न' अक्षर के आरम्भ में प्रयुक्त होते हुए भी नारायण पद अशुभ नहीं है, उसी प्रकार यहां भी प्रथम कारिका के आरम्भ में दुःखपद का प्रयोग अमंगल का सूचक कथमपि नहीं अपितु दुःखत्रय की आत्यन्तिक एवं ऐकान्तिक निवृत्ति के उपाय विवेकख्याति की जिज्ञासा परम मंगल का ही विधान करती है ॥१॥

दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए उक्त लौकिक उपाय यदि सक्षम नहीं हैं तो न सही, वैदिक उपाय भी तो हमें ज्ञात है। श्रुतियां कहती हैं 'स्वर्गकामो यजेत्। अतः उनके विधान के अनुसार ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों का अनुष्ठान कर व्यक्ति स्वर्ग की प्राप्ति कर सकता है। स्वर्ग एक ऐसी उपलब्धि है जहां दुःख का सर्वथा अभाव तथा सुख के सारे उपादान सुलभ होते हैं।

---

१. एकान्तो दुःखनिवृत्तेरवश्यम्भावः। अत्यन्तो निवृत्तस्य तु तस्य पुनरनुत्पादः तयोरभावः तस्मादेकान्तात्यन्ततो ऽभावात्। वाचस्पतिमिश्र, तत्त्वकौमुदी।

२. नारायणं नमस्कृत्य नरञ्चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥ महाभारत ॥

कुमारिल भट्ट ने तंत्रवार्तिक में स्वर्ग की परिभाषा करते हुए कहा है कि जहां दुःख नहीं है, न ही किसी प्रकार का व्यवधान है तथा जिस वस्तु की इच्छा होती है वह तुरन्त प्राप्त हो जाती है, यह सब सुख जहां स्वतः प्राप्त होते हैं उसे ही स्वर्ग पद से अभिहित किया गया है[1]।

वस्तुतः दुःख-विरोधी सुख ही स्वर्ग है जो वैदिक कर्मकाण्ड से प्राप्य है। यह नहीं समझना चाहिए कि स्वर्ग-सुख अनित्य है। श्रुति कहती है कि यज्ञ में सोमरस का पान किया नहीं कि अमर हो गये[2]। मरण के भाव को ही मृतत्व एवं उसके अभाव को अमृतत्व कहेंगे। जन्मजन्मान्तर के अभ्यास से साध्य विवेकज्ञान की अपेक्षा घटिका, प्रहर, दिवस, मास एवं वर्ष मात्र के प्रयास से लभ्य स्वर्ग-सुख की प्राप्ति का साधक वेदविहित उपाय यज्ञानुष्ठान ही सुकर है। अतः मुमुक्षु को उसी वैदिक उपाय की जिज्ञासा होनी चाहिए। इस आशंका का परिहार दूसरी कारिका में करते हैं—

दृष्टवदानुश्रविकः सह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ॥२॥

अनुश्रूयते पारम्पर्येण इत्यनुश्रवो वेदः (अनु+श्रु+अप्) तत्र भवो हेतुरानुश्रविकः यागादिक्रियाकलापरूपो वैदिकः उपायः दृष्टेन तुल्यो दृष्टवत् औषधादिलौकिकोपायतुल्यः। ततोऽपि आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिरसम्भवेत्यर्थः हि यतः स वैदिक उपायः अविशुद्धिक्षयातिशययुक्तो भवति। यज्ञेषु पशुहिंसादिसंबन्धात् सोमपानाच्च अविशुद्धियुक्तः, कर्मक्षयात् स्वर्गच्युतिरिति क्षययुक्तः अतिशयवत् यस्मादधिकं फलान्तरमस्ति तद्युक्तत्वात् अतिशययुक्तः सः। ततः तस्मात् विपरीतः यागादिभिन्नः वैदिकक्रियागतदोषरहितः, सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययरूपः उपायः विवेकः, श्रेयान् प्रशस्यतरः शरीरहानाद्विशुद्धफलः प्रकृतिहानादक्षयफलः अनुत्तरत्वाच्च निरतिशयफलः इत्यानुश्रविकात् श्रेयान्। कथं तत्र हि व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् व्यक्तस्य विकारजातस्य भूतादेः, अव्यक्तस्य मूलप्रकृतेः, ज्ञस्य पुरुषस्य च विज्ञानात् विविच्य विवेकेन वा ज्ञानात्

---

१. यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम्। तन्त्रवार्तिक।

२. अपाम सोमममृता अभूम। ऋग्वेद ८।४८।३

भवतीत्यर्थः । तत्र व्यक्तं महदादि, अव्यक्तं प्रधानं, ज्ञः पुरुषः, एवं पञ्चविंशति-तत्त्वानि व्यक्ताव्यक्तज्ञाः कथ्यन्ते ।

(दुःख की निवृत्ति का यज्ञयागादि रूप) वैदिक उपाय भी (औषधादि) लौकिक उपायों के समान ही (अक्षम) है । क्योंकि पहले तो इसमें हिंसादि के होने से विशुद्धता नहीं रहती, फिर इससे बढ़कर भी सुखभोग की प्राप्ति संभव है तथा अन्त में इसका फल भी नश्वर है। इसलिए स्वर्ग-प्राप्ति रूप वैदिक-उपाय से भिन्न (दुःखनिवृत्ति का तत्त्वज्ञान अर्थात् विवेक रूपी) उपाय इसलिए उत्तम है कि वह व्यक्त=महत् आदि अव्यक्त=मूल-प्रकृति एवं ज्ञ=पुरुष के स्व-रूप के यथार्थ बोध से उपपन्न होता है ।

आनुश्रविक—'गुरुपाठादनुश्रूयते'[1] की व्युत्पत्ति से अनुश्रव वेद को कहते हैं । क्योंकि ये गुरु के उच्चारण को सुनकर ही पढ़े जाते हैं । अथवा ये गुरु-परम्परा से सुने ही जाते हैं, कोई इनकी रचना नहीं करता ।[2] अतः ये अनुश्रव कहे जाते हैं । वेद में निरूपित उपाय को अनुश्रव पद से तत्रभवः के अर्थ में तद्धित ठञ् प्रत्यय से व्युत्पन्न कर आनुश्रविक कहेंगे । इसका अभिप्राय यज्ञयागादिरूप वैदिक उपाय से है जिससे स्वर्ग की प्राप्ति होती है ।

दृष्टवत् से अभिप्राय दृष्ट अर्थात् लौकिक उपाय की समानता से है । 'दृष्टेन तुल्यो वर्तते' अर्थ में 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' पाणिनीयसूत्र से 'वति' प्रत्यय होकर दृष्टवत् पद व्युत्पन्न होता है । दृष्ट एवं आनुश्रविक उपायों में वर्तन क्रिया की तुल्यता है । 'यथा दृष्टो वर्तते तथैव आनुश्रविकोऽपि वर्तते । दोनों में साम्य इस बात का है कि दुःख की अत्यन्त निवृत्ति रूप फल की साध-कता में लौकिक एवं वैदिक दोनों में से कोई उपाय विशेष नहीं है । अर्थात् दोनों ही दुःख की आत्यन्तिक एवं ऐकान्तिक निवृत्ति के उपाय नहीं हो सकते । श्रीमद्भागवत में भी इसी भाव को व्यक्त करते हुए कहा है कि श्रुत अर्थात् वैदिक उपाय भी दृष्ट अर्थात् लौकिक उपाय की तरह ही अनेक दोषों से युक्त होता है । इसमें भी लोगों में परस्पर स्पर्धा होती है । व्यक्ति एक दूसरे के अनु-ष्ठान में छिद्रान्वेषण करते हैं । इसका फल भी स्थायी नहीं होता तथा उपभोग से वह क्षीण भी हो जाता है । चूंकि वह भी एक प्रकार का काम्य कर्म है अतः

---

१. साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः । तेऽवरेभ्यो साक्षात्कृतधर्मस्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रददुः ।। निरुक्त १।३

२. तथा च स्मृतिः—
स्वयंभूरेष भगवान् वेदो गीतस्त्वया पुरा ।
शिवाद्या ऋषिपर्यन्ताः स्मर्तारोऽस्य न कारकाः ।।

उसकी सिद्धि में अनेक विघ्न उपस्थित होते हैं । खेती बारी की तरह वह भी कई बार निष्फल हो जाता है ।[१]

यहाँ पर शंका हो सकती है कि वेद ईश्वरकृत है ईश्वर के सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् होने से उसकी इस कृति में भ्रान्ति आदि किसी भी प्रकार के दोष की सम्भावना करना ईश्वर की सर्वज्ञता में आविश्वास करना है । अतः आनुश्रविक उपाय को लौकिक उपायों की कोटि में रखना सर्वथा अनुचित है। इसका उत्तर यही हो सकता है कि वेद की रचना के विषय में भारतीय दर्शन की विविध विधाओं में मतभेद है । सेश्वर-सांख्य और योग वेद को परमेश्वर द्वारा उच्चरित मानते हैं, कृत नहीं । निरीश्वर सांख्य उसे शब्दात्मक सत्स्वरूप कहता है । न्याय वैशेषिक के मत से परमात्मा के द्वारा उच्चरित शब्द ही वेद हैं तो मीमांसक के मत से वेद नित्य-शब्दात्मक है । वेदान्ती इन्हें शब्दात्मक ब्रह्मोच्छ्वास मानता है । इस प्रकार वेद पर किसी का कर्त्तुत्व किसी ने भी स्वीकार नहीं किया है । फिर परमेश्वर कृत होने मे ही इनके निर्दोष होने की बात युक्ति-संगत नहीं । अन्यथा बुद्धवचन को भी दोष रहित मानना होगा ।

आनुश्रविक पद से यद्यपि गुरु परम्परा से श्रूयमाण मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् रूप निखिल वैदिकवाङ्मय का ग्रहण हो जाता है, तथापि प्रकृत कारिका में प्रयुक्त आनुश्रविक पद से यज्ञयागादि के विधायक मन्त्र एवं ब्राह्मण भाग को ही लेना चाहिए, आरण्यक एवं उपनिषद को नहीं । क्योंकि उनमें आरण्यक एवं उपनिषदों में भी यज्ञयागादिरूप कर्मकाण्ड का निषेध कर तत्त्वज्ञान की महत्ता का ही प्रतिपादन हुआ है । अतएव उपनिषदों में कर्मकाण्ड को पूर्वकाण्ड या खिलकाण्ड के नाम से अभिहित किया है, जब कि ज्ञानकाण्ड को ही निखिल-वैदिक-विद्या का निर्गलित या प्रतिपाद्य कहा गया है । आचार्य शंकर की प्रस्थापना है कि वैदिक धर्म की दो विधाएंहैं-१-प्रवृत्तिमूलक तथा २-निवृत्तिमूलक । यज्ञयागादिरूप निखिल कर्मकाण्ड प्रवृत्ति-लक्षण धर्म कहलाता है तो उपनिषद् निवृत्ति-लक्षण धर्म ज्ञान के प्रतिपादक है ।[२]

---

१. श्रुतं च दृष्टवद्दुष्टं स्पर्धासूयात्ययव्ययैः ।
बह्वन्तरायकामत्वात् कृषिवच्चापि निष्फलम ॥ श्रीमद्भागवत ११।१०।२१

२. द्विविधो हि वेदोक्तो धर्मः प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणश्च जगतः स्थिति—कारणम् । स भगवान् सृष्ट्वेदं जगत्तस्य च स्थितं चिकीर्षुर्मरीच्यादी

लौकिक एवं वैदिक उपायों में समानधर्म उनका दुःखत्रय की आत्यन्तिक एवं ऐकान्तिक निवृत्ति का उपकारक न होना है। औषधादि लौकिक उपायों की अपेक्षा कर्मकाण्ड रूपी वैदिक उपायों से होनेवाली दुःखनिवृत्ति यद्यपि अधिक स्थायी एवं निश्चित सी है, अतः उसी से सन्तोष कर लेना उचित प्रतीत होता है, तथापि इसका निराकरण करने के लिए ही वैदिक उपाय में तीन विशेष दोषों की सम्भावना प्रकट की है—'सह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः' यह अ विशुद्धि अपवित्रता, क्षय=विनाशशीलता तथा अतिशय=न्यूनाधिक्यभाव से युक्त है। यज्ञ में पशुओं की हिंसा होती है। वह हिंसा यद्यपि 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' के सिद्धान्त के अनुसार हिंसा नहीं मानी जाती तथापि उससे मानव मन का विकृत हो जाना सर्वथा स्वभाविक है। पञ्चशिखाचार्य ने भी कहा है—'स्वल्पः संकरः सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः' अर्थात् ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ से उत्पन्न होनेवाले प्रधान (पुण्यमय) अपूर्व से वहां किए गए पशुहिंसा आदि से उत्पन्न थोड़े भी विपरीत (पापमय) अपूर्व के मिश्रण का अनेक प्रायश्चितों से भी परिहार नहीं हो सकता। अर्थात् यज्ञजन्य पुण्य से होनेवाले उत्तम फल के साथ उसमें कृत हिंसादि पाप के फल का भोग स्वर्ग में भी अवश्य करना होगा। कहने का अभिप्राय यह कि यद्यपि यज्ञ में कृत पशुवध को हिंसा नहीं मानते, पर उसके कुफल से बचने के लिए प्रायश्चित का जो विधान है, वही उसकी विशुद्धि का विघातक है। अतः यज्ञीय कर्मकाण्ड भी हिंसादि से परिपूर्ण होने से हेय ही है। यह तो हुआ साधनदोष। फलगत दोष हैं – क्षय एवं अतिशय। स्वर्गफल विनश्वर होते हैं। यज्ञादि भी कार्य हैं, अतः उनका फल स्वर्ग भी नश्वर ही सिद्ध होता है। ज्योतिष्टोम आदि कुछ यज्ञ स्वर्गप्रद हैं तो वाजपेय आदि यज्ञों का फल स्वर्ग के भी राजा के पद का प्रदायक है[२]। इस प्रकार वैदिक कर्मानुष्ठान से प्राप्य फल कहीं कम तो कहीं अधिक है। दूसरे के पास अधिक सम्पदा का होना कम सम्पत्ति के व्यक्ति को दुःखी करता ही है। अतः स्वर्ग में पहुंचकर भी मात्सर्य ईर्ष्यादि भावों के विद्यमान रहने से दुःख से निवृत्ति नहीं हो पाती।

नग्रे सृष्ट्वा प्रजापतीन् प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं ग्राहयामास वेदोक्तम्। ततोऽन्यांश्च सनकसनन्दनादीनुत्पाद्य निवृत्तिलक्षणं धर्मं ज्ञानवैराग्यलक्षणं ग्राहयामास। गीता, शांकरभाष्य, उपोद्घात।

१. स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत्।

२. स्वाराज्यकामो वाजपेयेन यजेत्।

'अपाम सोममृता अभूम' की उक्ति में यज्ञीय सोमपान से अमर होने का विधान चिरस्थायिता के तात्पर्य से है। 'अनुदरा कन्या' के समान यहाँ भी नञ् का अर्थ अल्पत्व[1] ही है। "मनुष्यापेक्षया अल्पं न्यूनं मृतं मरणं येषां ते अमृताः चिरकालस्थायिनः इत्यर्थः' विष्णु पुराण में तो ब्रह्म से लेकर भूतों तक सभी स्थान को अमृत कहा है।[2] इसीलिये श्रुतियां भी कहती हैं कि कर्म सन्तान एवं धर्म से नहीं अपितु एक मात्र त्याग से ही अमृतत्व प्राप्त किया, जा सकता है।[3]

चूंकि वैदिक उपाय से भी दुःखत्रय की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो सकती इसीलिये कहा—'तद्विपरीतः श्रेयान्' अर्थात् यज्ञ यागादि रूप वैदिक उपाय से भिन्न दुःख निवृत्ति का उपाय वही अधिक अच्छा है जिसमें न तो हिंसात्मक अपवित्रता विद्यमान है और न उसके फल के विनाश या उसमें न्यूनाधिक्य की ही सम्भावना हो। वह है 'सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्यय' अर्थात् पुरुष और प्रकृति के भेद का ज्ञान, क्योंकि इसका फल मोक्ष नित्य एवं निरतिशय है और सबको समान रूप से प्राप्त होता है। दो में से एक को बढ़कर बताने के अर्थ में प्रशस्य से इयसुन् प्रत्यय एवं उसे 'श्र' आदेश होकर श्रेयान् पद निष्पन्न होता है जिसका अभिप्राय यह है कि दुःख की निवृत्ति के चिकित्सा आदि तथाकथित लौकिक उपाय प्रशस्त नहीं कहे जा सकते। वैदिक उपाय को प्रशस्य कह सकते हैं क्योंकि उससे होने वाली स्वर्ग की प्रगति रूप दुःखनिवृत्ति अपेक्षाकृत स्थायी एवं निश्चयात्मक होती है। तत्त्वज्ञान से होने वाली दुःख की निवृत्ति तुलना में उससे भी उत्कृष्ट है इसीलिये तरप् के अर्थ का इयसुन् प्रत्यय यहाँ लगाया गया है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि जिस प्रकार स्वर्ग फल कार्य होने से अनित्य है उसी प्रकार 'यद्यत् कार्यं तत्तदनित्यम्' न्याय से सांख्य शास्त्र के प्रतिपाद्य 'व्यक्ताव्यक्तज्ञ विज्ञान' से होने वाला दुःखध्वंस भी कार्य होने से अनित्य हीं माना जायगा। फिर किस प्रकार स्वर्ग हेय एवं यह उपादेय है। वाचस्पति मिश्र ने इसका उत्तर दिया है कि 'यत्कार्यं तदनित्यम' न्याय की

---

१. सादृश्यं तदभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः॥

२. आभूतसंप्लवस्थानममृतत्वं हि भाष्यते। विष्णुपुराण २।५।१६

३. न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः।
महानारायणोप० १०।५

प्रवृत्ति केवल भाव पदार्थों में ही होती है। दुःखध्वंस चूंकि अभावात्मक है इसलिये उक्त न्याय से उसे अनित्य होने का प्रश्न ही नहीं उठता।[१] किन्तु सत्कार्यवाद के अनुसार दुःखध्वंस को मोक्ष कैसे कह सकेंगे? क्योंकि यदि वह अभावात्मक अर्थात् असत् है तो उसकी प्राप्ति होने का प्रश्न ही नहीं उठता। बालराम उदासीन ने इसका समाधान करते हुए कहा है कि यद्यपि सांख्य-दर्शन में सत्कार्यवाद के स्वीकार करने से दुःख प्रध्वंस को मोक्ष कहना उचित नहीं तथापि दुःखप्रध्वंस का अर्थ इस सन्दर्भ में व्यतीत दुःखावस्था ही समझना चाहिए न कि मोक्षावस्था। व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञान का कार्य तो दुःख का प्रध्वंस ही है मोक्ष तो उसका फल है जो कार्य के होने से स्वतः सिद्ध हो जाता है।[२]

दुःखनिवृत्ति के यज्ञयागादिरूप वैदिक उपाय से भी उत्कृष्टतर 'सत्त्व पुरुषान्यताख्याति' रूप जो उपाय सांख्यशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है उसके निरूपणार्थ ही कारिका में 'व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्' की उक्ति हुई है। यहां प्रयुक्त व्यक्त पद के अर्थ के विषय में कुछ विसंवाद है। कुछ आधुनिक व्याख्याकारों ने व्यक्त पद का अर्थ प्रत्यक्ष योग्य करके उससे केवल पांच महाभूतों का ही ग्रहण माना है शेष पांचों तन्मात्राओं, दश इन्द्रियों, तीनों अन्तःकरणों एवं मूल प्रकृति को मिलाकर अठारह तत्वों को अव्यक्त माना है। किन्तु प्राचीन सभी टीकाकारों ने व्यक्त से पुरुष एवं प्रधान को छोड़कर महत् से लेकर स्थूल भूत पर्यन्त सभी तेईस तत्त्वों का ग्रहण किया है। वाचस्पति मिश्र ने छठी कारिका की व्याख्या में कहा है कि सामान्यतो दृष्ट अनुमान से प्रधान पुरुष आदि अतीन्द्रिय तत्त्वों की प्रतीति होती है।[3] यहां प्रधान पुरुष के साथ प्रयुक्त आदि पद से महत् आदि का ग्रहण माना जाएगा। इसका अभिप्राय यह हुआ कि महत् आदि भी प्रधान एवं पुरुष की कोटि के ही अतीन्द्रिय अर्थात् अव्यक्त तत्व हैं।

---

१. न च कार्यत्वेनानित्यता फलस्य युक्ता, भावरूपस्य कार्यस्य तथा भावत्, दुःखप्रध्वंसनस्य तु कार्यस्यापि तद्वैपरीत्यात्।

तत्त्वकौमुदी।

२. यद्यपि सांख्यनय सत्कार्यवादाङ्गीकारेण दुःखप्रध्वंसस्य मोक्षत्वाभिधानं व्याहृतं, तथापि दुःखप्रध्वंसपदेनात्र दुःखातीतावस्थाया एव तात्पर्यविषयत्वेनाभिधानात् व्याहृत्यभावोऽवसेयः।

३. सामान्यतो दृष्टादनुमानादतीन्द्रियाणां प्रधानपुरुषादीनां प्रतीतिः।

— तत्त्वकौमुदी।

वंशीधर ने वाचस्पति के आदि पद के प्रयोग की व्यवस्था एक-दूसरे प्रकार से दी है। उनका सुझाव है कि प्रकृति एवं पुरुष के साथ आदि पद का प्रयोग उन दोनों के संयोग के ग्रहण के लिये हुआ है जो भी अनुमेय ही है।[1] इसप्रकार यहां प्रयुक्त व्यक्त पद से महत्तत्त्व अहंकार, एकादश इन्द्रियों, पंचतन्मात्राओं तथा पांच महाभूतों का ग्रहण होता है। अव्यक्त मूल प्रकृति है, तथा 'जानातीति' की व्युत्पत्ति से 'ज्ञ' पद ज्ञानात्मक पुरुष का वाचक होता है।

'व्यक्ताव्यक्तज्ञ' की व्युत्पत्ति 'व्यक्तं चाव्यक्तं च ज्ञश्चेति व्यक्ताव्यक्तज्ञाः तेषां विज्ञानात्, से स्पष्ट है कि यहां द्वन्द्व समास हुआ है। पर द्वन्द्व में किस पद का पूर्वप्रयोग हो इसके कुछ नियम हैं। जिसमें सबसे कम स्वर वर्ण हों,[2] अथवा जिसका अर्थ अन्यों की अपेक्षा अधिक सम्मान्य हो[3] उस पद का द्वन्द्व में प्राग्प्रयोग होता है। इस दृष्टि से उभयतः 'ज्ञ' पद का ही पूर्व प्रयोग होकर 'ज्ञव्यक्ताव्यक्तविज्ञानात्' समस्त पद होना चाहिए था। पर पदों के वर्तमान क्रम का विशेष प्रयोजन यह है कि जिस क्रम से ज्ञेय विषय का साक्षात्कार हमें होता है वह यही है। व्यक्त के बोध के बिना अव्यक्त का तथा उसके बिना पुरुष का बोध सम्भव न ही व्यक्त यह जगत् है जिसकी अभिव्यक्ति प्रकृति एवं पुरुष के सन्निधान से होती है। चूंकि उसका ग्रहण हमें सबसे पहले होता है अतः व्यक्त पद के पूर्वप्रयोग का अभिप्राय यह है कि सबसे पूर्व इस जगत् को ही समझना चाहिए। अनन्तर इसके मूल कारण—अव्यक्त प्रकृति को समझा जा सकता है। मूल प्रकृति का कोई कारण नहीं। वह एक स्वतंत्र तत्व है। यह जगत् उसी का कार्य है किन्तु पुरुष के सान्निध्य के बिना सत्व रज तम नामक तीन गुणों के साम्यप्रवाह के रूप में वह प्रकृति अव्यक्त बनी रहती है। अतः जिस तत्त्व के सन्निधान मात्र से यह प्रकृति कार्य करने लग जाती है उस पुरुष का ज्ञान ही परमज्ञान है।[4] सांख्यसूत्रों में भी इनके निरूपण का यही क्रम

---

१. आदिना तत्संयोगग्रहः। प्रकृतिपुरुषतत्संयोगानित्यानुमेया इत्युक्तेः।
वंशीधर (पृ० १९३)

२. अल्पाच्तरम्। पा० सू० २। २। ३४

३. अभ्यर्हितं च। पा० सू० २। २। ३४ परवार्तिक।

४. एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥ सा० का० ६४

उपलब्ध होता है।[1] इस प्रकार सांख्य-सिद्धान्त के अनुसार—दुःखभोग की अत्यन्त-निवृत्ति ही मोक्ष है। तथा दुःखभोग का अत्यन्त योग ही बन्धन है। यहां प्रश्न यह उठता है कि पुरुष का यह बन्धन स्वाभाविक है या आरोपित। यदि स्वाभाविक कहेंगे तो इसकी निवृत्ति क्या लौकिक क्या वैदिक तथा तत्त्वज्ञान किसी भी उपाय से सम्भव नहीं। जल की स्वाभाविक द्रवता तथा अग्नि की उष्णता किसी भी उपाय से सर्वदा के लिए दूर नहीं की जा सकती। इसीलिए कहा है कि—

यद्यात्मा मलिनोऽस्वच्छो विकारी स्यात् स्वभावतः।
नहि तस्य भवेन्मुक्तिर्जन्मान्तरशतैरपि॥

इसलिए जल के उष्ण-स्पर्श के समान आत्मा का यह दुःख-बन्धन स्वाभाविक न होकर औपाधिक है यही मानना चाहिए। तभी उसकी निवृत्ति के उपाय के अन्वेषण या ऊहापोह की सार्थकता भी है। यदि आत्मा में स्वाभाविक दुःख होता तो उसकी अनुभूति हमें निरंतर होती रहती और मोक्ष का प्रश्न ही नहीं उठता। वस्तुतः त्रिगुणात्मक चित्त में ही दुःख आदि सम्भव होते हैं। यही चित्त जब सत्वबहुल हो जाता है तो थोड़ी देर के लिए दुःख की अनुभूति भी नहीं होती। अतएव योगी चित्त का सर्वथा निरोध ही कर डालना चाहता है। तभी पुरुष में अरोपित दुःख की अत्यन्तनिवृत्ति सम्भव है।

आत्मा पुरुष और अनात्मा प्रकृति के स्वरूप के यथार्थज्ञान रूप साक्षात्कार से 'मैं कर्त्ता हूं' इत्यादि सभी प्रकार के अभिमान की निवृत्ति हो जाने से उनके कार्य राग, द्वेष, धर्म, अधर्म आदि पुनः उत्पन्न नहीं होते। पूर्वोत्पन्न संचित कर्मों के सहकारी अविद्या अस्मिता राग द्वेष आदि का उच्छेद हो जाने से वे भी अपना फल नहीं दे पाते या उनके फल के भोग के लिए देहान्तर-प्राप्ति की सम्भावना नहीं रह जाती। जिससे प्रारब्ध कर्मों के फलभोगार्थ प्राप्त इस शरीर के पतन के बाद पुनर्जन्म न होने से त्रिविध दुःख की अत्यन्त-निवृत्ति रूप मोक्ष स्वतः हो जाता है। अतः प्रकृतिपुरुषान्यताख्याति रूप विवेकसाक्षात्कार के लिए मननाख्य विचार रूप शास्त्र में जिज्ञासा होनी ही चाहिए[2] ॥२॥

---

१. स्थूलात् पञ्चतन्मात्रस्य। बाह्याभ्यन्तराभ्यां तैश्चाहंकारस्य। तेनान्तःकरणस्य। ततः प्रकृतेः। संहतपरार्थत्वात्पुरुषस्य। सां० सू० १।६२—६६
२. न स्वभावतो बद्धस्य मोक्षसाधनोपदेशविधिः॥ सां० सू० १।७

इससे पूर्व की कारिका में व्यक्ताव्यक्तज्ञ विज्ञान रूप जिस तत्त्वज्ञान को दु:ख की आत्यन्तिक निवृत्ति का उपाय कहा है, प्रकृत कारिका में उसी का तत्त्वपरिगणनमात्र करते हैं—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ।। ३ ।।

प्रक्रियते उत्पद्यते अस्या इति प्रकृतिः प्रधानम् । मूलं च तत्प्रकृतिश्चेति मूलप्रकृतिः । सप्तानां प्रकृतीनां मूलमाद्यं कारणमित्यर्थः । न विक्रियते इत्यविकृतिः । न कुतश्चिदुत्पद्यते इत्यर्थः । एतत् प्रथमं तत्त्वम् । महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त, महान् बुद्धिः स आद्यो यासां प्रकृतीनां ताः महदाद्याः, प्रकृतयश्च विकृतयश्चेति प्रकृतिविकृतयः, महदहंकारपंचतन्मात्राणीति सप्तसंख्याकाः सन्ति । षोडश परिणाममस्येति षोडशकः पंचज्ञानेन्द्रियाणि पंचकर्मेन्द्रियाणि पंचमहाभूतानि मनश्चेत्ययं गणः विकारश्च विकृतिरेव, नास्मात् किंचिदुत्पद्यते इत्यर्थः । पुरं शरीरं तस्मिन् वसतीति पुरुषः । निष्क्रियत्वात् तस्मात् न किंचिदुत्पद्यते इति न प्रकृतिः । अनादित्वात् नायं कुतश्चिदुत्पद्यते इति नापि विकृतिरित्यर्थः ।

प्रकृति की विकाररहित अवस्था मूलप्रकृति है। महत् आदि सात तत्त्व प्रकृति एवं विकृति दोनों होते हैं । केवल विकृतियां सोलह होती हैं तथा जो न किसी से उत्पन्न होता है और न ही किसी को उत्पन्न करता है वह तत्त्व एकमात्र पुरुष है ।

व्यक्ताव्यक्तज्ञ रूप जिस तत्त्वज्ञान का उल्लेख पूर्वकारिका में हुआ था, उसके अन्तर्गत आनेवाले पच्चीस तत्त्वों का चार विभागों में वर्गीकरण करके विवेचन करते हैं जो सांख्य-शास्त्र का संक्षेप में निरूपण करनेवाली चार विधाएं हैं। इनमें से कोई तत्त्व केवल प्रकृति है तो कोई केवल विकृति । कुछ दोनों ही हैं तो एक तत्त्व ऐसा भी है जो दोनों में से कोई नहीं । 'प्रक्रियते उत्पद्यते अस्याः' इस व्युत्पत्ति से प्रकृति उसे कहा है जिससे कोई अन्य तत्त्व उत्पन्न होता हो । जो स्वय किसी से उत्पन्न नहीं होती, अपितु अन्य तत्त्वों को उत्पन्न ही करती है, उसे मूलप्रकृति कहा है । चूंकि कार्यसंघातरूप समूचे विश्व का भी वह मूलकारण है, इसलिए उसे मूलप्रकृति कहते हैं । इसका भी कोई अदृश्य मूल होगा ऐसा मानने पर अनवस्था दोष आपतित होता है । क्योंकि फिर उसके मूल

और उसके भी मूल किसी अन्य के होने की कल्पना का कहीं रुकाव सम्भव नहीं। अनवस्था की प्रामाणिकता किसी को भी स्वीकार्य नहीं।[1] अथवा इसे मूल-प्रकृति इसलिए कहा है कि महत् आदि अन्य प्रकृतियों का भी यही मूल अर्थात् आद्य कारण है। सत्त्व, रज एवं तम इन तीनों गुणों की साम्यावस्था ही मूलप्रकृति है जो पुरुष की तरह ही अनादि है।[2] यह किसी से उत्पन्न नहीं है, यही इसकी विशेषता है। इसी तथ्य को प्रकट करने के लिए इस कारिका में अविकृति पद का प्रयोग मूलप्रकृति के लक्षण के रूप में किया है। 'अजन्यत्वे सति जनकत्वम्' यही मूलप्रकृति का लक्षण है। यही अव्यक्त है। क्योंकि किसी भी तत्त्व की अभिव्यक्ति गुणों से ही होती है। सत्त्व, रज एवं तम वस्तुतः द्रव्य हैं, गुण नहीं। गुण इनकी संज्ञा है। इनकी साम्यावस्था ही मूलप्रकृति है। उस समय प्रकृति इन गुणों के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाती।

इस प्रकार कृत्रिम-अकृत्रिम जो कुछ भी हमें दिखाई देता है, उस सबका मूल स्थूलभूत हैं। उनके भी मूल सूक्ष्मभूत अर्थात् पंचतन्मात्राएं हैं। इन पंच-तन्मात्राओं का मूल अहंकार है, तथा अहंतत्त्व का मूल महत्तत्त्व है। इस महत् तत्त्व का भी जो मूल है उसी के लिए 'मूलप्रकृति' पद का प्रयोग कारिका में हुआ है। इसी को सांख्यदर्शन में 'प्रधान' पद से भी अभिहित किया जाता है। सांख्यसूत्र में प्रकृति की इस मूलता का विधान करते हुए कहा है कि चूंकि मूल में पुनः मूल नहीं होता है अतः मूलप्रकृति वह है जो औरों का मूल है पर उसका कोई मूल नहीं।[3]

महत्, अहंकार तथा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं शब्द नामक पांच तन्मात्रायें ये सात प्रकृति-विकृति हैं। ये प्रकृति इसलिए हैं कि इनसे अन्य तत्त्व उत्पन्न होते हैं। महत् से अहंकार उत्पन्न होता है। अहंकार से मन, दश इन्द्रियां तथा पंच तन्मात्रायें उत्पन्न होती हैं। पंचतन्मात्राओं से पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश रूप पांच महाभूत पैदा हुए हैं। ये सात विकृति भी हैं, क्योंकि ये

---

१. मूलक्षतिकरीमाहुरनवस्थां हि दूषणम्।
वस्त्वानन्त्यादशक्तेश्च नानवस्था हि दूषणम्॥ उदयनाचार्य॥

२. प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि॥ गीता १३।१९

३. मूले मूलाभावादमूलं मूलम्। सांख्यसूत्र १।६७

सभी किसी न किसी अन्य तत्त्व से उत्पन्न होते हैं । पंचतन्मात्रायें अहंकार से उत्पन्न होती हैं, अहंतत्व महत्तत्त्व से, तो महत्तत्त्व भी मूल-प्रकृति से उत्पन्न होता है । इस प्रकार इनको प्रकृति एवं विकृति दोनों कहना ठीक ही है ।

'षोडकस्तु विकार:' सोलह तत्त्व केवल विकृति हैं। इनमें श्रोत्रनेत्रघ्राणत्वग् एवं रसना, नामक पांच ज्ञानेन्द्रियां, वाक्, पाणि, पाद, पायु एवं उपस्थ संज्ञक पांच कर्मेन्द्रियां, मन तथा पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश नामक पांच महाभूत आते हैं । इनमें से दशों इन्द्रियाँ एवं मन, अहंकार से उत्पन्न होते हैं तो पांच महाभूत पांच तन्मात्राओं से । अत: ये विकृतियां हैं । चूंकि इनसे अन्य तत्त्व उत्पन्न नहीं होते इसलिए ये प्रकृति नहीं हैं । यद्यपि पृथ्वी आदि से गाय, घट, वृक्ष आदि तथा उनसे भी दूध-बीज आदि तथा उनसे भी दही एवं अंकुर आदि उत्पन्न होते देखे जाते हैं तथापि ये पृथ्वी आदि से सर्वथा भिन्न तत्त्व नहीं हो जाते । अत: इनको पृथिवी आदि का विकार उस रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता जिस रूप में पृथ्वी आदि पंच तन्मात्राओं के विकार हैं । ये किसी ऐसे तत्त्व को नहीं उत्पन्न करते जो विजातीय हों —प्रकृष्टा विजातीया कृतिरेव प्रकृति: ।[1] उक्त गाय एवं घट आदि सभी वस्तुओं की स्थूलता एवं इन्द्रियग्राह्यता समान है, अत: ये तत्त्वान्तर नहीं कहे जा सकते । योगभाष्य में भी कहा है कि पंच महाभूतों एवं इन्द्रियों की उत्पत्ति के बाद जितनी भी वस्तुएं नई उत्पन्न हुई प्रतीत होती हैं, उनका विजातीय तत्त्व होना सम्भव ही नहीं है अत: उक्त तत्त्व इन विशेषों के तत्त्वान्तर परिणाम नहीं हैं अपितु धर्म एवं स्वरूप परिणाम के भीतर आ जाते हैं ।[2] फलत: तत्त्वपरिणाम में इनकी गणना नहीं होती । उपनिषदों में जो 'अष्टौप्रकृतय:' तथा गीता में भी 'भिन्ना प्रकृतिरष्टधा' कहा है, वह सात प्रकृति-विकृतियों को मूलप्रकृति से मिलाकर केवल जनकत्व साम्य से ही व्यवस्थित होता है ।

---

१. प्रकृष्टवाचक: प्रश्च कृतिश्च सृष्टिवाचक: ।
सृष्टौ प्रकृष्टा या देवी प्रकृति: सा प्रकीर्तिता ।।

२. न विशेषेभ्य: परं तत्त्वान्तरमस्तीति विशेषाणां नास्तितत्त्वान्तरपरिणाम: । तेषां तु धर्मलक्षणावस्था: परिणामा व्याख्यायिष्यन्ते । यो०भाष्य २।१९

पुरुष न तो किसी से उत्पन्न होता है और न ही किसी को उत्पन्न करता है। वह अनादि होने के साथ ही अपरिणामी भी है। अतः उसे 'न प्रकृति न विकृति' पद से अभिहित किया है। वह सर्व-भोक्ता है। पुरुष बुद्धि का प्रतिसम्वेदी है। बुद्धिरूप नहीं। बुद्धि में आए हुए विषय का पुरुष उपभोग तो कर लेता है, पर स्वयं परिणामी नहीं है। पुरुष के स्वरूप के विषय में वादियों के विविध मतों का निरूपण भूमिका में किया जा चुका है ॥३॥

किसी भी शास्त्र की प्रवृत्ति उद्देश, लक्षण एवं परीक्षा तीन प्रकार से होती है। इनमें से विवेच्य विषय का नाम गिनाकर उल्लेख कर देना उद्देश कहलाता है। उद्दिष्ट की परिभाषा करना उसका लक्षण एवं वह लक्षण दोषरहित है या नहीं, इस विचार को परीक्षा कहते हैं। 'मूलप्रकृतिरविकृतिः' इत्यादि कारिका में सांख्य-शास्त्र के विवेच्य विषयों का परिगणन हुआ है। इनके लक्षण और इनकी परीक्षा यथास्थान करेंगे। सम्प्रति उद्दिष्ट अर्थ को प्रमाणित करने की इच्छा से प्रमाणसामान्य का निरूपण अगली कारिका में करते हैं---

दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् ।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥४॥

हि यतः प्रमेयाणां पूर्वकारिकोक्तपञ्चविंशतितत्त्वानां सिद्धिःउपपत्तिः प्रमाणात् प्रामाण्योपपादकतत्त्वाद् भवति, तस्मात् दृष्टं प्रत्यक्षम्, अनुमीयते येन तदनुमानम्, आप्तः क्षीणदोषस्तेन यदुच्यते तदाप्तवचनमागमः इति तिस्रो विधा यस्य तत् सामान्यरूपेण त्रिविधं प्रमीयते अनेन इति प्रमाणं (नः) इष्टं सम्मतमित्यर्थः। सर्वेषामुपमानार्थापत्तिप्रभृतीनामन्येषां प्रमाणानामत्रैव सिद्धत्वात् त्रिविधे एवान्तर्भावादित्यर्थः।[1]

चूंकि प्रमेय की सिद्धि प्रमाण से ही होती है अतः प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तवचन (रूप आगम) नामक प्रमाण के ये तीन प्रकार ही सांख्य

---

१. त्रिविधं प्रमाणम्। तत्सिद्धौ सर्वसिद्धेर्नाधिक्यसिद्धिः। सां० सू० १।८७,८८ सर्वेषां प्रतिवादिभिरभ्युपगतानामुपमानादीनामपि तेष्वन्तर्भावसिद्धेः नाधिक्यसिद्धिः प्रमाणाधिकस्य सिद्धिर्न भवतीति तत्सूत्रार्थः। तत्रोपमानस्य गवयपदं गवयवाचकं, असतिवृत्यन्तरे। (भाष्य)

शास्त्र-सम्मत हैं क्योंकि इनसे अतिरिक्त (उपमान, अर्थापत्ति, अभाव आदि) अन्य सभी तथाकथित प्रमाणों का इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है।

चूंकि बिना प्रमाण के किसी भी प्रतिपादित विषय की सिद्धि नहीं होती, अतः प्रमाण की मान्यता भारतीय दर्शन की सभी विधाओं में है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि जिन पच्चीस तत्त्वों का निरूपण पहले किया गया है, उनकी सत्ता में कोई प्रमाण है या ये कपोलकल्पित मात्र हैं? इसके उत्तर में कारिकाकार का कहना है कि चूंकि बिना प्रमाण के प्रमेय की सिद्धि नहीं होती, अतः हमें भी प्रमाण सम्मत हैं। इसके पूर्व कि प्रमाणों का अलग अलग विवेचन किया जाय, प्रमाण का सामान्य लक्षण देना आवश्यक है। अतः व्याख्याकारों ने 'प्रमाणमिष्टम्' को प्रमाण का सामान्य लक्षण कहा है। इसमें भी 'इष्टम्' तो सम्मति का सूचक है। यहाँ प्रयुक्त प्रमाण एक यौगिक पद है जो लक्ष्य तथा लक्षण दोनों का काम करता है। 'प्रमाणम्' इस निष्पन्न रूप में तो यह लक्ष्य है तथा 'प्रमीयते अनेन' इसकी व्युत्पत्ति ही लक्षण है। उक्त करणव्युत्पत्ति से यह लक्षित होता है कि प्रमा का जो असाधारण कारण है, वही प्रमाण है।[1]

चित्तवृत्तिरूपा हमारी बुद्धि अनुभूति विपर्यय, संशय, निद्रा तथा स्मृति भेद से पांच प्रकार की होती है। इनमें संशय, विपर्यय, विकल्प एवं स्मृति से भिन्न चित्तवृत्ति को ही प्रमा कहते हैं। जिसका फल पुरुष का बोध है। इस प्रकार अनुभावात्मक चित्तवृत्ति रूप प्रमा के असाधारण कारण को ही प्रमाण कहेंगे। अतः उक्त व्याख्या के अनुसार प्रमाण का सामान्य लक्षण लक्ष्य से भिन्न करने के लिये 'प्रमाणं प्रमाणम्' ही है।

सांख्य मत से कोई तत्त्व एक मात्र प्रमाण ही होता है जैसे चक्षु आदि इन्द्रियां तो कोई प्रमा एवं प्रमाण उभयरूप जैसे चित्तवृत्ति। यह चक्षु आदि से उत्पन्न होने से एक तरफ तो प्रमा है दूसरी ओर पुरुष के उस विषय के बोध के प्रति

---

१. यत् अर्थविज्ञानं सा प्रमा इति न्यायभाष्यकाराः। यत्र यदस्ति तत्र तस्यानुभवः प्रमा इति तत्त्वचिन्तामणौ। यथार्थानुभवः प्रमा इति तर्कभाषायाम्। तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवः प्रमा इति नैयायिकाः। वृत्तीद्धो बोधः प्रमा इति मायावादिनः। पुरुषनिष्ठबोधः प्रमा इति पातञ्जलाः। अनधिगतार्थवस्तुनो अवबोधः प्रमा इति तु सांख्याः। तत्साधनं प्रमाणमिति प्रमाणसामान्यलक्षणविवेकः।

करण होने से प्रमाण भी है। इनके अतिरिक्त कुछ पदार्थ केवल प्रमा ही होते हैं जैसे पुरुष का बोध। 'घटमहं जानामि' इस रूप में पुरुष का जो बोध होता है वह मात्र एक होता है तथा किसी भी ज्ञान का कारण या साधक नहीं होता। अतः वह मात्र प्रमा है। बुद्धि में प्रतिबिम्बित चैतन्य इनसे भिन्न है जो मात्र प्रमाता होता है वही प्रमा का आश्रय होता है। अर्थात् उसी को ज्ञान या सुख-दुःख अथवा मोह होता है। उससे भी व्यतिरिक्त तत्त्व साक्षी कहलाता है। यह वह शुद्ध चेतन है जो बुद्धि की वृत्ति से उपहित (युक्त) होता है तथा जिसके प्रतिबिम्ब में अनुभव होता है। उक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि प्रमा का ही साधन 'प्रमाण' है। संशय, विपर्यय एवं स्मृति के उपकरण प्रमाण की कोटि में स्वीकृत नहीं होते।

प्रमा (यथार्थ ज्ञान) के साधक प्रमाणों की संख्या के विषय में भी अनेक विसंवाद हैं। चार्वाक प्रत्यक्ष नामक केवल एक प्रमाण को ही मानता है तो बौद्ध प्रत्यक्ष एवं अनुमान दो प्रमाणों की यथार्थता में विश्वास करते हैं। नैयायिक एवं वैशेषिक इनके अतिरिक्त 'उपमान' को भी प्रमाण मानते हैं तो मीमांसकों में प्रभाकर के अनुयायी 'अर्थापत्ति' को जोड़कर पांच तथा कुमारिल भट्ट के अनुयायी 'अभाव' को भी जोड़कर छः प्रमाणों की अनिवार्यता सिद्ध करते हैं। इनके अतिरिक्त 'प्रतिभा,' 'ऐतिह्य' तथा 'सम्भव' नामक प्रमाणों के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं।[1] अतः ग्रंथकार ने सांख्य मत के अनुसार निश्चित प्रमाणों की संख्या का उल्लेख किया है। 'त्रिविधम्' विधीयते विभज्यते आभिरिति विधाः, तिस्रः विधाः यस्य तत् इस व्युत्पत्ति से निष्पन्न पद त्रिधा विभाजक धर्म का बोधक है। यहाँ संख्या-विशेष का निर्देश उससे न्यूनाधिक भाव का व्यावर्तक है—तीन से न अधिक, न कम।

तीनों प्रमाणों के नाम का उल्लेख करते हुए कहा है—'दृष्टमनुमानमाप्तवचनम् च'। इनमें से दृष्ट प्रत्यक्ष प्रमाण को तथा आप्त वचन आगम या शब्द प्रमाण को ही कहते हैं। अनुमान के लिए अनुमान पद का ही प्रयोग हुआ है। ये तीनों ही प्रमाण लौकिक हैं इनका विषय लोक अर्थात् जगत् ही है। क्योंकि शास्त्र का प्रयोजन साधारण जन को ज्ञान कराना है। इनसे आर्षज्ञान को ग्रहण

---

१. प्रतिभौपम्यमैतिह्यमभावस्सम्भवस्तथा।
अर्थापत्तिरितीमानि प्रमाणान्यपरे जगुः॥

नहीं होता। क्योंकि आर्ष प्रमाण केवल ऊर्ध्वरेता योगियों का ज्ञान है।[१] यहाँ उसकी सत्ता में विश्वास करते हुए भी उपयोग न होने से उसका उल्लेख नहीं किया गया है।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि प्रमाणों की संख्या के प्रति यदि कोई आग्रह है तो वह तीन से कम भले न स्वीकार्य हो, अधिक मानने में क्या आपत्ति है? अथवा यहां त्रिविध से तात्पर्य कम से कम तीन से है। इसी के निराकरण के लिए कारिका में कहा है—'सर्वप्रमाणासिद्धत्वात्, जिसका अभिप्राय यह है कि तीन से अधिक जितने प्रमाणों का उल्लेख मिलता है, वे सभी इन्हीं तीन में अन्तर्भूत हो जाते हैं। उक्त अतिरिक्त प्रमाणों में से अभाव का प्रत्यक्ष में, उपमान, अर्थापत्ति, सम्भव तथा चेष्टा का अनुमान में तथा ऐतिह्य एवं प्रतिभा का शब्द में अन्तर्भाव सुतरां साधित हो जाता है। इसी अभिप्राय की अभिव्यक्ति सांख्य-सूत्र में भी हुई है कि प्रमाण तीन ही प्रकार के होते हैं। इनकी सिद्धि में ही सभी प्रतिवादियों द्वारा स्वीकृत अन्य प्रमाणों का अन्तर्भाव साधित हो जाता है।[२] इनका विवेचन भूमिका में विशद रूप से हुआ है।

---

१. तथाचाहुः प्रशस्ताचार्यः तत्तु आर्षंज्ञानन्तु प्रस्तारेण देवर्षीणां कदाचिदेव लौकिकानां यथा 'कन्यका ब्रवीति' 'श्वो मे भ्राता आगन्ता' इति हृदयं मे कथयतीति।

२. तत्सिद्धौ सर्वसिद्धेर्नाधिक्यसिद्धिः ।। सां० सू० १।८८.
तत्सिद्धौ तस्य त्रिविधप्रमाणस्य सर्वार्थसाधकत्वसिद्धौ सर्वसिद्धेः सर्वेषां प्रतिवादिभिरभ्युपगतानामुपमानादीनामपि तेष्वेवान्तर्भावसिद्धेः नाधिक्यसिद्धिः प्रमाणाधिक्यसिद्धिर्न भवतीति तत् सूत्रार्थः।
तत्रोपमानस्य गवयपदं गवयवाचकम् असति वृत्यन्तरे वृद्धैस्तत्र प्रयुज्यमानत्वात्, योऽसति वृत्यन्तरे वृद्धैर्यत्रप्रयुज्यते स तद्वाचकः, यथा गोशब्दादिः, गवयो गवयपदवाच्यो गोसदृशत्वात् व्यतिरेके घटवत् इत्याद्यनुमाने। अर्थापत्तेरपि, 'अयं रात्रिभोजी दिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीनत्वात्' इत्यनुमाने अनुपलब्धेस्तु यदि स्यादुपलभ्येतेत्यादि प्रतियोगि-सत्त्वप्रसंजित-प्रतियोग्युपलब्धाभावरूपायाः प्रत्यक्षासहकारित्वेन, प्रत्यक्षे। इति होचुः इत्यैतिह्यस्य तु शब्दे। संभवस्य तु खार्या द्रोणीपरिमाणसंभावनारूपस्यानुमाने, चेष्टाया अपि गेहे कति घटाः सन्तीति प्रश्ने दशाङ्गुलीप्रदर्शनरूपाया अनुमाने, दशाविपदस्मरणे तु शब्दस्यान्तर्भावात् त्रीण्येव प्रमाणानि इति भावः।
सां० सू० १।८८ एवं उसपर भाष्य।

यहाँ एक प्रश्न यह सम्भव है कि पदविद्या व्याकरण, वाक्यविद्या मीमांसा, तथा प्रमाणविद्या न्यायशास्त्र है। सांख्य, योग एवं वेदान्त तो प्रमेय-विद्या माने जाते हैं। फिर प्रमाण को ही इष्ट मानकर उनका विशद विवेचन सांख्यशास्त्र का विवेच्य विषय न होने से प्रकृत स्थल में अनुपयुक्त है। अतः कहा—'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि। यह ठीक है कि सांख्ययोग एवं वेदान्त प्रमेयविद्यायें हैं, पर प्रमेयों की सिद्धि बिना प्रमाण के हो भी तो नहीं सकती। फलतः प्रकृत स्थल में प्रमाण-निरूपण सर्वथा उचित एवं अभ्यर्हित है ॥४॥

प्रमाण-सामान्य का लक्षण एवं स्वरूप निरूपित कर अब प्रत्यक्षादि प्रमाण-विशेषों की परिभाषा करते हैं। चूंकि प्रत्यक्ष सभी प्रमाणों में ज्येष्ठ है तथा अनुमान एवं आगम का उपजीवक है, अतः प्रत्यक्ष के लक्षण से ही कारिका का समारम्भ करते हैं—

प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं त्रिविधमनुमानमाख्यातम्।
तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनन्तु ॥५॥

विसिन्वन्ति विषयिणं पुरुषमनुबध्नन्ति स्वेन रूपेण निरूपणीयं कुर्वन्ति इति विषयाः पृथिव्यादयः सुखादयश्च। विषयं विषयं प्रति वर्तते सन्निकृष्टं भवतीति प्रतिविषयम् इन्द्रियं तस्मिन्नध्यवसायः तदाश्रितो बुद्धिव्यापारः, इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं यज्ज्ञान तदेव दृष्टं प्रत्यक्षमित्यर्थः। अथवा, विषयाः शब्दादयः, अध्यवसायश्चबुद्धिः। विषयं विषयमध्यवसायः प्रतिविषयाध्यवसायः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेषु यथाक्रमं श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणेन्द्रियद्वारेण निश्चया-वधारणप्रधाना या बुद्धिरुत्पद्यते तत् दृष्टं प्रत्यक्षप्रमाणमित्यर्थः। लिङ्ग्यते गम्यते ज्ञायते वा प्रत्यक्षां अनेनेति लिङ्गम्। किंवा व्याप्तिबलेन लीनमर्थं गमयतीति लिङ्ग धूमादिसाधनं तदस्यास्तीति लिङ्गीवह्न्यादिसाध्यम् लिङ्गपूर्वकमिति लिङ्गलिङ्गिपूर्वकं व्याप्यव्यापकपूर्वकं प्रमाणम् अनुमानमिति सामान्यं लक्षणमनुमानस्य। तच्चानुमानं कदाचित लिङ्गपूर्वकं पूर्ववत् कदाचिद् लिङ्गि पूर्वकं शेषवत् कदाचिदुभयपूर्वकं सामान्यतोदृष्टं च भवतीति त्रिविधं त्रिप्रकारक-माख्यातं सांख्याचार्यैरितिशेषः। आप्ताः क्षीणदोषाः तेभ्यो श्रुतिपरम्परया आगता आप्तश्रुतिः तदाप्तवचनम्। अथवा आप्ता प्राप्ता युक्तेति यावत् आप्ता चासौ श्रुतिः वाक्यजनितं यद्वावाक्यार्थज्ञानं तदेव वचनं प्रमाणमस्तीत्यर्थः।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध में से किसी के सम्पर्क में आने पर जो निश्चयात्मक ज्ञान (अध्यवसाय) होता है, वही दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष (प्रमाण) है। साध्य (अग्नि आदि) एवं साधन (धूम आदि) पर आधारित ज्ञान ही अनुमान है जो (पूर्ववत्, शेषवत् एवं सामान्यतोदृष्ट भेद से) तीन प्रकार का होता है। (परम्परा से) प्राप्त या दोषरहित व्यक्ति की उक्ति को ही आप्तवचन अर्थात् शब्द-प्रमाण कहा गया है।

शब्द स्पर्श आदि पदार्थ सन्निकर्ष में आने पर प्रमाता पुरुष को अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं अतएव इनको विषय कहते हैं। उनके साथ जो सन्निकृष्ट हो उसे ही प्रतिविषय कहेंगे। 'विषयं विषयं प्रति वर्तते' इस व्युत्पत्ति से इन्द्रियां ही प्रतिविषय हैं। इनके द्वारा सम्पर्क में आए हुए शब्दादि विषयों का जो ज्ञान है, उसी को दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष-प्रमाण कहा है। इन्द्रियों के द्वारा विषय का ग्रहण करने पर बुद्धि में तम को दबाकर सत्व का जो उद्रेक होता है, उसी को अध्यवसाय, वृत्ति या ज्ञान पद से अभिहित किया जाता है। यह इन्द्रियों का धर्म नहीं अपितु बुद्धि का ही व्यापार है। यह प्रमाण है तथा चेतना शक्ति पर इसकी जो प्रतिक्रिया होती है, उसे ही प्रमा कहते हैं जिसकी अनुभूति प्रमाता पुरुष को विषय के बोध के रूप में होती है। प्रकृति का अंश होने से बुद्धितत्त्व भी वस्तुतः जड़ ही होता है। अतः उसका अध्यवसाय भी घटादि की तरह अचेतन ही होता है। इस प्रकार बुद्धितत्त्व के परिणाम सुख-दुःख आदि भी अचेतन ही होते हैं। वही सब जब पुरुष पर आरोपित हो जाता है तो उसमें चेतना आ जाती है और वह अनुभव का विषय हो जाता है। बुद्धि विषय के अनुरूप आकार धारण कर अपने में प्रतिबिम्बित चेतन पुरुष को विषय समर्पित कर देती है। अन्तःकरण का यह स्वभाव ही है कि वह इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त विषयों को अपने स्वामी आत्मा को समर्पित कर देता है।[1] सन्निकर्ष में आने पर इन्द्रिय के द्वारा विषयों की छाया बुद्धितत्त्व पर पड़ती है। चूंकि उसी में चेतन पुरुष भी प्रतिबिम्बित होता रहता है, अतः उस पर भी उसका आरोप होने से वह ज्ञानी या सुखी तथा दुःखी आदि हुआ करता है। चिति-शक्ति पुरुष की छाया पड़ने पर अचेतन बुद्धि तथा अचेतन ही उसका

---

१. गृहीतानिन्द्रियैरर्थानात्मने यः प्रयच्छति।
अन्तःकरणरूपाय तस्मै विश्वात्मने नमः॥ विष्णुपुराण १।१४।३५

अध्यवसाय भी चेतनवत् हो जाता है।[1] अध्यवसाय निश्चयात्मक ज्ञान है। संशय का निराकरण करने के लिए ही इस शब्द का कारिका में ग्रहण किया है। इसी प्रकार विषय पद के ग्रहण से अविषय अर्थात् मिथ्या ज्ञान का निराकरण हो जाता है। प्रति के प्रयोग से इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष सूचित होता है। अतः अनुमान एवं स्मृति आदि प्रत्यक्ष के विषय से बाहर हो जाते हैं क्योंकि उनमें इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष नहीं होता। इस प्रकार 'प्रतिविषयाध्यवसायः' यह दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण का निष्कृष्ट लक्षण है, यह सिद्ध हो गया।

प्रत्यक्ष प्रमाण की स्वीकृति सभी दर्शनों में है। अतः प्रायः सबने अपने सिद्धान्त का निर्वाह करते हुए प्रत्यक्ष का लक्षण किया है। उन सभी के लक्षणों में कोई न कोई दोष अवश्य है। इसलिए नये लक्षण करने की आवश्यकता थी। पर विस्तार के भय से उनका विवेचन ग्रंथकार ने नहीं किया है। बौद्धों के अनुसार कल्पना, भ्रान्ति और विसंवाद अर्थात् संशय से रहित वस्तु-प्रकाश्य जो निर्विकल्पक ज्ञान है वही प्रत्यक्ष है।[2] मीमांसक प्रत्यक्ष की परिभाषा करते हुए कहते हैं कि विद्यमान विषय में इन्द्रियों के संप्रयोग से जिस ज्ञान का जन्म होता है, वही प्रत्यक्ष है।[3] नैयायिक के अनुसार इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न नामजात्यादि संज्ञारहित निर्विकल्पक एवं उनसे सहित सविकल्पक उभयविध ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं, यदि वह व्यभिचारी अर्थात् भ्रमयुक्त न हो।[4] सांख्य सूत्रकार कृत प्रत्यक्ष-लक्षण से सांख्यकारिका के प्रत्यक्ष का लक्षण अत्यन्त साम्य रखता है। सूत्रकार का कहना है कि बुद्धि का वह बोध ही जो विषय से सम्बद्ध होकर तदाकार परिणत हो गया हो, प्रत्यक्ष है।[5]

अनुमान प्रत्यक्ष पर निर्भर करता है, इसलिए प्रत्यक्ष का निरूपण करके ही अनुमान का विवेचन करते हैं। अनुमान का सामान्य लक्षण किया है 'तल्लि-

---

१. तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव भवति लिङ्गम्॥ सां० का० २०

२. कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षं निर्विकल्पकम्।
विकल्पो वस्तुनिर्भासादविसंवादादुपप्लवः॥

३. सत्संप्रयोगे पुरुषेन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम्।

४. इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्। न्या० सू० १।१।४

५. यत्सम्बद्धं सत्तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत्प्रत्यक्षम्॥ सां० सू० १।८९

ङ्गलिङ्गिपूर्वकम्'। जिस प्रमाण का अवधारण वस्तुओं के लिंग-लिंगिभाव से होता है उसे अनुमान प्रमाण कहते हैं। 'लिंगयति लीनमर्थं गमयतीति लिंगम्' की व्युत्पत्ति से व्याप्य अर्थात् हेतु को लिङ्ग कहते हैं। 'लिङ्गम् अस्ति अस्येति' इस व्युत्पत्ति से लिंगी व्यापक अर्थात्, साध्य को कहते हैं धर्मादि साधन अतः व्याप्य एवं वह्नि-साध्य अतः व्यापक है यह जो ज्ञान है तत्पूर्वक ही अनुमान होता है। यहां पर लिंग पद की आवृत्ति से पक्षधर्मता का भी ग्रहण कर अनुमान का सामान्य लक्षण, यह करना चाहिए कि व्याप्यव्यापकभाव से युक्त तथा पक्षधर्मता ज्ञानपूर्वक ही अनुमान होता है। इस प्रकार अनुमान से एक ओर जहां व्याप्ति ज्ञान की अपेक्षा होती है, दूसरी ओ पक्षधर्मता का ज्ञान भी अनिवार्य होता है। व्याप्ति और पक्षधर्मता ये दोनों पद पारिभाषिक होने से व्याख्येय हैं। साध्य के साथ हेतु का सम्बन्ध ही व्याप्ति है। इसे ही सामानाधिकरण्य तथा अविनाभाव सम्बन्ध शब्दों से भी अभिहित किया गया है। हेतु एवं साध्य का यह सम्बन्ध दो प्रकार का होता है–सोपाधिक उपाधिसहित तथा निरुपाधिक उपाधिरहित। इनमें से निरूपाधिक सम्बन्ध ही व्याप्ति है सोपाधिक नहीं। धूम और वह्नि का व्याप्य-व्यापक या हेतु-साध्य सम्बन्ध निरुपाधिक अर्थात् स्वाभाविक ही है। पर वह्नि और धूम का स्वाभाविक नहीं, अपितु ईंधन के गीले होने से सोपाधिक है। गीले ईंधन का संयोग ही यहां उपाधि है। अतः 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः', यह व्याप्ति तो बन जाती है, पर 'यत्र यत्र वह्निस्तत्रतत्रधूमः' यह व्याप्ति नहीं बनती। इस प्रकार स्वाभाविक सम्बन्ध ही व्याप्ति का लक्षण है।[1] पक्षधर्मता हेतु की पक्ष में विद्यमानता है। धूम हेतु का पक्ष पर्वत में दिखाई देना ही उसकी पक्षधर्मता है। इस प्रकार व्याप्ति–विशिष्ट पक्षधर्मता का ज्ञान ही परामर्श कहलाता है।[2] अर्थात् हेतु का तृतीयवार ज्ञान परामर्श कहलाता है। जैसे वह्नि और धूम के सम्बन्ध में हेतु धूम का प्रथम ज्ञान महानस (रसोई) में होता है। द्वितीय ज्ञान पक्ष पर्वत पर धूमरेखा को देखकर होता है तथा तृतीय-ज्ञान 'यत्र धूमस्तत्रअग्निः' रूप व्याप्ति के स्मरण के अनन्तर होता है। यही परामर्श है। इसीलिए कहा है 'परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः'।[3] व्याप्ति स्मरण-पूर्वक हेतु के तृतीय बार ज्ञान परामर्श से उत्पन्न ज्ञान ही अनुमान है। न्याय भाष्यकार ने भी अनुमान का लक्षण करते हुए कहा है कि लिंग तथा लिंगी के

---

१. स्वाभाविकश्च संबन्धो व्याप्तिः। तर्कभाषा।
२. व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताकज्ञानं परामर्शः। तर्कसंग्रह।
३. तर्कसंग्रह।

सम्बन्ध का ज्ञान ही अनुमान है ।[1]

कुमारिल भट्ट ने श्लोकवार्तिक में बताया है कि व्याप्य-व्यापक भाव की परीक्षा दो प्रकार से होती है-अन्वयव्याप्ति एवं व्यतिरेकव्याप्ति से। अन्वय-व्याप्ति में साधन व्याप्य तथा साध्य व्यापक होता है । जैसे-'यत्र-यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः । यहां साधन अर्थात् हेतु धूम है जिसे व्याप्य बताया गया है तथा साध्य वह्नि को व्यापक । व्यतिरेकव्याप्ति में यह क्रम उलट दिया जाता है जैसे-'यत्र वह्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति' । उभयत्र साधन का कथन पहले तथा साध्य का बाद में किया जाता है । इस प्रकार परीक्षित होकर ही साध्य एवं साधन के स्वाभाविक सम्बन्ध रूप व्याप्ति यथार्थतः स्पष्ट होती है ।[2]

त्रिविधम्-अनुमान के पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट ये तीन प्रकार होते हैं। वस्तुतः अनुमान के मूलतः दो ही भेद होते हैं वीत एवं अवीत । 'वि विशेषेण इतं ज्ञातम्' की व्युत्पत्ति से वीत अनुमान वह है जिसकी सिद्धि अन्वयव्याप्ति से होती है । इसी को केवलान्वयी भी कहते हैं । जिसकी सिद्धि व्यतिरेक मुखेन होती है उसे अवीत अर्थात् केवलव्यतिरेकी अनुमान कहते हैं । इनमें से द्वितीय अवीत केवल एक प्रकार का होता है। उसे ही 'शेषवत्' के नाम से अभिहित किया जाता है । 'शेषः अस्ति अस्य,' इस व्युत्पत्ति से शेष पद से 'अस्ति' के अर्थ में मतुप् करके शेषवत्पद व्युत्पन्न होता है। प्रसक्ति की सम्भावना का निषेध होने पर उससे भिन्न में अप्राप्ति दिखाकर शेष विषय में उसकी अनु-मिति शेषवत् या परिशेषानुमान कहलाता है। जैसें शब्दः अष्टद्रव्यातिरिक्तद्र-व्याश्रितः,अष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति समवायिकारणकत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा रूपम् ।

---

१. तत्पूर्वकमित्यनेन लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धदर्शनं लिङ्गदर्शनं चाभिसंबध्यते ।
न्या० भा० १।१।५

२. व्याप्यव्यापकभावो हि भावयोर्यादृगिष्यते ।
तयोरभावयोस्तस्माद्विपरीतः प्रतीयते ॥
अन्वये साधनं व्याप्यं साध्यं व्यापकमिष्यते ।
साध्याभावोऽन्यथा व्याप्यो व्यापकः साधनात्ययः ॥
व्याप्यस्य वचनं पूर्वं व्यापकस्य ततः परम् ।
एवं परीक्षिता व्याप्तिः स्फुटीभवति तत्त्वतः ॥ —श्लोकवार्तिक

वीत अर्थात् केवलान्वयी के दो भेद होते हैं पूर्ववत् एवं सामान्यतोदृष्ट। पूर्वपद का अर्थ है प्रसिद्ध अर्थात् हेतु एवं साध्य के सहचार की अवस्था में जिस सामान्य के स्वस्वरूप का अवलोकन पहले कर लिया गया हो, उसे ही दृष्ट स्वलक्षण सामान्य रूप प्रसिद्ध कहते हैं। किसी भी वस्तु के दो रूप होते हैं-साधारण एवं असाधारण। जो असाधारण (विशेष) रूप है, उसे उसका स्व-लक्षण तथा जो साधारण है उसे सामान्य-लक्षण कहते हैं। जिस सामान्य-लक्षण का स्वलक्षण पहले से देख लिया गया हो और बाद में उसका अनुमान हो उसे पूर्ववत् कहते हैं। उदाहरणतः अग्नि का सामान्य-लक्षण साधारण रूप से अग्नित्व है तथा स्वलक्षण रसोई की अग्नि। पर्वत पर धूमरेखा देखकर जिस अग्नि का अनुमान होता है उसका सामान्य लक्षण अग्नित्व के स्वलक्षण अग्निविशेष का साक्षात्कार रसोई में पहले किया जा चुका है। अतः यह पूर्ववत् अनुमान ही है। किन्तु जब जगत् आदि कार्यों के आधार पर उसके कर्ता ईश्वर का अनुमान करते हैं तो अनुमेय ईश्वर के सामान्य लक्षण ईश्वरत्व के स्वलक्षण का साक्षात्कार किये बिना ही उसके जगत् के कर्त्ता होने का अनुमान हम कर लेते हैं जो पूर्ववत् नहीं शेषवत् है।

वीत का दूसरा भेद सामान्यतोदृष्ट है। जहां पर सामान्य लक्षण या स्वलक्षण उक्त रीति से दृष्ट न हो, वही सामान्यतोदृष्ट है। यहां सामान्यतः में प्रयुक्त 'तसि' प्रत्यय का षष्ठी अर्थ होने से सामान्यतः का अर्थ सामान्यस्य तथा 'दृष्टम्' में भाव में क्त प्रत्यय होने से उसका अर्थ 'दर्शनम्' होता है। और इस प्रकार सामान्यतोदृष्ट का अर्थ सामान्य का दर्शन है अर्थात् जहां पर विशेष का साक्षात्कार सम्भव न हो और सामान्य के बल पर ही अनुमान हो, वही सामान्यतोदृष्ट अनुमान है। अतः जहां पर सामान्य के साथ ही विशेष का भी साक्षात्कार सम्भव हो वह पूर्ववत्, जहां असंभव हो वह शेषवत् तथा जहां मात्र-सामान्य का ही दर्शन होता हो, वह सामान्यतोदृष्ट अनुमान है। विश्वनाथ न्याय-पञ्चानन ने पूर्ववत् को केवलान्वयी, शेषवत् को केवलव्यतिरेकी तथा सामान्यतोदृष्ट को ही अन्वयव्यतिरेकी अनुमान कहा है।[1]

---

१. पूर्वम् अन्वयः तद्वत् केवलान्वयि, शेषो व्यतिरेकः तद्वत् केवलव्यतिरेकि तथा सामान्यतः अन्वयेन व्यतिरेकेण च दृष्टं गृहीतव्याप्तिकमित्यर्थः।

न्यायवार्तिककार ने पूर्ववत् एवं सामान्यतोदृष्ट के भेद का विवेचन करते हुए कहा है कि 'पूर्ववत्' में प्रयुक्त 'वति' प्रत्यय का अर्थ यह है कि जिस पदार्थ का ज्ञान पहले प्रत्यक्ष से अन्यत्रान्यत्र अनेक स्थलों पर किया जा चुका होता है परोक्षरूप में स्थित उसी का अनुमान से ज्ञान करना ही पूर्ववत् है। इसके विपरीत किसी अन्य वस्तु के धर्म के ज्ञान के आधार पर किसी अन्य वस्तु का अनुमान सामान्यतोदृष्ट होता है। जैसे इच्छा आदि के आधार पर आत्मा की सिद्धि। इस प्रकार जहां साध्यतावच्छेदक तथा हेतुतावच्छेदक विशेष के द्वारा व्याप्तिग्रह हो वह पूर्ववत् एव जहाँ साध्यता और हेतुता के अवच्छेदक किसी व्यापक धर्म के द्वारा व्याप्तिग्रह हो वह सामान्यतोदृष्ट अनुमान है।[1]

न्यायभाष्यकार के अनुसार उन्नत मेघ से वृष्टि के समान जहां कारण से कार्य का अनुमान होता है वह पूर्ववत् तथा इसके ठीक विपरीत नदी के प्रवाह से भूतपूर्व वृष्टि के समान जहाँ कार्य से कारण का अनुमान हो वह शेषवत् है। अन्यत्र अनुमान ही सामान्यतोदृष्ट है।[2] इस प्रकार स्पष्ट है कि न्यायवार्तिककार जहाँ अनुमान के पूर्ववत् एवं सामान्यतोदृष्ट दो ही भेद मानते हैं वहां भाष्यकार पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट तीनों को ही प्रमाणित करते हैं।

आप्तवचन शब्द प्रमाण को कहते हैं जिसका लक्षण किया है 'आप्तश्रुतिः आप्तवचनं तु'। आप्त का अर्थ प्राप्त अर्थात् युक्त है। श्रुति सामान्यतः तो वेदों को कहते हैं।[3] पर वाचस्पति मिश्र ने 'वाक्य जनित वाक्यार्थ ज्ञान' को श्रुति कहा है।[4] "श्रूयते इति श्रुतिः' इस व्युत्पत्ति से भी श्रोत्रेन्द्रिय से ग्राह्य

---

१. यत्र साध्यतावच्छेदकहेतुतावच्छेदकरूपपुरस्कारेण व्याप्तिग्रहस्तत् पूर्ववदनुमानम्। यत्र च साध्यतावच्छेदकहेतुतावच्छेदकरूपव्यापकधर्मपुरस्कारेण व्याप्तिग्रहस्तत् सामान्यतोदृष्टमनुमानम्। —न्यायवार्तिक

२. पूर्ववदिति, यत्र कारणेन कार्यमनुमीयते यथा मेघोन्नतया भविष्यति वृष्टिरिति। शेषवत् तद् यत्र कार्येण कारणमनुमीयते यथा पूर्वोदकविपरीतमुदकं नद्याः पूर्णत्वं शीघ्रत्वं च दृष्ट्वा स्रोतसोऽनुमीयते भूता वृष्टिरिति। सामान्यतो दृष्टं व्रज्यापूर्वकमन्यत्र दृष्टस्यान्यत्रदर्शनमिति। यथा चादित्यस्य तस्मादस्त्यप्रत्यक्षस्याप्यदित्यस्य व्रज्येति। न्याय सू० १।१।५ पर वात्स्यायनभाष्य।

३. श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायः। अमरकोश।

४. श्रुतिः वाक्यजनितवाक्यार्थज्ञानम्। तत्त्वकौमुदी।

वाक्य ही वस्तुतः इसका अर्थ होता है। पर 'अन्नं प्राणाः' इत्यादि प्रयोगों के समान ही यहाँ वाक्यजन्य ज्ञान के लिए श्रुति पद का प्रयोग औपचारिक हुआ है। श्रुति का वेद अर्थ भी लाक्षणिक ही है। वाक्यजन्य ज्ञान दो प्रकार का होता है— स्वतः प्रमाण तथा परतः प्रमाण। इनमें से 'स्वतः प्रमाण' वह है जो प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाणों की सहायता के बिना ही अपने अर्थ की अभिव्यक्ति में समर्थ होता है। यह अर्थ एकमात्र आम्नाय अर्थात् वेद वाक्य-जन्य ही संभव है। अर्थात् वेद-वाक्य-जन्य जो ज्ञान है वह 'स्वतः प्रमाण' है। जिसे अपने अर्थ के बोध के लिए प्रमाणान्तर की अपेक्षा होती है, वही परतः प्रमाण है, इसमें वेदमूलक या वेद प्रमाणित स्मृतियों, इतिहास एवं पुराण आदि वाक्यों से जनित ज्ञान का ग्रहण प्रमाण के रूप में होता है। पुराणादि अपनी प्रामाणिकता के लिए वेदों पर निर्भर करते हैं। अतः 'परतः प्रमाण' की कोटि में आते हैं। अतः मनु ने भी वेद को ही श्रुति तथा धर्मशास्त्र को स्मृति कहा है।[3]

जहाँ तक सांख्यशास्त्र का प्रश्न है, यह भी परतःप्रमाण में ही आता है। आदि विद्वान् कपिल ने कल्प के आरम्भ में जिस ज्ञान का उपदेश दिया, वह पूर्वजन्मकृत वेदादि के अध्ययन के संस्कार रूप ही है। उसके मूल में भी वेद के ही सिद्धान्त हैं। अतएव सांख्यदर्शन आस्तिक माना जाता है।

योग-भाष्य में प्रमाण मिलता है कि जैगीषव्य को विगत दस कल्पों में हुए अपने विविध योनि में जन्मों की घटनाएँ स्मरण थीं। यहाँ आप्तग्रहण से बौद्ध तथा जैन आदि दर्शनों के प्रवक्ता पुरुषों का निराकरण हो जाता है। क्योंकि उनकी उक्तियाँ या ग्रंथ आगम न होकर आगमाभास हैं। इनकी प्रामाणिकता न स्वतः है और न परतः। अतः एक तो ये निर्मूल हैं दूसरे ऐसे विषयों का प्रतिपादन करते हैं जिनका खण्डन अन्य प्रमाणों से हो जाता है। इनका अनुसरण भी कुछ बहुत उत्कृष्ट कोटि के लोगों द्वारा नहीं हुआ। अतः इनकी उक्तियों का ग्रहण प्रमाणों में नहीं हो सकता।

यदि कोई यह कहे कि वाक्य से ही तो वाक्यार्थ का बोध होता है। अतः वाक्य उसका लिंग अर्थात् गमक है और इस प्रकार वाक्यजन्य ज्ञान 'आप्तवाक्य' का ग्रहण अनुमान से ही हो जाता है, फिर आगम या आप्तवचन

---

१. श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः। मनुस्मृति २।१०

को स्वतन्त्र रूप से प्रमाण मानने की क्या आवश्यकता है ? इसके निराकरण के लिए ही कारिका में 'तु' का पाठ किया है जिसका अभिप्राय: यह है कि वाक्यार्थ ही यहाँ प्रमेय होता है, पर वाक्य उसका धर्म नहीं है । प्रमेय का कोई धर्म ही साधक या लिंग होता है । उसके आभाव में कोई भी पदार्थ दूसरे का लिंग नहीं हो सकता । इसके अतिरिक्त अनुमान में अपेक्षित हेतु एवं साध्य का सम्बन्ध रूप व्याप्ति भी यहाँ नहीं बनती क्योंकि वाक्यार्थ का बोध कराते हुए वाक्य, सम्बन्धग्रहण की अपेक्षा नहीं रखता । इसकी पुष्टि किसी नये कवि के द्वारा रचित नवकाव्य में प्रयुक्त वाक्यों के द्वारा इस अर्थ की अभिव्यक्ति से नहीं हो पाती क्योंकि उसका अनुभव पहले से विद्यमान नहीं । इस प्रकार प्रमाण के उक्त सामान्य एवं विशेष लक्षणों में ही उपमान आदि उन अन्य सभी प्रमाणों का अंतर्भाव साधित हो जाता है । इसका निरूपण पूर्व-कारिका की व्याख्या में विशद रूप से किया जा चुका है ।।५।।

'व्यक्त', 'अव्यक्त' एवं 'ज्ञ' ही सांख्य-शास्त्र के प्रमेय विषय हैं । इनकी सिद्धि के लिए प्रमाणों का विवेचन अपेक्षित था । पूर्व की दो कारिकाओं में प्रमाण का सामान्य-लक्षण एवं उसके भेद-प्रभेदों का निरूपण किया है । इनमें से पृथिव्यादि व्यक्त की सिद्धि प्रत्यक्षत: सबको ही होती है । पूर्ववत् अनुमान मे धूमादि लिंग के द्वारा लिंगी वह्नि आदि की प्रतीति हो ही जाती है । यदि इनसे ही शास्त्र का प्रयोजन पूर्ण हो गया तो फिर आगम-प्रमाण की कोई आवश्यकता नहीं । इसके समाधानार्थ अगली कारिका का अवतरण कर साथ ही इस बात का भी निरूपण करते हैं कि उनके तीनों प्रभेदों एवं प्रमाणों में किसका विषय कौन है —

सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात् ।
तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम् ।।६।।

सामान्यत:दृष्टात् सामान्यतोदृष्टसंज्ञकादनुमानात् तु अतीन्द्रियणाम् इन्द्रियाणि चक्षु:श्रोत्रादीनि अतिक्रम्य वर्तन्ते इति अतीन्द्रियास्तेषां अव्यक्त-प्रकृतिपुरुषादीनां परोक्षविषयाणां प्रतीति: ज्ञानं भवतीति शेष: । तस्मात् सामान्यतोदृष्टानुमानादपि प्रमाणात् यत् प्रमेयविषयम् असिद्धं परोक्षं न ज्ञातं भवति, (स्वर्गापवर्गादि) तदपि आगमात् शब्द-प्रमाणात् सिद्धं दृष्टं ज्ञातं वा भवतीत्यर्थ: ।

सामान्यतोदृष्ट नामक अनुमान प्रमाण से तो (मूल-प्रकृति आदि) अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान होता है (स्वर्ग अपवर्ग प्रभृति) जो परोक्ष विषय सामान्यतोदृष्ट अनुमान से भी अगम्य हैं उनका ज्ञान आगम प्रमाण से होता है।

इस कारिका में प्रमाणों के विषयों का निरूपण हुआ है। 'सामान्यतस्तु दृष्टात्' में प्रयुक्त 'तु' से प्रत्यक्ष तथा पूर्ववत् नामक अनुमान का ग्रहण हो जाता है। जिसका अर्थ यह होता है कि इन्द्रियगोचर विषयों की प्रतीति दृष्ट तथा अनुमान के पूर्ववत् एवं शेषवत् भेदों से हो जाती है। अतीन्द्रिय विषयों की प्रतीति के लिए सामान्यतोदृष्ट अनुमान प्रमाण है। यहाँ अतीन्द्रिय से अभिप्राय: मूल-प्रकृति तथा पुरुष प्रभृति उन विषयों से है जिनका कभी भी इन्द्रियों से सन्निकर्ष हो ही नहीं सकता। अर्थात् जो कभी भी एवं कहीं भी इन्द्रियगोचर नहीं होते, उन्हें ही अतीन्द्रिय कहा है।

कुछ विद्वान् कारिका के पूर्वार्द्ध में दृष्ट का भी ग्रहण मानते हुए इसका अर्थ कुछ भिन्न प्रकार से करते हैं। 'सामान्यत: तु दृष्टात् प्रतीतिर्भवति' हमारे दैनन्दिन के व्यवहार में तो दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण ही काम आता है। अत: सामान्य रूप से हमारे ज्ञान का साधन प्रत्यक्ष ही है। लौकिक विषयों का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है। अनुमान से उन विषयों की प्रतीति होती है जो अतीन्द्रिय अर्थात् हमारी इन्द्रियों की पहुँच के बाहर हैं। जो विषय उससे भी परे हैं उनकी प्रतीति आगम प्रमाण से होती है। यहाँ अतीन्द्रिय का अर्थ विषय का उस समय इन्द्रियगोचर न होना है। पर अतीन्द्रिय से विषय की इन्द्रिय-गोचरता की असंभाव्यता ही अभीष्ट है अन्यथा उससे भी परोक्ष की प्रतीति के कारक आगम प्रमाण के लिए कोई अवसर नहीं रहता। अत: अतीन्द्रिय का अर्थ यही है कि वे वस्तु या विषय कभी भी इन्द्रिय-गोचर नहीं होते ऐसी स्थिति तो अनुमान के केवल सामान्यतोदृष्ट भेद के साथ ही सम्भव है जहाँ विशेषों का साक्षात्कार नहीं हो पाता। इन्द्रियार्थसन्निकर्ष विशेषों का हीसम्भव हैं। पूर्ववत् एवं शेषवत् चूंकि लौकिक विषयों की प्रतीति कराते हैं जो विशेष होते हैं तथा जिनका साक्षात्कार संभव हैं। अत: कारिका के पूर्वार्द्ध का यही अर्थ ठीक है कि अतीन्द्रिय पदार्थों की प्रतीति सायान्यतोदृष्ट अनुमान से होती है। तु से 'इन्द्रियगोचर पदार्थों की प्रतीति के लिए इससे पूर्व के प्रत्यक्ष एवं पूर्ववत् तथा शेषवत् अनुमान प्रमाण हैं' यह अर्थ बोधित होता है।

अतीन्द्रिय विषय कौन हैं जिनकी प्रतीति का विधान यहाँ सामान्य-तोदृष्ट प्रमाण से हुआ है। इस प्रश्न के उत्तर में सांख्यकारिका के प्रायः सभी टीकाकारों ने मूल-प्रकृति (अव्यक्त) एवं पुरुष का उल्लेख किया है। पर महत् अहंकार एवं तन्मात्राएँ भी इसी कोटि में आती हैं। इनसे भी परोक्ष विषय स्वर्ग एवं अपवर्ग अर्थात् मोक्ष हैं जिनकी प्रतीति या सिद्धि न तो प्रत्यक्ष से सम्भव है और न अनुमान के किसी भेद से। पर वह प्रतीति होती अवश्यक है। इसी के लिए आगम अर्थात् शब्द-प्रमाण अनिवार्य है। उसी को यहाँ आप्तागम शब्द से व्यवहृत किया है। आप्तपद का विवेचन किया जा चुका है।

'तस्मादपि चासिद्धं' में अपि के होने पर भी च का ग्रहण शेषवत् को भी सामान्यतोदृष्ट की कोटि में रखने के लिए है। जिस प्रकार 'सामान्यतस्तु' में 'तु' से पूर्ववत् एवं प्रत्यक्ष का ग्रहण हुआ है, उसी प्रकार द्वितीय पंक्ति के च से शेषवत् का। इस प्रकार कारिका के उत्तरार्ध का अर्थ यह हुआ कि प्रत्यक्ष तथा पूर्ववत्, शेषवत् एवं सामान्यतोदृष्ट अनुमान से भी जो विषय परे हैं, इनका ज्ञान मात्र आगम-प्रमाण से ही सम्भव है। प्रमेय तीन प्रकार का होता है। प्रत्यक्ष, परोक्ष एवं अत्यन्त परोक्ष। पूर्ववत् एवं शेषवत् नामक अनुमानों के विषय भविष्यत् एवं भूत होते हैं। अतः वर्तमान एवं अतीन्द्रिय विषयों के बोध के लिए प्रत्यक्ष तथा सामान्यतोदृष्ट नामक अनुमान काम करते हैं। स्वर्ग एवं अपवर्ग विषय अत्यन्त परोक्ष हैं। अतः इनकी सिद्धि के लिए आगम प्रमाण का होना आवश्यक है। यहाँ प्रश्न उठता है कि—

सांख्य के प्रतिपाद्य अतीन्द्रिय-तत्त्व मूल-प्रकृति एवं पुरुष हैं।[1] इन दोनों की सिद्धि सामान्यतोदृष्ट अनुमान से ही हो जाती है। सांख्य-सूत्र भी यही कहता है।[2] फिर आगम को भी प्रमाण मानने की क्या आवश्यकता है? प्रकृति एवं पुरुष के अतिरिक्त सांख्य को अपवर्ग या मोक्ष की स्थिति मान्य है जो सकल दुःख के उच्छेदरूप उत्कर्ष से भी उत्कृष्टतर इसलिए है कि इसमें

---

१. इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसश्च पराबुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥

२. सामान्यतोदृष्टादुभयसिद्धिः सां० सू० १ । १०३

पुरुष को आत्मलाभ हो जाता है ।[1] साथ ही 'स्वर्गकामो यजेत्' आदि श्रुतियों के प्रति भी सांख्य की अनास्था या अविश्वास नहीं है । सांख्य वैदिक कर्मकाण्ड एवं उससे प्राप्त होनेवाले फल के प्रति संशयालु नहीं । उसका तो यही कहना है कि वैदिक कर्मकाण्ड से लभ्य स्वर्गादि स्थान अनित्य हैं । मोक्ष उनसे बढ़कर है । किन्तु स्वर्ग एवं अपवर्ग की सत्ता में प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण नहीं हो सकते । प्रत्यक्ष या अनुमान से न स्वर्ग की सत्ता सिद्ध की जा सकती है और न मोक्ष की ही । इसके लिए आगम प्रमाण अपेक्षित है । इसके अतिरिक्त सांख्य-सिद्धान्त में कपिल के वचनों की मान्यता भी आगम प्रमाणजन्य ही है । आगम या आप्तवचन को प्रमाण न मानने पर सांख्य के आद्यप्रणेता महर्षि कपिल तथा उनके अनुयायी आचार्यों के वचनों की प्रामाणिकता नहीं बनेगी । अतः आगम को प्रमाण मानना ही चाहिए ॥६॥

व्यक्त, अव्यक्त एवं ज्ञ (पुरुष) का विशेष ज्ञान ही सांख्य-शास्त्र का उद्देश्य है । इनमें से महत् से लेकर स्थूल-भूत-पर्यन्त व्यक्त का ज्ञान प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाणों से हो जाता है । अर्थात् प्रत्यक्ष एव अनुमान प्रमाणों से हम व्यक्त की सत्ता सिद्ध कर सकते हैं । मूलप्रकृति रूप अव्यक्त तथा (ज्ञ) पुरुष की उपलब्धि न होने से उनकी सत्ता कैसे सिद्ध की जाय ? क्योंकि पहले उनकी सत्ता हो तभी तो हम उनके ज्ञान के लिए सचेष्ट होंगे । अन्यथा आकाश-पुष्प, कछुए की पीठ पर के बाल तथा खरहे के सींग के समान ही अव्यक्त प्रकृति एवं पुरुष के अस्तित्व के प्रति भी अनास्था होने से कोई भी उन्हें जानने की चेष्टा नहीं करेगा । इसका उत्तर यही है कि विद्यमान रहते हुए भी कारणवश वस्तु-विशेष की उपलब्धि कभी-कभी नहीं होती । उन कारणों का परिगणन अगली कारिका में करते हैं—

अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात् ।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात्समानाभिहाराच्च ॥७॥

अतिदूरात् इन्द्रियेभ्यः अधिकदूरे वर्तमानत्वात्, कस्यापि वस्तुनः उपलब्धिः प्राप्तिः ज्ञानं वा न भवतीति उत्तरकारिकोक्तेन नोपलब्धिरित्यनेन सम्बन्धनीयम् । तथैव अतिसामीप्यात् सामीप्याधिक्यकारणादपि नोपलब्धिः ।

---

१. उत्कर्षादपि मोक्षस्य सर्वोत्कर्षश्रुतेः । सां० सू० १।५

उभयत्रापिदेशदोषकृतानुपलब्धिः; इन्द्रियस्य श्रोत्रादेः घातात् विनाशात् सतोऽपि वस्तुनः नोपलब्धिः। मनसः चित्तस्य अनवस्थानात् विषयान्तर-प्रवृत्तत्वात् असमाहिततया नोपलब्धिः। उभयत्रापि इन्द्रियदोषादनुपलब्धिः। विषयस्य सौक्ष्म्यात् सूक्ष्मभावात् अनुपलब्धिः; अत्र विषयगतदोषादनुपलब्धिः। व्यवधानात् यवनिकादिभिः तिरोधानात् स्थूला अपि घटादयो नोपलभ्यन्ते। अभिभावात् अधिकतेजोमयवस्तुसन्निधानात् दिवातारकादिवत् सतोऽपि वस्तुनः नोपलब्धिः। समानाभिहारात् सदृशवस्तुराशीकरणादपि नोपलब्धिः। चकारेण अनुक्तस्यापि अनुद्भवस्य ग्रहणं भवति। तद्यथा दुग्धावस्थायां दध्नोऽनुद्भवात् तस्योपलब्धिर्न भवतीति आशयः।

अत्यन्त दूर या अत्यन्त समीप होने, इन्द्रिय में विकार होने, दूसरे विषय में प्रवृत्त चित्त के स्थिर न होने, वस्तु के अत्यन्त सूक्ष्म या किसी अन्य वस्तु के बीच में आ जाने, अधिक भास्वर किसी अन्य वस्तु के सन्निधान, उसी वस्तु की राशि में मिले होने तथा आविर्भूत न होने से विद्यमान भी वस्तु इन्द्रियों को उपलब्ध नहीं हो पाती।

सिंहावलोकन न्याय से अगली कारिका में पठित 'तदनुपलब्धिः' का यहाँ भी ग्रहण एवं प्रत्येक पद के साथ उसे सम्बन्धित करके ही अर्थ करना चाहिए। 'अतिदूरात् तदनुपलब्धिः' किसी वस्तु की उपलब्धि न होने का एक कारण उस वस्तु का बहुत दूर होना भी है। उदाहरणतः आकाश में बड़ी दूर उड़नेवाले पक्षी का ग्रहण इन्द्रियों से नहीं हो पाता। अतिदूरात् में पंचमी हेतु में हैं। अतः वस्तु के उपलब्ध न होने का कारण अन्य कुछ नहीं अपितु उसका प्रेक्षक से बहुत दूर होना ही है। दूरात् में पंचमी विभक्ति होने से अव्यय अति का अर्थ क्रान्त नहीं होता।

सामीप्यात् के साथ भी अति का सम्बन्ध है। अतः वस्तु के ज्ञान न होने का दूसरा कारण उसका अत्यन्त समीप होना है। उदाहरणातः अपने नेत्रों में लगा अंजन उसी व्यक्ति को इसलिए नहीं दिखायी देता कि वह देखने वाले इन्द्रिय नेत्र के अत्यन्त समीप है। वस्तु की अनुपलब्धि के उक्त दोनों कारण देशदोषकृत हैं। अधिक दूर या अधिक समीप देश में स्थित वस्तु का ज्ञान प्रमाता को नहीं हो पाता।

आँख कान आदि ज्ञानेन्द्रियों के दोष से वस्तु की उपलब्धि उसके रहते

हुए भी नहीं होती। बहरा व्यक्ति पास से भी उच्चारित शब्द को सुन नहीं पाता, अन्धा समीपस्थ को भी देख नहीं पाता। मन की अनवस्था उसका संभाहित या स्थिर न होना है। यह तभी होता है जब व्यक्ति का मन किसी अन्य विषय में प्रवृत्त रहता है। कामोपहित व्यक्ति को प्रकाश में भी स्थित इन्द्रिय से सन्निकृष्ट वस्तु का ज्ञान नहीं होता। यद्यपि मन भी इन्द्रियों में से ही है, अतः उनसे इसका भी ग्रहण हो जाता है, तथापि मन की प्रधानता को दिखाने के लिए उसे अलग से निरूपित किया है। इन्द्रियघात एवं मन की अनवस्था इन दोनों स्थलों में वस्तु के प्रत्यक्ष विद्यमान होते हुए भी इन्द्रिय-दोष के कारण उसकी उपलब्धि (प्रतीति) नहीं होती।

विषयवस्तु के दोष से भी उसकी प्रतीति नहीं हो पाती। विशेष रूप से जब वह वस्तु अत्यन्त सूक्ष्म होती है जैसे परमाणु; तब वस्तु के प्रत्यक्ष विद्यमान तथा द्रष्टा के पूर्ण स्वस्थ होने पर भी उसकी उपलब्धि नहीं हो पाती। यह अनुपलब्धि विषय के दोष के कारण होती है।

द्रष्टा एवं दृश्य से अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु के व्यवधान से भी वस्तु का ग्रहण नहीं हो पाता। उदाहरण-स्वरूप पर्दे या दीवाल की आड़ में रखी वस्तु समीप होते हुए भी ज्ञात नहीं हो पाती। इसी प्रकार सूर्य के प्रभाव से अभिभूत तारे दिन में दिखाई नहीं देते यद्यपि वे दिन में भी रहते हैं। एक ही वस्तु की राशि में उसी जाति की वस्तु के मिल जाने पर उसकी प्रतीति अलग से नहीं होती। उक्त तीनों पक्षों में विषय या वस्तु की अनुपलब्धि का कारण कारण द्रष्टा एवं दृश्य से भिन्न किसी अन्य वस्तु के सदोष होने से है न कि उसकी अनुपलब्धि से। किन्हीं-किन्हीं टीकाकारों ने 'समानाभिहाराच्च' में च के प्रयोग का अभिप्राय बताते हुए कहा है 'च' से यहाँ अनुद्भूत विषयों का ग्रहण होता है। उदाहरणतः दूध में दही है पर वह अनुद्भूत रहता है। वह भी एक प्रकार की अनुपलब्धि ही है।

इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि प्रत्यक्ष के निवृत्त हो जाने से ही किसी वस्तु का सर्वथा अभाव नहीं मानना चाहिए। मित्र के घर जाने पर यदि वहाँ मित्र नहीं मिलता तो हम उसका अभाव नहीं मानते। उसी प्रकार वस्तु के प्रत्यक्षतः प्राप्त न होने से ही उसका सर्वथा अभाव नहीं मानना चाहिए। देखना यह चाहिए कि उस वस्तु में साक्षात्कार की योग्यता है या

नहीं ।[1] वस्तु के प्रत्यक्ष के योग्य होने पर ही यदि उसकी उपलब्धि नहीं होती तभी उसके अभाव की कल्पना उचित है । प्रधान एवं पुरुष आदि में प्रत्यक्ष की योग्यता न होने से उनकी जो अनुपलब्धि होती है, उससे उनके अभाव का निश्चय कर लेना प्रामाणिकों के लिए युक्ति-युक्त नहीं है ॥ ७ ॥

पूर्व कारिका में अनुपलब्धि के कारणों का उपन्यास सामान्य रूप से किया है । अब यह बताना चाहते हैं कि प्रधान आदि की अनुपलब्धि का कारण इनमें से कौन है ।

सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात्कार्यतस्तदुपलब्धेः ।
महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिसरूपं विरूपं च ॥८॥

तस्य प्रधानादेः अनुपलब्धिः इन्द्रियेण अप्राप्तिः सौक्ष्म्यात् अतिसूक्ष्मत्वाद्धेतोः भवति, अभावात् प्राक्प्रध्वंसान्योन्यात्यन्ताभावरूपाच्चतुर्विधादपि अभावकारणात् न भवतीति शेषः । कार्यतः महत्तत्त्वादिकार्यलिंगानुमानेन तस्य प्रधानस्योपलब्धेः प्राप्तिकारणाद्धेतोः । महान् बुद्धिः स आदिर्यस्य तन्महदादि-भूतपर्यन्तं हि तस्य प्रधानस्य कार्यम् । प्रकृतेः धर्ममेतत् प्रकृतिसरूपं विरूपं चोभयविधं भवति । रूपेन सह इतिसरूपम् अनुरूपमित्यर्थः ।

(प्रधान एवं पुरुष में से) प्रधान (मूलप्रकृति) की (प्रत्यक्षतः) उपलब्धि इसलिए नहीं हो पाती कि वह (अत्यन्त) सूक्ष्म है न कि वह है ही नहीं । क्योंकि कार्य के रूप में उसकी प्राप्ति होती है । मूलप्रकृति के कार्य महत् अहंकार मन इत्यादि उसके अनुरूप एवं प्रतिरूप उभयविध हैं ।

तदनुपलब्धिः में प्रयुक्त 'तत्' सर्वनाम से प्रधान एवं पुरुष में से केवल प्रधान का ही परामर्श इसलिए होता है कि नपुंसकलिंग में वही निर्दिष्ट है । पुरुष की प्रत्यक्षतः उपलब्धि न होने के कारण का उपन्यास सत्रहवीं कारिका-'संघातपरार्थत्वात्' में आगे करेंगे ।

प्रधान अर्थात् मूल या अव्यक्त प्रकृति की साक्षात् अनुपलब्धि का कारण उसका अतिसूक्ष्म होना है । जिस प्रकार आकाश में धूम एवं जल के

---

१. विषयोऽविषयोऽप्यतिदूरादेर्हानोपादानाभ्यामिन्द्रियस्य ॥ सां०सू० १।१०८

परमाणु निरन्तर विद्यमान होते हुए भी दृष्टिगोचर नहीं होते उसी प्रकार सत्त्व, रज एवं तम गुणों की साम्यावस्था रूप मूलप्रकृति अतिसूक्ष्म होने से इन्द्रिय-गोचर नहीं हो पाती। सांख्य-सूत्र भी इसका समर्थन करता है।[1] प्रकृति की यह सूक्ष्मता उसकी लघुता या अणुरूपता नहीं है अपितु उसकी दुरूहता अर्थात् रग-रग में व्याप्ति है। मूल-प्रकृति महद् से लेकर स्थूलभूतपर्यन्त सभी व्यक्त तत्त्वों में अन्तर्निहित है। अतएव वह प्रत्यक्ष का विषय नहीं।[2] प्रकृति की सूक्ष्मता उसकी दुरूहता है अर्थात् उसकी उपलब्धि न होने का कारण उसका अभाव नहीं है। अभाव के चार प्रकार होते हैं—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव तथा अत्यन्ताभाव। उत्पत्ति के पूर्व घट का प्रागभाव होता है। मिट्टी या खपड़े के रूप में बदल जाना ही उसका प्रध्वंसाभाव है। गाय में घोड़ापन का तथा घोड़े में गोत्व के परस्पर का अभाव अन्योन्याभाव कहलाता है तो बन्ध्यासुत एवं आकाशकुसुम के अभाव को अत्यन्ताभाव कहते हैं। मूल-प्रकृति में इनमें से किसी के अभाव की सम्भावना नहीं है। अतएव कारिका में 'नाभावात्' की सामान्य उक्ति से अभाव के सभी प्रकार की प्रसक्ति का निषेध कर दिया गया है।

कार्यतस्तदुपलब्धेः मूल प्रकृति की उपलब्धि उसके कार्यों से होती है।[3] अर्थात् उसका हम इन्द्रियसाक्षात्कार तो नहीं कर सकते, पर अनुमान अवश्य कर सकते हैं। प्रकृति की अनुमेयता में उसके कार्य अर्थात् परिणाम ही लिंग रूप में साधक का काम करते हैं। बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता। महतत्त्व आदि कार्य हैं अतः इसका कोई न कोई कारण अवश्य होगा। वही प्रकृति है। इस प्रकार सामान्यतोदृष्ट अनुमान से प्रकृति के ही विकारों के आधार पर उसकी सत्ता प्रमाणित हो जाती है। जिस प्रकार घट को देखकर उसके अदृश्य परमाणु का ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार तीनों गुणों के साक्षात्कार से प्रकृति का अनुमानात्मक ज्ञान हो जाता है।[4] 'तदुपलब्धेः' तत् से

---

१. सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिः। सां० सू० १।१०९

२. दुरूहत्वं सौक्ष्म्यं नत्वगुणत्वं प्रकृतेर्विभुत्वात्। भाष्य। सां० सू० १।१०९

३. कार्यदर्शनात्तदुपलब्धेः। सां० सू० १।११०

४. यथा घटादिदर्शनात्परमाणुज्ञानं तथा त्रिगुणदर्शनात् प्रकृतिज्ञानमिति।

प्रधान का ही परामर्श होता है क्योंकि उसी में कार्य अर्थात् परिणाम सम्भव हैं पुरुष में नहीं। यद्यपि पुरुष के अस्तित्त्व का ज्ञान भी अनुमान से ही होता है, पर उसका विनिगमक हेतु भोग्यरूपा प्रकृति का अस्तित्त्व है न कि पुरुष का कोई कार्य। क्योंकि पुरुष के अपरिणामी होने से उसमें किसी भी प्रकार के कार्य की संभावना ही नहीं है।

महदादि च तत् कार्यम्--महत् से लेकर स्थूलभूत पर्यन्त विकार ही मूल-प्रकृति का कार्य है जो उसकी सत्ता का अनुमापक हेतु है। चूंकि बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति कदापि सम्भव नहीं, अतः महत् आदि व्यक्त जिसके कार्य अर्थात् परिणाम हैं वही प्रधान अर्थात् मूलप्रकृति है। ये महदादि मूल-प्रकृति के विनिगमक किस रूप में हैं इसका प्रदर्शन आगे 'अविवेक्यादेः' इत्यादि कारिका (१४-१५) में करेंगे। नैयायिक जगत् का मूल कारण परमाणु को तथा वेदान्ती ब्रह्म को मानते हैं। सांख्य-शास्त्री प्रधान अर्थात् मूल-प्रकृति को ही जगत् का मूल कारण मानते हैं।[१]

प्रकृतिसरूपं विरूपं च—प्रकृति की सत्ता के साधक महत् आदि उसके विकार ही हैं। ये विकार दो प्रकार के हैं—प्रकृति के अनुरूप एवं उसके विपरीत। प्रकृति के परिणामों में गुण परिणाम भी एक है। प्रकृति में सत्त्व, रज एवं तम तीन गुण हैं जिनका स्वभाव सुख-दुःख एवं मोहात्मक है। महत् आदि में ये गुण तो विद्यमान हैं ही अध्यवसाय, अभिमान तथा संकल्प आदि वे गुण भी जो मूल प्रकृति में उपलब्ध नहीं होते, इनमें पाये जाते हैं। समान गुण का होना ही इनकी प्रकृति से सरूपता तथा विसदृश होना ही विरूपता है।[२] प्रकृति के कार्यों में विसदृश गुणों के आविर्भाव के कारण का निरूपण आगे (१०-११) कारिकाओं में करेंगे ॥८॥

पूर्व कारिका में महदादि कार्य से उनके अतीन्द्रिय कारण मूल-प्रकृति की सिद्धि की गई है। अर्थात् मूल-प्रकृति की सत्ता में प्रमाण उसके कार्य महत् आदि तत्त्व ही हैं। किन्तु कार्य की उपलब्धि से केवल इतना ही जाना जा

---

१. ब्रह्मकारणं जगदिति केचित्परमाणुकारणमित्यन्ये प्रधानकारणमितिवृद्धाः।

२. समानं रूपं यस्य तत्सरूपं, विसदृशं रूपं विरूपम्।

सकता है कि उसका कोई न कोई कारण अवश्य है कि महदादि कार्य-कलाप का कारण मूल-प्रकृति के रूप में कोई ऐसा पदार्थ हो जिसकी सत्ता भी हो, क्योंकि दर्शन की विविध विधाएँ अन्तिम-कारण के विषय में अनेक विसंवाद उपस्थित करती हैं। उदाहरणतः बौद्ध प्रभृति कुछ विचारक असत् अर्थात् अभाव से सत् अर्थात् भावात्मक तत्त्वों की उत्पत्ति मानते हैं, तो दूसरे वेदान्ती इस जगत् को एकमात्र सत् तत्त्व ब्रह्म का विवर्त मानते हुए सदसद्विलक्षण कहते हैं। न्याय-वैशेषिक जगत् के मूल-उपादान परमाणु को तो सत् मानते हैं किन्तु उससे उत्पन्न होनेवाले अणु-समुदाय रूप घटादि कार्य को असत् अर्थात् उत्पत्ति के पूर्व अपने कारण में विद्यमान न मानते हुए नूतन कृति कहते हैं। सांख्याचार्य कपिल ने यह माना है कि प्रत्येक कार्य सत् है जो उत्पत्ति के पूर्व भी अपने कारण में विद्यमान रहता है। न तो वह उत्पन्न होता है और न विनाश को ही प्राप्त होता है अपितु उसका आविर्भाव एवं तिरोभाव होता रहता है। उक्त चारों विसंवादों में से प्रथम तीन के अनुसार प्रकृति की सत्ता सिद्ध नहीं होती, अतः चतुर्थ पक्ष सत्कार्यवाद की सिद्धि अग्रिम कारिका में करते हैं।

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥९॥

कार्यं महदादि कारणव्यापारात् पूर्वमपि सत् विद्यमानं भवतीति शेषः। कुतः ? असदकरणात्, असतः यथार्थतः अविद्यमानस्य शशविषाणादेः अकरणात् कर्तुमशक्यत्वात्, पुनः कस्मात् ? उपादानग्रहणात् दधितैलादिकार्यार्थं तेषामुपादानस्य समवायिकारणस्य क्षीरतिलादेरेव यतो ग्रहणं क्रियते तस्मात्, अन्यथा दधितैलाद्यर्थस्य सलिलसिकतयोरपि ग्रहणं स्यात्। पुनः कस्मात् ? सर्वसम्भवाभावात् सर्वस्मात् वस्तुनः सर्वस्य कार्यस्य सम्भवः उत्पत्तिः यतो न भवति तस्मात्। पुनः कस्मात् ? शक्तस्य शक्यकरणात्, शक्तस्य तत्कार्यमुत्पादयितुं समर्थस्यैव कारणस्य बीजादेः अङ्कुरोत्पत्त्यादिशक्यस्य कार्यस्य, करणात् सम्पादनात् अर्थात् शक्तिमत एव शक्यस्य शकनीयस्य कार्यस्य उत्पादनात्। अथ च कारणभावात्, कारणस्य भावात् सत्त्वादित्यर्थः, अथवा कारणस्वाभावात् ॥९॥

कोई भी कार्य (उत्पत्ति के पूर्व भी अपने कारण में) विद्यमान रहता

है। क्योंकि (इस लोक में) जो वस्तु सर्वथा सिद्ध नहीं है, उसे उत्पन्न नहीं किया जा सकता। किसी भी वस्तु की प्राप्ति के लिए उसके कारण को ही खोजा जाता है। क्योंकि एक ही वस्तु से सभी वस्तुओं की उत्पत्ति सम्भव नहीं। बल्कि इसके विपरीत जो वस्तु जिस वस्तु को उत्पन्न करने में समर्थ है उसी से उसकी उत्पत्ति होती है। इसीलिए पदार्थों में परस्पर कार्यकारण-भाव होता है। अथवा कारण का जो स्वभाव होता है वह कार्य में भी देखा जाता है।

प्रकृत कारिका में 'कार्यं सत्' की प्रतिज्ञा की गई है जिसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक कार्य उत्पत्ति के पहले अपने कारण में अवश्य विद्यमान रहता है। यही पक्ष हमें मान्य है जिसकी सिद्धि करना है। यहाँ कार्य को सत् कहकर ही बौद्ध एवं वेदान्तियों के पक्षों का निराकरण दिया गया है, क्योंकि दोनों में से कोई भी पक्ष-कार्य को उत्पत्ति के पूर्व या पश्चात् सत् अर्थात् नित्य नहीं मानता। तथा उनका मत एक दूसरे से ही खण्डित हो जाता है। असत् अर्थात् अभाव से सत् रूप जगत् की उत्पत्ति का सिद्धान्त बौद्धों का है। किन्तु किन्तु ऐसा मानने पर असत्कारण से सुखदुःखमोहात्मक तथा नामरूपात्मक कार्यभूत इस जगत् की उत्पत्ति कैसे मानी जा सकती है? क्योंकि ऐसा मानने से सत् और असत् में अभेद की सिद्धि नहीं होगी। तथा अभाव से भाव की उत्पत्ति मानने पर अभाव के सर्वत्र सुलभ होने से सर्वदा सभी कार्यों की उत्पत्ति स्वतः होनी चाहिए। इसी प्रकार इस जगत् को एकमात्र सत् ब्रह्म का विवर्त कहना उसे मिथ्या कहना है जो इसलिए ठीक नहीं है कि जगत् विषयक प्रत्यक्ष अनुभूति का कोई बाधक तत्त्व नहीं है। अर्थात् जो जगत् साक्षात् अनुभूत हो रहा है, किसी बाधकतत्त्व के अभाव में उसे मिथ्या कहना कहाँ तक न्याय्य है? इस प्रकार वेदान्तियों एव बौद्धों के मत को निस्सार समझते हुए उसका खण्डन न कर कारिकाकार ने वैशेषिक एवं नैय्यायिकों के असत्कार्यवाद का खण्डन करने के लिए ही उक्त कारिका की रचना की है जिसमें पूर्वपक्ष यह है कि कार्य अपनी उत्पत्ति के पहले कहीं भी किसी भी रूप में विद्यमान नहीं रहता। अपितु उसकी नई सृष्टि होती है। यहाँ इसके खण्डन तथा अपने सत्कार्यवाद के मण्डन में पाँच युक्तियाँ दी गई हैं जो निम्नलिखित हैं —

पहली युक्ति है असदकरणात्, जिसका अभिप्राय यह है कि यदि कार्य,

कारण व्यापार के पहले किसी भी रूप में कहीं भी विद्यमान नहीं होता तो उसकी उत्पत्ति उसी प्रकार नहीं की जा सकती जिस प्रकार सहस्रों शिल्पी मिलकर आकाशपुष्प एवं खरहे की सींग नहीं बना सकते। यदि यह कहें कि सत् और असत् होना वस्तु के दो धर्म हैं, अतः असत् अवस्था में उसका अभाव नहीं माना जा सकता, तो धर्मी के बिना धर्म का होना सिद्ध हो जायगा। अथवा धर्म के रूप में ही धर्मी का होना सिद्ध हो जाता है। इसलिए वह असत् नहीं है। अर्थात् कारणव्यापार से पूर्व भी कार्य की सत्ता है। कारणव्यापार से उसकी अभिव्यक्ति मात्र होती है जो देखी भी जाती है। जैसे पेरने से तिल में से तेल, कूटने से धान में से चावल और दूहने से गाय में से दूध निकलता है।

दूसरी युक्ति है उपादानग्रहणात्। उपादान समवायिकारण को कहते हैं। उसका ग्रहण कार्य से सम्बन्धित होना है।[1] चूंकि प्रत्येक कार्य अपने उपादान अर्थात् समवायिकारण से सम्बद्ध होता है, इसीलिए उससे उसकी उत्पत्ति होती है। यदि कार्य उत्पत्ति के पूर्व विद्यमान न रहे तो अविद्यमान के साथ कारण का सम्बन्ध कैसे बनेगा? क्योंकि सम्बन्ध दो सत्पदार्थों में ही सम्भव है। इसपर यदि यह तर्क किया जाय कि कारण से सम्बन्ध के बिना ही कार्य की उत्पत्ति मानने में क्या दोष है? तो उसी के उत्तर में अगली युक्ति सर्वसम्भवाभावात् दी गई है। बिना सम्बन्ध के ही कार्य की उत्पत्ति मानने पर किसी भी कारण से किसी कार्य की उत्पत्ति हो सकती है, किन्तु ऐसा होता नहीं है।[2]

यदि हम यह स्वीकार भी कर लें कि कारण से असम्बद्ध भी कार्य की उत्पत्ति हो सकती है तो भी उसमें एक व्यवस्था है कि जिस कारण में उस कार्य-विशेष को उत्पन्न करने की शक्ति होती है, उसी से उसकी उत्पत्ति सम्भव है जिस किसी से नहीं। इसी अभिप्राय से कहा है—शक्तस्य शक्यकरणात्। यहां प्रश्न यह उठता है कि कारण में विद्यमान कार्य के उत्पादन की शक्ति क्या सर्वत्र एवं सर्वकार्य विषयक है? अथवा उस शक्य में ही जिसको उत्पन्न करने में वह समर्थ है? वह शक्ति यदि सर्वत्र होती तो किसी भी

---

१. उपादाननियमात्। सां० सू० १।११५

२. असत्त्वे नास्ति सम्बन्धः कारणैः सत्त्वसङ्गिभिः।
असम्बद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः॥

वस्तु से दूसरी किसी भी वस्तु की उत्पत्ति होती पायी जाती। किन्तु ऐसा होता नहीं है। अतः यही मानना चाहिए कि वह शक्ति शक्य अर्थात् कार्य में ही है और चूंकि शक्ति भी एक प्रकार का सम्बन्ध है जो संयोगादि के समान शक्ति एवं शक्य उभयाश्रित होता है, अतः शक्य अर्थात् कार्य के अविद्यमान रहने पर शक्ति का होना भी सम्भव नहीं है।[1] इसलिए ठीक ही कहा है—शक्तस्य शक्यकरणात्।

कारणभावात् कार्य इसलिए भी सत् अर्थात् अपनी उत्पत्ति के पहले विद्यमान माना जाना चाहिए कि वह कारणात्मक ही होता है।[2] कार्य कारण से भिन्न नहीं होता। अतः यदि कारण सत् है तो कार्य भी उससे अभिन्न अर्थात् सत् ही होना चाहिए। अथवा कारण का जो स्वभाव होता है, वही कार्य का भी स्वभाव होता है।[3] जैसे तिल में जो चिकनापन है, वही तेल में पाया जाता है। इस प्रकार कार्य कारण से भिन्न नहीं है। जो वस्तुएं एक दूसरे से सर्वथा भिन्न होती हैं, उनमें संयोग और अप्राप्ति दो गुण पाये जाते हैं, जैसे कुण्ड बदरीफल से भिन्न होता है अतएव उनका संयोग संभव है। इसी प्रकार हिमालय विन्ध्य से मिलता नहीं, यह उनके परस्पर भिन्न होने का प्रमाण है। तन्तु और पट में न तो संयोग संभव है और उक्त प्रकार से अप्राप्ति। अतः ये एक दूसरे से सर्वथा भिन्न नहीं हो सकते। यही पट का कारणभाव अर्थात् तन्तु होना है।

'कारणभावात्' पद की व्याख्या टीकाकारों ने अनेक प्रकार से की है। जयमंगलाकार ने इसका एक अर्थ वस्तुओं में कार्यकारणभाव का विद्यमान होना भी किया है।[4] क्योंकि यदि कार्य उत्पत्ति के पूर्व विद्यमान नहीं रहता

---

१. शक्तिश्च शक्तिमत्सम्बन्धरूपा संयोगवदुभयत्र या शक्याभावे न सम्भवतीति शक्यभावोऽभ्युपेयः। इति न्यायकणिकाचार्याः॥

२. कारणभावाच्च कार्यस्य कारणात्मकत्वात्। तत्त्वकौमुदी।

३. अथवा कारणभावादिति कारणस्वभावात्। यत्स्वभावं कारणं तत्स्वभावं कार्यम्। जयमङ्गला।

४. कारणभावात् कारणस्य सत्त्वादित्यर्थः। अथवा कारणस्वभावात्। यत्स्वभावं कारणं तत्स्वभावं कार्यम्। जयमङ्गला।

तो 'कारण से कार्य उत्पन्न होता है, इस मान्यता का क्या अर्थ है? इसका दूसरा अर्थ भी वही 'कारण का स्वभाव' किया है। क्योंकि जो स्वभाव कारण का होता है वही कार्य में भी पाया जाता है। मिट्टी मे उत्पन्न घड़े का स्वभाव भी मिट्टी का ही होता है। इसी अर्थ का समर्थन गौड़पाद और माठर की टीकाओं से भी होता है। किन्तु वाचस्पति मिश्र ने इसका अर्थ कार्य और कारण का अभिन्न होना किया है—'कार्यस्य कारणात्मकत्वात्।' उनका कहना है कि कार्य भी कारण का एक धर्म ही होता है। धर्म और धर्मी में कोई वास्तविक भेद नहीं होता। जो वस्तुतः भिन्न है वह उसका धर्म कदापि नहीं हो सकता। जैसे गाय और घोड़े में से कोई किसी का धर्म नहीं है अतः ये परस्पर भिन्न होते हैं। उपादान और उपादेय भाव भी कारण और कार्य की अभिन्नता के ही साधक हैं। इसीलिये तन्तु और पट यथार्थतः भिन्न नहीं है। घट और पट एक दूसरे से वस्तुतः भिन्न होते हैं इसीलिये इनमें उपादानोपादेय भाव भी नहीं होता।

इस प्रकार व्यतिरेकानुमान से यह सिद्ध हो गया कि तन्तु ही परस्पर संलग्न होकर पट के रूप में परिणत हो जाते हैं। फलतः पट तन्तुओं से कोई भिन्न वस्तु नहीं है। एक ही वस्तु में किसी व्यापार रूप क्रिया, उसके अभाव रूप निरोध, ज्ञान, संज्ञा, अर्थक्रिया एवं व्यवस्था के भिन्न-भिन्न होने से उसे वास्तविक रूप से भिन्न नहीं सिद्ध कर सकतीं। एक ही वस्तु की भिन्न रूपों में प्रतीतियां उसे वास्तविक रूप में भिन्न नहीं बना सकती।[1] क्योंकि एक ही वस्तु में अनेक विशेषों का आविर्भाव और तिरोभाव होने से उसकी एकता का व्याघात नहीं होता। कछुए के हाथ, पैर एवं सिर आदि अंगों का आवश्यकतानुसार निरन्तर संकोच-विकोच हुआ करता है। इसे उनको उत्पत्ति एवं विनाश नहीं कहा जाता। इसी प्रकार मिट्टी से घट एवं सुवर्ण से मुकुट आदि बनते बिगड़ते रहते हैं। उससे उनके भिन्न-भिन्न होने की बात नहीं बनती।

अर्थक्रिया भेद से भी कोई वस्तु भिन्न नहीं सिद्ध हो जाती।[2] एक ही

---

१. स्वात्मनि क्रियानिरोधबुद्धिव्यपदेशार्थक्रियाव्यवस्थाभेदाश्च नैकान्तिकं भेदं साधयितुमर्हन्ति एकस्मिन्नपि तत्तद्विशेषाविर्भावतिरोभावाभ्यामेतेषामविरोधात्। तत्त्वकौमुदी।

२. नचार्थक्रिया भेदोऽपि भेदमापादयति एकस्यापि नानार्थक्रियादर्शनात्। यथैक एव वह्निर्दाहकः पाचकः प्रकाशकश्चेति। तत्त्वकौमुदी।

वह्नि अर्थक्रिया-भेद से कहीं दाहक, कहीं पाचक तो कहीं प्रकाशक कहा जाता है। जलाने, पकाने एवं प्रकाश की भिन्न-भिन्न क्रियाओं को सम्पादित करने से वह अनेक नहीं हो जाता। अतः विशेष प्रयोजन से भिन्न-भिन्न क्रियाओं के सम्पादन की व्यवस्था से किसी वस्तु का भिन्न-भिन्न होना सिद्ध नहीं होता। इतने पर भी यदि कार्य की उत्पत्ति को असत् कहेंगे तो उससे भिन्न उसके कारण एवं उससे भी भिन्न उसके कारण की कल्पना करने से अनवस्था दोष आने लगता है जिसका कोई परिहार नहीं। अतः कार्य सत् ही है ॥९॥

'महत् आदि कार्य-कलाप कारणव्यापार के पूर्व भी विद्यमान रहते हैं' इसकी सिद्धि कर इनके अतीन्द्रिय कारण प्रकृति के व्यक्त एवं अव्यक्त दो रूपों का निरूपण अग्रिम कारिका में करते हैं—

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥ १० ॥

व्यक्तं प्रधानपुरुषातिरिक्तं महदादिपृथिव्यन्तं त्रयोविंशतितत्त्वं हेतुमत् हेतुः कारणं तद्वत्, अनित्यं विनाशि अथवा तिरोभावि, अव्यापि अव्यापकं सर्वगतं न, अपितु प्रादेशिकं अतएव संकीर्णं, सक्रियं परिस्पन्दवत् क्रियाशीलम् अनेकं महदादिभूततदाश्रितं नान्यत्, लिङ्गं प्रधानस्य द्योतकं, सावयवं अवयवनं मिश्रणं संयोगः इति अवयवः तेन सह वर्तते इति सावयवम्। परतन्त्रम् परायत्तं भवतीति शेषः। एतद्विपरीतं भिन्नम् अर्थात् अहेतुमत्, नित्यं, व्यापकं, निष्क्रियमेकमनाश्रितमलिंगमनवयवं स्वतन्त्रं च यद्भवति तदेव अव्यक्तमिति कथ्यते।

जो तत्त्व सकारण, अनित्य, संकीर्ण, क्रियाशील, अनेक अपने कारणों पर आश्रित, मूल प्रकृति का अनुमापक, अवयव सहित तथा परापेक्षी हैं उन्हें व्यक्त कहते हैं। इनके विपरीत अर्थात् जो कारणरहित, व्यापक, निष्क्रिय, एक, अनाश्रित, अलिंग, अवयवरहित तथा स्वतन्त्र है उसके लिये ही अव्यक्त पद का प्रयोग हुआ है।

---

३. अथासदुत्पद्यत इत्यत्रापि मते केयमसदुत्पत्तिः, सती असती वा, सती चेत् कृतं तर्हि कारणैः, असती चेत् तस्या अपि उत्पत्त्यन्तरमित्यनवस्था स्यात्। तत्त्वकौमुदी।

हेतुमत् — महत्तत्त्व से लेकर स्थूलभूत पर्यन्त जितने भी तत्त्व हैं इनकी संज्ञा 'व्यक्त' है जिसका आशय यह है कि ये सभी किसी न किसी रूप में प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय हैं। इनकी विशेषताओं में से एक यह है कि इनका कोई न कोई कारण अवश्य होता है जिससे इनकी उत्पत्ति हुई है। उदाहरणतः पंच महाभूत का कारण पंचतन्मात्रायें हैं, उनका भी कारण अहंकार है, अहंकार का कारण महत्तत्त्व भी सकारण इसलिये है कि उसकी उत्पत्ति मूलप्रकृति से होती है। माठरवृत्ति के अनुसार हेतु दो प्रकार के होते हैं—कारक एवं ज्ञापक। प्रधान, बुद्धि, अहंकार तथा पंचतन्मात्रायें कारक हेतु हैं। इनमें से बुद्धि, अहंकार तथा तन्मात्रायें हेतु और साध्य दोनों होते हैं जबकि, प्रधान अर्थात् अव्यक्त केवल हेतु ही होता है कार्य नहीं।

अनित्यम्—व्यक्त की दूसरी विशेषता उसकी अनित्यता से यहां तात्पर्य उसके आविर्भाव तिरोभाव से ही है। सांख्य के सत्कार्यवाद के अनुसार कोई भी तत्त्व परमार्थतः अनित्य नहीं है। चाहे वह कार्य हो या कारण। व्यक्त यद्यपि कार्य हैं तथापि अपनी उत्पत्ति के पूर्व भी वे अपने-अपने कारणों में सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार इनकी अनित्यता का अर्थ यही है कि जिस रूप में ये व्यक्त हैं वह रूप अनित्य अर्थात् विनाशशील है। कारण व्यापार के अनन्तर उसकी अभिव्यक्ति मात्र होती है। वेदान्तादि दर्शनों में अनित्य का अर्थ विनाशशाली होता है। सांख्य-सिद्धान्त के अनुसार सूक्ष्म रूप से अपने कारण में रहना ही उस तत्त्व का विनाश है।[1] गीता में भी संसार रूपी अश्वत्थ वृक्ष को 'अव्यय' कहा है।[2] प्रधान इसके विपरीत नित्य है क्योंकि उसका कोई कारण नहीं है जिसमें उसका लय हो।

अव्यापि—जो तत्व सर्वगत होता है उसे व्यापी अर्थात् व्यापक कहते हैं जिसका सम्बन्ध व्याप्य से होता है। व्यापक वह है जो अधिक स्थान में रहे। इसके विपरीत व्याप्य उसकी अपेक्षा कम स्थान में रहता है। उदाहरणतः धूम और अग्नि में अग्नि, धूम की अपेक्षा व्यापक है। क्योंकि जहां-जहां धूम है,

---

१. नाशं कारणलयः। सांख्य सूत्र। १। १२१

२. ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्। गीता १५।१

यहां तो अग्नि है ही, जहां धूम नहीं है, वहां भी अग्नि की सत्ता सम्भव है। किन्तु वह अग्नि की अपेक्षा व्याप्य है अर्थात् अल्पदेश में रहने वाला है क्योंकि जहां-जहां अग्नि है, उन सब स्थलों में धूम का होना अनिवार्य नहीं है। अपितु कुछ उन्हीं स्थलों में जहां अग्नि का गीले इन्धन से संयोग है, वहां धूम की सम्भावना है। अतः अग्नि व्यापक एवं धूम व्याप्य होता है। कार्य-कारण-भाव में भी व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध होता है। कारण चूंकि अधिक देशवृत्ति होता है, इसलिए व्यापक है। कार्य उसकी अपेक्षा कम देश में रहता है इसलिए व्याप्य है। यहां पर व्यक्त को अव्यापि कहने का अर्थ यही है कि वह कार्य है जिसका कारण मूलप्रकृति सर्वतत्त्वगत होने से व्यापक है। महत् भी यद्यपि एक व्यापक तत्त्व है जिसमें शेष सभी व्यक्त तत्त्व व्याप्त होते हैं, तथापि मूल-प्रकृति की अपेक्षा कम व्यापक होने से वह भी अव्यापी ही है। इसके विपरीत अव्यक्त अर्थात् मूल प्रकृति ही इसकी अपेक्षा अधिक व्यापी तत्त्व है। जहां तक पुरुष का प्रश्न है वह भी व्यापी ही है क्योंकि 'तद्विपरीतस्तथा च पुमान्' की उक्ति से कारिका ११ में उसे व्यक्त एवं अव्यक्त से कुछ अंशों में सर्वथा विपरीत कहा गया है। किन्तु पुरुष की व्यापकता सापेक्ष नहीं है अपितु वह स्वतन्त्र रूप से सर्वव्यापी है।

सक्रियम्—क्रिया परिस्पन्द को कहते हैं जो किसी कार्य में प्रवेश और निःसरण के रूप में पायी जाती है।[1] चूंकि सृष्टिकाल में तेरह प्रकार के अन्तः एवं बाह्य करणों से युक्त होकर सूक्ष्म तत्त्व भी इतस्ततः संचरण करता रहता है इसीलिये उसे सक्रिय कहा है जिसकी व्युत्पत्ति है—'क्रियया=गमनादिरूप-परिस्पन्दात्मिकया आकुञ्चनप्रसारणादिसंवरणरूपया सहितं यद्भवति तत्स-क्रियम्।' क्रियाशीलता व्यक्त-प्रकृति का ही गुण है। यद्यपि सत्व, रज और तम मूलप्रकृति में ही विद्यमान रहते हैं तथापि अव्यक्तावस्था में उनके प्रवाह के सजातीय होने से वहां क्रिया नहीं हो पाती। क्रिया वहीं होती है जहां विजातीय प्रवाह से सम्पर्क होता है। चूंकि वह व्यक्ततत्त्वों में ही सम्भव है अतः उन्हें सक्रिय कहा गया है। इसका सम्बन्ध पूर्वोक्त अव्यापकता से भी है। महत् से लेकर सूक्ष्म तन्मात्राओं तक व्यक्त चूंकि सर्वगत नहीं है इसलिये वह तीनों लोक में इधर उधर संसरण करता रहता है। यही उसकी सक्रियता

---

१. सक्रियं परिस्पन्दवत्। तथाहि बुद्ध्यादय उपात्तमुपात्तं देहं त्यजन्ति देहा-न्तरं चोपाददते इति तेषां परिस्पन्दः। तत्त्वकौमुदी।

है। जो तत्त्व परम व्यापक होता है वह संसरण नहीं कर सकता। अतएव मूल-प्रकृति में क्षोभ के परिणामस्वरूप क्रिया के सम्भव होने पर भी गमनागमन रूप परिस्पन्दनात्मक क्रिया (हलचल) के न होने से वह निष्क्रिय है। विज्ञान-भिक्षु ने सक्रियता का अर्थ आलोचन, संकल्प, अभिमान और अध्यवसाय रूप उन नियत क्रियाओं से युक्त होना किया है जो किसी-न-किसी कार्य से सम्बन्धित हैं। सामान्य रूप से सभी क्रियाओं का कुछ न कुछ कारण अवश्य होने से प्रधान में किसी कार्य के एक अंश के प्रति क्रिया नहीं होती। यहां क्रिया का अर्थ कर्म का होना मात्र नहीं अपितु कार्य-विशेष के प्रति होने वाली विशेष प्रकार की क्रिया है जो निश्चित रूप से प्रधान में नहीं होती।[1]

अनेकम्—अनेक का अर्थ है एक से अधिक सजातीय भेदों से युक्त। जिस प्रकार आम के लंगड़ा, सिन्दूरी, दशहरी आदि सजातीय भेद होते हैं, यद्यपि ये सभी आम ही कहे जाते हैं उसी प्रकार बुद्धि आदि में भी सजातीय अनेकता संभव है। क्योंकि वे प्रत्येक पुरुष के साथ भिन्न-भिन्न होते हैं। इसी तरह पृथ्वी आदि के भी शरीर और घट आदि अनेक सजातीय भेद होते हैं। इस प्रकार व्यक्त अनेक हैं पर अव्यक्त का कोई सजातीय न होने से वह मात्र अकेला है। मूलप्रकृति चूंकि तीनों गुणों का समाहार रूप है अतः वह एक ही है तीन नहीं। व्यक्त के अनेकत्व विशेषण की वाचस्पति की व्याख्या सजातीय भेद का खण्डन करते हुए विज्ञान भिक्षु का कहना है कि यहां सर्ग-भेद से भिन्नता ही अनेकता है जिसको दो सर्गों की साधारणता कह सकते हैं। अनेक व्यक्तियों के सजातीय भेद से अनेकता नहीं बनती। क्योंकि ऐसा करने पर प्रकृति में अव्याप्ति दोष आ जायेगा। उसके भेद सत्त्व, रज आदि के अनेक सजातीय रूप होते ही हैं।[2] विज्ञान भिक्षु की इन युक्तियों का खण्डन करते हुए सांख्य के आधुनिक टीकाकार बालराम उदासीन ने कहा है कि प्रकृति

---

१. सक्रियत्वमध्यवसायादिरूपनियतकार्यकारित्वम्। प्रधानस्य तु सर्वक्रिया-साधारण्येन कारणत्वात् न कार्यैकदेशमात्रकारित्वम्। न च क्रिया कर्मैव वक्तुं शक्यते। प्रकृतिक्षोभात् सृष्टिश्रवणेन प्रकृतेरपि कर्मवत्तयात्र सक्रियत्वापत्तेरिति।   सां० सू० १। १२४ पर प्रवचनभाष्य

२. अनेकत्वं सर्गभेदेन भिन्नत्वं, सर्गद्वयासाधारण्यमिति यावत्; न पुनः सजातीयानेकव्यक्तित्वम्, प्रकृतावतिव्याप्तेः प्रकृतेरपि सत्त्वाद्यनेक—रूपत्वात्। वही।

के अनेक रूप होने पर भी उसमें अनेक व्यक्ति के होने का अभाव होने से प्रकृति के समक्ष कोई और तत्त्व विद्यमान नहीं जिससे उसका अन्योन्याभाव साधित हो जाय। अत: उसको लेकर अव्याप्ति दोष की सम्भावना निरर्थक एवं निराधार है।

आश्रितम्—महत् से लेकर स्थूलभूत पर्यन्त निखिल व्यक्त तत्त्व अपने-अपने कारणों पर उसी प्रकार आश्रित होते हैं जिस प्रकार वन पर एक एक वृक्ष आश्रित रहता है। यद्यपि कारण और कार्य में अभेद होता है फिर भी कार्यरूप व्यक्त अपने कारण पर कैसे आश्रित हो सकता है ? इसका उत्तर यही है कि कारण और कार्य में परमार्थत: कोई भेद न होते हुए भी व्यवहार चलाने के लिये उसमें आश्रय-आश्रयी-भाव की कल्पना की जाती है और उनमें भेद भी उसी प्रकार समझा जाता है जिस प्रकार 'जंगल में पीपल' की उक्ति में। पीपल का पेड़ वस्तुत: जंगल से भिन्न नहीं है अत: दोनों में आश्रय-आश्रयी-भाव नहीं बन सकता। तथापि इस रूप में व्यवहार होता ही है जो मात्र काल्पनिक है। अव्यक्त इसके विपरीत अर्थात् अनाश्रित इसलिए है कि न तो उसका कोई कारण है जिसके साथ आश्रय-आश्रयीभाव की कल्पना की जा सके और न ही उससे सर्वथा भिन्न पुरुष तत्त्व से उसका आश्रय-आश्रयी-भाव बनता है। क्योंकि आश्रय-आश्रयीभाव में व्याप्य-व्यापकभाव भी काम करता है। व्यापक ही आश्रय हो सकता है तथा व्याप्य ही आश्रयी। दोनों के ही व्यापक होने से मूल प्रकृति के साथ पुरुष का व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध नहीं बनता। इनमें से कोई दूसरे का आश्रयी भी नहीं हो सकता। इसलिए अव्यक्त अनाश्रित ही रहता है।

लिंगम्—'लिंगयति ज्ञापयति इति लिंगम्' की व्युत्पत्ति से लिंग पद अनुमापक हेतु का बोधक है। यहाँ प्रश्न उठता है—कस्य लिंगम् ? अर्थात् महत् आदि व्यक्त किसके अनुमापक हेतु हैं ? इसका एक ही उत्तर है प्रधान अर्थात् मूल-प्रकृति के। जयमंगला में लिंग पद को एक दूसरे प्रकार से ही व्युत्पन्न किया गया है —'लयं गच्छति इति लिंगम्'। व्यक्त प्रकृति लिंग इसलिये कही जाती है कि यह अन्त में लय को प्राप्त हो जाती है। प्रलयकाल में

---

१. क्षोभादिपरिणामलक्षणक्रियायाः प्रधाने सत्त्वेऽपि गमनागमनलक्षणपरिस्पन्दात्मकक्रियाया असत्त्वान्न प्रकृतावतिव्याप्तिरिति व्यर्थोऽयं भिक्षोः प्रयास इति बोध्यम्। बालराम उदासीन पृ० १२१

आकाशादि पांचों महाभूत अपनी-अपनी शब्दादि तन्मात्राओं में विलीन हो जाते हैं और क्रमशः इन तन्मात्राओं का विलय अहंकार में होता है। अहंकार का महत्तत्व में तथा अन्त में महत्तत्व का प्रधान में। यहाँ पर भी लय होने का अर्थ तिरोभाव ही है न कि विनाश। चूंकि प्रधान का विलय कहीं नहीं होता है, इसलिए वह अलिंग है। लिंग नहीं। जहां तक उसके अनुमापक हेतु का प्रश्न है यद्यपि प्रधान पुरुष का अनुमापक है, अतः उसके प्रति ही उसकी लिंगता है, स्वयं अपने प्रति नहीं क्योंकि प्रधान ही प्रधान का लिंग नहीं हो सकता। इस प्रकार पुरुष का लिंग होते हुए भी प्रधान अर्थात् मूल-प्रकृति स्वयं का लिंग अर्थात् अनुमापक हेतु न होने से वह लिंग नहीं है। 'लिंगयति लिंग्यते अनेन वा इति लिंगम्' की व्युत्पत्ति से 'लय गच्छति इति लिंगम्' व्युत्पत्ति व्यक्त के लिए अधिक उपयुक्त है। क्योंकि उससे विपरीत 'लयं न गच्छतीति' व्युत्पत्ति मूलक अव्यक्त से इसकी संगति ठीक ठीक बैठ जाती है। यह गौडपादाचार्य का मत है। सांख्यसूत्र के टीकाकार ने भी लिंग की यही व्युत्पत्ति दी है।[1]

सावयवम् अव उपसर्ग पूर्वक यु मिश्रणे धातु से ल्युट् के अर्थ में अच् प्रत्यय करके 'अवयवनमिति अवयवः' व्युत्पन्न होता है जिसका अर्थ होता है 'मिथः संश्लेष' अर्थात् मिश्रण। इसे संयोग भी कह सकते हैं जिसकी परिभाषा 'अप्राप्तिपूर्विका प्राप्ति' है। इस तरह 'अवयवेन अर्थात् अप्राप्तिपूर्विकाप्राप्तिरूपसंयोगेन सह वर्तते इति सावयवम्। जो अपने ही प्रकार के अन्य भेदों के साथ मिश्रित हो सके। उदाहरणतः पृथ्वी, जल, आकाश आदि तत्त्व परस्पर संयुक्त रहते हैं। इसके विपरीत मूलप्रकृति निरवयव इसलिए होती है कि बुद्धि आदि के साथ उसका संयोग-सम्बन्ध नहीं बनता। अपितु वहां तादात्म्य सम्बन्ध ही होता है। न ही प्रधान में निहित सत्त्व, रजस्, तमस् तीन गुणों का संयोग वहाँ होता है। क्योंकि उस अवस्था में गुणों में सजातीय प्रवाह होने से उनका परस्पर सम्बन्ध नहीं बनता। प्रधान और बुद्धि आदि में अवयवावयवी सम्बन्ध इसलिये नहीं है कि इनके बीच समवाय सम्बन्ध ही काम करता है, संयोग सम्बन्ध नहीं। मिट्टी और घट तथा तन्तु और पट में संयोग सम्बन्ध नहीं बनता। पर बुद्धि से उत्पन्न अहंकार तथा उससे भी उत्पन्न इन्द्रियां आदि में भी तो परस्पर संयोग सम्बन्ध नहीं बनता फिर वे सब मिलकर साव-

१. लिंगम स्वकारणे लयं गच्छतीति। सांख्यसूत्र—१। १३६ पर भाष्य।

यव कैसे कहे गये हैं। यह किसी भी टीकाकार ने नहीं बताया है।

परतन्त्रम्—अव्यक्त की परतन्त्रता का अर्थ यह है कि वह जिससे उत्पन्न है, उसकी सहायता से ही अपने कार्य को उत्पन्न कर सकता है, न कि स्वतन्त्र रूप से। अगर मूल-प्रकृति की त्रिगुणात्मिका शक्ति का साहाय्य न हो तो महत् से अहंकार तथा अहंकार से मन एवं पंचतन्मात्राओं या इन्द्रियों आदि की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसलिए व्यक्त-प्रकृति को यहाँ परतन्त्र कहा है। मूल-प्रकृति इससे भिन्न है जो महदादि तत्त्वों के उत्पादन में पूर्ण स्वतन्त्र है, किसी भी तत्त्वान्तर की अपेक्षा नहीं रखती।

विपरीतम्—विपरीत का अर्थ है व्यक्त से विपरीत और वह है अव्यक्त। इस प्रकार अव्यक्त कारण-रहित, नित्य, व्यापक, निष्क्रिय, अनाश्रित, अलिंग (साध्य), निरवयव (संयोगरहित), तथा महदादि के उत्पादन में सर्वथा स्वतन्त्र होता है, यह बात स्वतः सिद्ध हो गई।

यहां पर एक बात विशेष रूप से ध्यान देने की यह है कि अनेकत्व अहेतुमत्त्व व्यक्त के एवं अन्य सभी अव्यक्त के विशेषण पुरुष में भी घट जाते हैं। पर 'त्रिगुणत्वे सति अहेतुमत्' इस रूप में लेने पर पुरुष का निराकरण हो जाता है ॥१०॥

उपर्युक्त कारिका में प्रकृति के ही व्यक्त और अव्यक्त दो रूपों के परस्पर के वैधर्म्य का प्रतिपादन किया गया है। उनके साधर्म्य तथा पुरुष के साथ उनके वैधर्म्य का विवेचन अगली कारिका का विषय है—

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि ।
व्यक्तं तथा प्रधानं, तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥११॥

व्यक्तं महदादिस्थूलभूतपर्यन्तं तथा प्रधानं मूलप्रकृतिः त्रिगुणं त्रयोगुणाः अस्येति सुखदुःखमोहात्मकम्, अविवेकि परस्परसम्मिश्रणपुरस्सर-कार्यकारण-शीलम् अविवेचनशीलं वा, विषयः उपभोगसाधनं, सामान्यम् अनेकपुरुषभोग्यम्, अचेतनम् जडं सुखदुःखमोहज्ञानासमर्थम्, स्वतः प्रकाशानधिकरणम्, प्रसवधर्मि प्रसवरूपो धर्मो यः सोऽस्यास्तीति प्रसवधर्मि सरूपविरूपान्यतरपरिणामशीलम्, पुमान् पुरुषः, तद्विपरीतः त्रिगुणत्वादिविपरीतधर्मवान् अर्थात् निर्गुणः विवेकी, विषयी, विशेषः, चेतनः, प्रसवधर्मरहितः तथा च तदनुरूपश्च, यतः प्रधानवत् अहेतुमान् भवति, व्यक्तवच्च अनेको भवतीत्यर्थः ॥

प्रकृति के व्यक्त और अव्यक्त दोनों भेद तीनो गुणों से युक्त, विवेक-रहित, विषय अर्थात् पुरुष के उपभोग योग्य, सामान्य, जड़ तथा उत्पादन-शील होते हैं। पुरुष निर्गुण, विवेकी, विषयी, विशेष, चेतन तथा उत्पादनशील न होने से इन (व्यक्त तथा अव्यक्त दोनों) से भिन्न तथा कारणरहित होने से प्रधान (अव्यक्त) के एवं अनेक होने से व्यक्त के समान भी होता है।

त्रिगुणम् —व्यक्त और अव्यक्त में पूर्वोक्त हेतुमत्‌अहेतुमद् आदि अनेक अन्तर होते हुए भी वे कई अंशों में समान होते हैं। उनमें से एक है-त्रिगुणम् अर्थात् दोनों का तीन गुणों से युक्त होना। सत्व, रज और तम—ये ही तीन गुण हैं जो अव्यक्त रूप मूल-प्रकृति तथा उससे उत्पन्न महदादि व्यक्त दोनों में पाये जाते हैं। पुरुष में कोई गुण नहीं होता इसलिये वह इन दोनों से भिन्न निर्गुण है। 'त्रिगुणम्' में गुण पद से यदि सत्त्व, रज, तम ग्रहण होगा तो त्रिगुण का अर्थ सत्वादि तीनों गुणों का आधारभूत होगा जो व्यक्त के पक्ष में तो ठीक बैठ जाता है क्योंकि महदादि सभी तत्त्वों में तीनों गण पाये जाते हैं। किन्तु अव्यक्त अर्थात् मूल-प्रकृति के त्रिगुणात्मिका होने से उसका गुणों का आधार होना सम्भव नहीं। इसीलिये सांख्य-सूत्र में कहा है कि सत्वादिगुण मूल-प्रकृति के धर्म नहीं होते अपितु त्रिगुण रूप ही मूल-प्रकृति होती है।[1] अतः यहां तीनों गुणों से सुखदुःख मोह का ही ग्रहण करना चाहिए। सुखादिधर्म का आधार मूलप्रकृति के होने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं। क्योंकि सुख, दुःख और मोह क्रमशः सत्व, रज एवं तम के धर्म हैं जो उनमें ही रहते हैं। सांख्यशास्त्र में भी सुख को सत्व का, दुःख को रज का तथा मोह को तम का धर्म कहा है।[2] इस प्रकार सुखादि वस्तुतः गुण नहीं अपितु गुणों के धर्म है। इनके लिए गुण पद का प्रयोग धर्मी और धर्म के अभेद सम्बन्ध को लेकर ही हुआ है।

इस पर यह कहा जा सकता है कि यहां कारिका में गुण पद से यदि सुखदुःखमोहरूप धर्मों का ग्रहण होता तो पंचतन्मात्राओं में उक्त लक्षण नहीं घटेगा। क्योंकि विष्णु-पुराण में इन तन्मात्राओं के शान्त, घोर तथा मूढ़ होने का निषेध किया गया है जो क्रमशः सुख, दुःख और मोह के लक्षण हैं।[3] इसका

---

१. सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात्। सां सू० ६।३८
२. सुखधर्मकं सत्त्वम्, दुःखधर्मकं रजः, मोहधर्मकं तमः।
३. तस्मिंस्तस्मिंस्तु तन्मात्रास्तेन तन्मात्रता स्मृता।
न शान्ता नापि घोरास्ते न मूढाश्चाविशेषिणः॥

उत्तर यह है कि पंचतन्मात्राएं अहंकार से उत्पन्न हुई हैं। अहंकार के सुखदुःख मोहात्मक होने का निषेध कथमपि नहीं किया जा सकता। कार्य सर्वदा कारण के गुणों के अनुरूप ही होता है।[1] तथा कार्य और कारण में अभेद सम्बन्ध होता है। इसलिए पंचतन्मात्राओं में भी सुखदुःख मोह की उपलब्धि का निराकरण नहीं किया जा सकता। यही नहीं, पंचतन्मात्राएँ सुखदुःख मोह के स्पष्ट आधार पंचमहाभूत के कारण भी हैं। अतः परम्परा से तन्मात्राएं भी सुखादि के आधार बन जाती हैं। अन्यथा उनके कार्य स्थूलभूतों में सुखदुःखमोह की प्राप्ति आकस्मिक अर्थात् सर्वथा नवीन उत्पत्ति मानी जाएगी जो सांख्य के सत्कार्य-वाद-सिद्धान्त के सर्वथा विपरीत है। अथवा 'त्रयो गुणाः सन्ति अस्मिन्निति' बहुव्रीहि व्युत्पत्ति से त्रिगुण पद व्यक्त का विशेषण होता है तथा वही 'त्रयाणां गुणानां समाहारः' की व्युत्पत्ति से अव्यक्त का विशेषण हो जाता है।

इस प्रकार व्यक्त अव्यक्त उभय रूप प्रकृति ही सुख, दुःख एवं मोह का आधार है न कि पुरुष। पुरुष में सुखदुःखादि की अनुभूति भ्रान्त ज्ञान है। इससे नैयायिक इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख दुःख एवं ज्ञान को जो आत्मा का धर्म मानते हैं[2] उसका भी यहाँ निराकरण हो गया है। त्रिगुण का सिद्धान्त सांख्य-दर्शन की अपनी बात है। यहीं से यह अन्य दर्शनों के सिद्धान्तों में भी गया है। तीनों गुणों की सत्ता यद्यपि काल्पनिक ही है तथापि अत्यन्त प्रचलित है। उनके अस्तित्व की वास्तविकता की सिद्धि विज्ञान से नहीं होती।[3]

अविवेकि – वि उपसर्ग पूर्वक विचिर् पृथग्भावे धातु से ताच्छील्य अर्थ

---

१. कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते।

२. इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनोलिङ्गमिति। न्यायसूत्र १।१।१०

३. The सांख्य theory of three Guna's although a mere hypothesis, is yet a very useful and appropriate hypothesis. Devies remarks—'In the System of vedantins, The Gnostic, all men and all substances are devided into three classes—(1) Spiritual (ii) The Vital and (iii) The Material (Hylic). This corresponds to the Gunas of Kapila and is Probably an importation from India (P. 37, 2n)
Dr. H. D. Sharma's notes on सांख्य कारका।

में णिनि प्रत्यय होकर व्युत्पन्न विवेकी पद का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ 'पृथक् होने के स्वभाव से युक्त' होता है जो विवेचनशीलता ही है। उसका जिसमें अभाव हो उसे ही अविवेकी कहेंगे। अथवा अपने कारण एवं कार्य से अलग होने को ही विवेक कहते हैं। चूंकि प्रधान महत् आदि अपने कार्यों से अलग नहीं हो सकता तथा उसी प्रकार महद् आदि भी अपने मूल कारण प्रधान से अलग नहीं हो सकते, क्योंकि ये एक दूसरे से अभिन्न हैं इसीलिए उन्हें अविवेकी अर्थात् अलग होने में असमर्थ कहा है। अथवा मिलकर काम करना ही यहां अविवेकिता है।[1] प्रकृति का कोई भी तत्त्व चाहे वह व्यक्त हो या अव्यक्त, किसी भी कार्य को करने में स्वतः समर्थ नहीं होता। किसी एक ही तत्त्व से अन्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती किन्तु सभी मिलकर ही किसी कार्य को उत्पन्न करते हैं। इसलिए अलग या स्वतन्त्र रूप से कार्य करने की क्षमता न होने से ही इन्हें (व्यक्त और अव्यक्त को) अविवेकी कहा गया है। गौडपाद का कहना है कि जैसे जो व्यक्ति गाय और भैंस में भेद नहीं कर सकता, वह अविवेकी समझा जाता है। उसी प्रकार ये व्यक्ताव्यक्त और गुण हैं। इनके स्वरूप का यथार्थतः विवेक न कर सकना ही व्यक्त एवं अव्यक्त की अविवेकिता है।[2]

विषयः—विज्ञानवादी बौद्ध जो यह मानते हैं कि विज्ञान (बुद्धि) ही हर्ष, विषाद और मोह एवं शब्द आदि के रूप में परिणत हो जाता है। बाह्य विषय वस्तुतः अपना कोई अस्तित्व नहीं रखते। इसके खण्डन के लिए ही कारिका में व्यक्त और अव्यक्त को 'विषय' कहा है जिसका अर्थ 'ग्राह्य' होता है। इस प्रकार ये विषय अपने ग्राहक विज्ञान से सर्वथा भिन्न तथा उसकी सीमा के एकदम बाहर हैं।[3] स्त्रीरूप एक ही वस्तु के प्रति अनुरक्त द्वेषी एवं विमूढ़ लोगों को सुखदुःख

---

१. अथवा सम्भूयकारितात्राविवेकः। वाचस्पति मिश्र।

२. न विवेकोऽस्यास्तीति इदं व्यक्तमिमे गुणा इति न विवेकं कर्तुं याति अयं गौरयमश्व इति यथा, ये गुणास्तद् व्यक्तं, यद् व्यक्तं ते च गुणा इति। गौडपाद॥

३. कुम्भस्तम्भाद्याकारम् आन्तरं विज्ञानमेव वस्तु सत्, न ततोऽन्यद् बाह्यं वस्तुजातं किमपि सत्।

सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः।
भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्यतेन्दाविवाद्वये॥

सर्वदर्शन संग्रह पृ० ३२

मोह रूप में भिन्न-भिन्न ज्ञान होता देखा जाता है। यदि वस्तु विज्ञानात्मक होती तो विज्ञान के सामान्य रूप होने से प्रत्येक वस्तु सबके लिए एक सी ही प्रतीत होती। अतः विषय के रूप में वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता भी माननी चाहिए।

सामान्यम्—व्यक्ताव्यक्त उभयरूप प्रकृति को यहाँ पर कारिका में सामान्य भी कहा है जिसका अर्थ होता है—वह तत्त्व जो साधारण रूप से अनेक पुरुषों के द्वारा ग्रहण किया जाता है,[1] यदि वस्तुओं को विज्ञान के आकार का मानते हैं तो विज्ञान के वृत्तिरूप होने से वह साधारण अर्थात् सामान्य नहीं हो सकता अपितु असाधारण ही बना रहेगा। एक व्यक्ति के विज्ञान (बुद्धि) का दूसरे के द्वारा अपनी बुद्धि के रूप में ही समझा जाना सम्भव नहीं है। अतः वह निस्सन्देह विषयविशेष है। बौद्धों के विज्ञानवाद का निरूपण भूमिका में किया जा चुका है।

अचेतनम्—चिति संज्ञाने धातु से से ल्युट् प्रत्यय होकर अचेतन पद व्युत्पन्न होता है। इस प्रकार अपने को प्रकाशित करने की सामर्थ्य संज्ञा अर्थात् चेतन है। वह जिसमें है उसे चेतन या अवभासक कहते हैं। चूंकि व्यक्त और अव्यक्त उभयात्मिका प्रकृति स्वयं को प्रकाशित करने में समर्थ नहीं होती, इसलिए वह अचेतन कही गई है। बौद्ध, बुद्धि को ही चेतन मानते हैं। लेकिन जड़ प्रकृति का कार्य होने से बुद्धि भी जड़ ही है क्योंकि कारण के गुण ही कार्य में पाए जाते हैं।[2] विज्ञान ही स्वप्न के समान बाह्य अर्थ के रूप में प्रकाशित होता है अतः वह चेतन क्यों नहीं है? बौद्धों की इस मान्यता का निराकरण व्यक्ताव्यक्त उभयरूप प्रकृति के विषय सिद्ध होने से ही हो जाता है। वस्तुतः मनबुद्ध्यादि में चेतनता की जो प्रतीति होती है, वह पुरुष के कारण ही है, स्वतः नहीं। सांख्य को यही अभीष्ट है। बुद्धि अर्थात् विज्ञान तो विशुद्ध चैतन्य से प्रकाश लेकर ही स्वयं को प्रकाशित करती हुई बाह्य-विषयों को भी प्रकाशित करती है।

प्रसवधर्मि—जिसमें प्रसव रूप धर्म हो उसे ही प्रसवधर्मी कहते हैं। यहाँ पर 'प्रसवः अन्याविर्भावरूपः परिणामः स चासौ धर्मश्चेति प्रसवधर्मः सो

---

१. सामान्यं साधारणमनेकैः पुरुषैः गृहीतम्। वाचस्पति।

२. कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते।

ऽस्यास्तीति प्रसवर्धामि'—इस विग्रह के अनुसार कर्मधारय से नित्ययोग[1] अर्थ में मत्वर्थीय 'इनि' प्रत्यय होकर 'प्रसवधर्मि' पद व्युत्पन्न होता है। इसका प्रयोजन व्यक्ताव्यक्त उभयविध प्रकृति के साथ प्रसवधर्म अर्थात् परिणाम का नित्य सम्बन्ध बेताना ही है। अन्यथा विशेषण-मात्र निर्देश के लिए 'प्रसव: धर्मो यस्य, इस बहुव्रीहि समासात्मक विग्रह से ही काम चल-सकता था।' इस प्रकार प्रसवर्धामि विशेषण इस तथ्य का अभिधायक है कि व्यक्ताव्यक्त उभय-रूप प्रकृति में निरन्तर प्रसव होता रहता है। प्रसवर्धामि का एक दूसरा अर्थ परिणामी भी होता है। प्रकृति में बुद्धयादि भिन्न तत्वों के रूप में विरूप परिणाम तथा सत्व, रज, तम के रूप में सरूप परिणाम होते रहते हैं। यही नहीं, घट आदि पदार्थ भी सरूपविरूपपरिणाम से युक्त होते हैं। महाप्रलय के समय विरूप परिणाम नहीं होते अपितु तीनों की साम्यावस्था होती है, वही उसका सरूपपरिणाम है। इस प्रकार प्रकृति कभी भी प्रसव अर्थात् परिणाम से विरत नहीं होती। पुरुष इससे भिन्न अर्थात् प्रसवधर्म या परिणाम से रहित होता है। इसीलिए कहा है—'पुमान् तद् विपरीत:'।

यहाँ यह कहा जा सकता था कि अहेतुमत्व—जिसका कोई हेतु न हो तथा नित्यत्व—जो नित्य है, ये धर्म मूलप्रकृति और पुरुष दोनों में पाये जाते हैं। क्योंकि जैसे प्रकृति का कोई कारण नहीं वैसे ही पुरुष का भी कोई कारण नहीं होता तथा दोनों ही नित्य हैं। इनके अतिरिक्त अनेकता, व्यक्त और पुरुष दोनों में पाई जाती है। इसलिए व्यक्त और प्रधान से पुरुष सर्वथा भिन्न कैसे हुआ? इसके लिए ही कारिका में कहा है—तथा च पुमान्। यहाँ 'च' का अर्थ 'अपि' या 'यद्यपि' है। इससे यह अर्थ निकलता है कि यद्यपि पुरुष अनेक अंशों में प्रकृति से सर्वथा विपरीत है, किन्तु कुछ अंशों में वह उसके समान भी है। मूल-प्रकृति के साथ पुरुष की समानता के आधायक-तत्त्व व्यापकता, निष्क्रियता, एकता, अनाश्रित होना, अलिंग होना, अवयवरहित तथा स्वतन्त्र होना भी है। वस्तुत: व्यक्ताव्यक्त से विपरीत निर्गुणत्व आदि धर्म भी पुरुष में कल्पित ही हैं क्योंकि सांख्य-सिद्धान्त के अनुसार भी पुरुष में किसी प्रकार की उपाधि मान्य नहीं है॥ ११॥

---

१. भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने।
सम्बन्धेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादय:।

पूर्वकारिका में पहली बार गुणों का उल्लेख हुआ है जो व्यक्त और अव्यक्त दोनों में पाए जाते हैं। ये गुण कौन हैं ? इनका स्वरूप, प्रयोजन तथा कार्य क्या है ? इसका 'निरूपण' अग्रिम कारिका में करते हैं—

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः ।
अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥१२॥

गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि, प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः यथासंख्यं सुखदुःख-मोहस्वभावाः, प्रकाशः बुद्धिवृत्त्यादिरूपः आलोकः, प्रवृत्तिः यत्नः चालनं वा, नियमः प्रकाशक्रियाभ्यां शून्यत्वं तयोः प्रतिबन्धो वा, अर्थः प्रयोजनं येषां तादृशाः अन्योन्याभिभववृत्तयः परस्परतिरस्कारक्रियावन्तः, अन्योन्याश्रयवृत्तयः परस्परमाश्रयक्रियावन्तः, अन्योन्यजननवृत्तयः सर्वस्य त्रिगुणात्मकत्वेन परस्परं मिलित्वा सर्वे सर्वजनकाः, अन्योन्यमिथुनवृत्तयः स्त्रीपुरुषवदन्योन्यसंयोगशीलाः भवन्तीति शेषः ।

गुण सुखदुःखमोह स्वरूप होते हैं जिनका कार्य क्रमशः प्रकाश, क्रिया तथा दोनों का प्रतिबन्ध है और परस्पर का तिरस्कार, एक दूसरे को आश्रय बनाना, एक दूसरे से उत्पन्न होना तथा परस्पर की संयोगशीलता ही इनकी क्रिया है।

प्रकृत कारिका में गुणाः पद लक्ष्य है अतएव विशेष्य के रूप में प्रयुक्त हुआ है । शेष सभी 'प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः' 'प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः' तथा 'अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयः' पद गुणाः के विशेषण हैं जो उनके स्वरूप, प्रयोजन तथा क्रिया का निर्वचन करते हुए उन्हीं गुणों का लक्षण प्रस्तुत करते हैं। 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' न्याय से इन विशेषणों के अन्त में प्रयुक्त आत्मा, अर्थ एवं वृत्ति पदों का उनके पूर्व में प्रयुक्त प्रत्येक पद के साथ मिलाकर प्रीत्यात्मक, प्रकाशार्थक तथा अन्योन्याभिभव-वृत्तिक आदि अर्थ किये जाते हैं। इस प्रकार इस कारिका में गुणों की संज्ञा, उनका लक्षण, या स्वरूप, उनका प्रयोजन तथा उनमें होने वाली क्रियाओं का ही निरूपण किया गया है।

गुणाः—सत्त्व, रजस् एवं तमस् को संज्ञा गुण है। गुणों का जो स्वरूप एवं कारण वैशेषिक आदि दर्शनों में मिलता है कि गुण वही है जो कर्म से भिन्न

हो तथा द्रव्य जिसका उपादान करता हो।[1] वह यहाँ अभिप्रेत नहीं। अपितु यहाँ पर गुण पुरुष के उपकरण हैं तथा धर्मरूप नहीं अपितु धर्मी रूप हैं। इन गुणों में संयोग-विभाग होता है तथा लघुत्व गुरुत्व आदि के कारण भी ये उनसे सर्वथः भिन्न है। वैशेषिक गुणों में न तो संयोग-विभाग होता है और न उनमें लघुत्व गुरुत्व ही सम्भव है। क्योंकि गुणों में गुण नहीं रहते। प्रकाशकता, चलत्व, क्रियाशीलता तथा अरणकत्व (अवरोधशीलता) आदि धर्मों के आश्रय भी द्रव्य ही होते हैं, गुण कदापि नहीं। इस प्रकार वैशेषिक पदार्थ-विभाग के अनुसार सत्त्व, रज एवं तम गुण न होकर द्रव्य ही ठहरते है।[2] सांख्य-शास्त्र में इनके लिए गुण शब्द का प्रयोग पुरुष के उपकरण होने से तथा पुरुष रूपी पशु को बाँधने के लिए त्रिगुणात्मक महदादि के रस्सीरूप होने से औपचारिक अर्थात् गौण है।

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः—प्रीतिः सुखम्, अप्रीतिः दुःखम्, विषादो मोहः, एवं आत्मा स्वभावो येषां ते। सुख, दुःख और मोह ही इन तीनों गुणों के स्वभाव अर्थात् स्वरूप हैं—सत्त्व सुखात्मक, रजस् दुःखात्मक, तथा तमस् मोहात्मक होता है। यहाँ पर प्रीति, अप्रीति एवं विषाद उपलक्षणमात्र है। अतः प्रीति शब्द से आर्जव (सरलता) मृदुता, कोमलता, लज्जा, सन्तोष, श्रद्धा, क्षमा, अनुकम्पा तथा विवेक आदि इस प्रकार के उन सभी भावों का भी ग्रहण होता है जो सुखद होते हैं। अप्रीति से प्रद्वेष, द्रोह, मत्सर, निन्दा, पराभव, मान तथा मद आदि दुःखद भावों का ग्रहण होता है तो विषाद शब्द से विप्रलम्भ, भय, नास्तिकता, कुटिलता, तथा कृपणता आदि मोहप्रद भावों का ग्रहण होता है। इसीलिए सांख्य-सूत्र में विषाद के अनन्तर 'आदि' पद का भी प्रयोग किया गया है जो[3] 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' न्याय से प्रीति, अप्रीति एव विषाद तीनों पदों से सम्बद्ध होकर आर्जव, प्रद्वेष एवं विप्रलम्भ आदि उपर्युक्त एवं उसी प्रकार के अन्य भावों के ग्रहण का बोधक है। पञ्चशिखाचार्य ने भी प्रीति, अप्रीति एवं विषाद से केवल सुख, दुःख और मोह का ही ग्रहण नहीं किया है अपितु सत्त्व के प्रसाद, लाघव, अनभिष्वङ्ग, प्रीति,

---

१. कर्मभिन्नत्वे सति द्रव्योपादानकत्वम्।

२. गुणाश्रयो द्रव्यम्।

३. प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैर्गुणानामन्योन्यं वैधर्म्यम्। सां० सू० १। १२७

तितिक्षा संतोष आदि अनन्त भेद माने हैं। इन सबको मिलाकर ही सत्त्व को सुखात्मक कहा है। इसी प्रकार रजस् का स्वभाव भी शोक आदि अनेक प्रकार का है। किन्तु संक्षेप में उसे दुःखात्मक कहते हैं। तमस् के निद्रा आदि नाना प्रकारों के होते हुए भी उसे जो मोहात्मक कहा है वह उसका संक्षेप में कथन है।[1]

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः—इसमें द्वंद्व समास हुआ है। इसके अन्त में श्रूयमाण आत्मपद का अन्य सभी के साथ सम्बन्ध है।[2] इस प्रकार इस पद का प्रीत्यात्मक, अप्रीत्यात्मक तथा मोहात्मक—यह अर्थ होता है। आत्मपद का प्रयोग इनके भावात्मक होने का बोधक है—'प्रीतिः आत्मा भावो येषां ते प्रीत्यात्मानः'। इससे कुछ की यह मान्यता कि प्रीति दुःखाभाव के अतिरिक्त भावात्मक कोई वस्तु नहीं है या दुःख भी प्रीति का अभावरूप ही है, निराधार एवं मात्र कपोलकल्पित है। प्रीति आदि की भावरूपता अनुभवगम्य भी है। अगर इन्हें एक दूसरे का अभाव मानेंगे तो भी अन्योन्याश्रय-दोष होने से दोनों में से किसी की सिद्धि नहीं हो पाएगी। इसलिए इनको भावात्मक ही मानना चाहिए। अन्यथा इन दोनों में से किसी एक का ज्ञान होने पर उसके अभावात्मक होने से दूसरे का ज्ञान नहीं होना चाहिए। यहाँ पर आत्मशब्द का अर्थ स्वरूप है स्वभाव नहीं, अतः प्रीति, अप्रीति एवं विषाद, गुणों का स्वरूप है न कि स्वभाव। यद्यपि इस अर्थ के स्वीकार करने पर सांख्य-सूत्र[3] में प्रीति आदि को गुणों का धर्म मानने से विरोध पड़ता है तथापि मन के संकल्पात्मक होने की तरह धर्मी और धर्म के अभेद को लेकर तीनों गुणों की सुखदुःखमोहात्मकता सम्भव हो जाती है।

गुणों के स्वरूप का विवेचन कर उनकी सत्ता के प्रयोजन का प्रतिपादन करने के लिए 'प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः' विशेषण का प्रयोग किया है। यहाँ भी यथासंख्य नियम के अनुसार सत्त्व का प्रयोजन अर्थात् कार्य प्रकाश, रज का प्रवृत्ति तथा तम का नियमन (क्रियाशीलता) अर्थात् प्रवृत्ति का अवरोध

---

१. सत्त्वं नाम प्रसादलाघवानभिष्वङ्गप्रीतितितिक्षासंतोषादिरूपानन्तभेदं समासतः सुखात्मकम्, एवं रजोऽपि शोकादिना नानाभेदं समासतो मोहात्मकम्।

२. द्वंद्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते।

३. प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैर्गुणानामन्योन्यवैधर्म्यम्। सां० सू० १। १२७

ही है। प्रवर्तक होने के कारण रज, लघु, सत्त्व को इतस्ततः प्रवर्तित करता रहता है यदि तमोगुण से उसका नियमन अर्थात् अवरोध न हो। अथवा जैसा कि गौड़पाद का कहना है अर्थ पद यहां सामर्थ्य का बोधक है। सत्त्व प्रकाशार्थ और प्रकाश करने में समर्थ, रजोगुण प्रवृत्ति में समर्थ तथा तमोगुण स्थिति में ही समर्थ हैं। इस प्रकार गुण प्रकाशशील, क्रियाशील एवं स्थितिशील है।[1]

तीनों गुणों के प्रयोजन का प्रतिपादन कर उनकी वृत्ति अर्थात् व्यापार का निरूपण अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च से किया है। यहाँ पर आदि एवं अन्त में उक्त अन्योन्य तथा वृत्ति पदों का बीच के प्रत्येक पद से सम्बन्ध होता है। अन्योन्याभिभववृत्तयः, अन्योन्याश्रयवृत्तयः, अन्योन्यजनन-वृत्तयः तथा अन्योन्यमिथुनवृत्तयः से इनकी चार प्रकार की क्रियाओं का विधान हुआ है। इनकी ये वृत्तियाँ परस्पर होती रहती हैं।

अभिभव, तिरस्कार को कहते हैं। धर्म एवं अधर्म के कारण सुख-दुःखादि प्रयोजन से उद्भूत इनमें से किसी एक के द्वारा अन्यों का तिरस्कार होता है। उदाहरणतः सत्त्व गुण, रज एवं तम को तिरस्कृत कर अपनी शान्त वृत्ति को प्राप्त करता है तो रजोगुण, सत्त्व एवं तम गुणों का तिरस्कार कर घोरा नामक वृत्ति को जन्म देता है। इसी प्रकार तम, सत्त्व एवं रज का अभि-भव करके मूढ़ा वृत्ति को जन्म देता है।[2]

अन्योन्याश्रयवृत्ति का अर्थ है एक की क्रिया दूसरे की अपेक्षा करती है। बात है भी ऐसी ही। सत्त्वगुण का प्रकाशनकार्य रजोगुण और तमोगुण को लेकर ही सम्भव है तथा यदि तमोगुण में अवरोध की शक्ति है तो रजोगुण की क्रियाशीलता के लिए वह विषय बन जाती है। गुणों के परस्पर आश्रय होने की बात का अर्थ उनमें आधाराधेय होने का भाव नहीं है। आश्रय का अर्थ यहाँ इतना ही है कि अपनी क्रिया में एक दूसरे की अपेक्षा करता है। सत्त्व, प्रवृति और नियम का आश्रयण कर अपने प्रकाश के द्वारा शेष दोनों का उपकार करता है। रजोगुण प्रकाश और नियम का आश्रयण कर दोनों को प्रवृत्त कराता हे। तम, सत्त्वगुण का प्रकाश एवं रजोगुण की प्रवृत्ति का आश्रयण कर अपनी नियमन-क्रिया से सत्त्व एवं रज दोनों की सहायता

१. अर्थशब्दमसमर्थमित्यर्थः। गौडपाद

२. रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ गीता १४ । १०

करता है। यहाँ उपकार का आशय यह है कि सत्त्व स्वयं प्रवर्त्तक नहीं है। उसके धर्म प्रकाश की प्रवृत्ति रजोगुण के धर्म गति को लेकर ही होती है। रजोगुण में स्वयं प्रकाश नहीं है। अतः सत्त्व के प्रकाश को लेकर ही उसकी प्रवृत्ति होती है। इसी प्रकार तमोगुण स्वयं प्रवर्त्तक नहीं हो सकता। रजोगुण के धर्म को लेकर ही वह नियमन में प्रवृत्त होता है। इस प्रकार गुणों के परस्पर आश्रित होने की बात गौण रूप से ही बनती है मुख्यतया नहीं। अगली कारिका में इस बात को स्पष्ट करेंगे कि सत्त्व और तम स्वयं क्रियाहीन होने से अपने कार्य प्रकाश और नियमन की पूर्ति के लिए रजोगुण का आश्रयण करते हैं। किसी गुण के द्वारा दूसरे के आश्रयण की आवश्यकता तब होती है जब उसे अपने से भिन्न (विसदृश) रूप में परिणत होना होता है। सदृश परिणाम में तो एक के द्वारा दूसरे अपेक्षा मात्र होती है आश्रयण नहीं।[1]

अन्योन्यजननवृत्ति का अभिप्राय यह है कि तीनों गुणों में से कोई एक दूसरे की उत्पत्ति का कारण बनता है। जनन से यहाँ परिणाम का ग्रहण होता है न कि उत्पत्ति का। क्योंकि उत्पत्ति तो उसकी होती है जो पहले से विद्यमान नहीं होता। गुणों में से किसी एक को दूसरे की उत्पत्ति का कारण मानेंगे तो सत्कार्यवाद का सिद्धान्त खण्डित हो जायगा। अतः यहाँ पर जनन का अर्थ परिणाम ही मानना होगा। प्रश्न यह उठता है कि वह कौन सा परिणाम है जहां गुण एक दूसरे के हेतु होते हैं। इसका उत्तर यही है कि वह परिणाम गुणों के अनुरूप होते हैं।[2] और वह है गुणों की साम्यावस्था रूप प्रधान नामक परिणाम। इसीलिए इन गुणों में परस्पर हेतुत्व नहीं बनता अर्थात् इनमें से कोई एक दूसरे का हेतु या कारण नहीं हो सकता और ये गुण अनित्य भी नहीं सिद्ध हो सकते क्योंकि किसी दूसरे तत्त्व में इनका लय सम्भव नहीं। यदि इनमें से एक को दूसरे का हेतु मानेंगे तो त्रिगुणात्मिका मूलप्रकृति भी हेतुमती हो जाएगी। 'हेतुमद् अनित्यम्, इत्यादि कारिका में अव्यक्त को व्यक्त से विपरीत इसलिए कहा गया है कि वह हेतुमान् नहीं है तथा नित्य है उक्त प्रकार से उसके हेतुमान् सिद्ध हो जाने पर उसकी नित्यता और व्यापकता भी नही बन सकेगी। इसलिए जनन का अर्थ परिणाम ही मानना चाहिए। वस्तुतः त्रिगुणा-

---

१. विसदृशे परिणामे अन्यतमो गुणो अन्यतममाश्रयते। सदृशे तु परिणामे अन्यतमोऽन्यमपेक्षते।

२. प्रतिसर्गावस्थायां सत्त्वं रजस्तमश्च सदृशपरिणामानि।

त्मक होने से ये गुण परस्पर मिलकर ही सभी वस्तुओं के उत्पादक हैं । एक दूसरे का सहयोग पाकर ही इन गुणों से महत् आदि तत्त्वों की उत्पत्ति होती है । अन्यान्यजनन वृत्ति का यही निष्कर्ष है ।[1] ये गुण एक दूसरे का कारण होते हुए भी अनित्य नहीं कहे जा सकते; क्योंकि जो वस्तुएं अनित्य होती हैं, उनका किसी दूसरे तत्त्व में लय अवश्य होता है । अन्योन्याभिभव के कारण ये परस्पर विरुद्ध प्रतीत होते हैं तथा एक दूसरे का आश्रय होने से ये सभी निराश्रय नहीं होते ।[2]

तीनों गुण स्त्री पुरुष के समान परस्पर मिथुनीभाव को प्राप्त करके ही कार्य करते हैं । इनका परस्पर का संबंध अविनाभावसम्बन्ध है जहाँ एक है और दूसरे की प्रतीति नहीं होती, वहां दूसरे की कल्पना कर लेनी चाहिए । इसी अभिप्राय से कहा है - अन्योन्यमिथुनवृत्तय: । 'च' समुच्चयार्थ है जिसमें गुणों के सभी विशेषणों का समाहार हो जाता है । उक्त विवेचन का सारांश यह है कि ये तीनों गुण परस्पर मिथुनीभाव से काम करते हैं तथा सभी सर्वत्रगामी हैं । सत्व रजोगुण का सहचारी है । रजोगुण सत्व का सहचारी है तथा ये दोनों तमोगुण के सहचारी हैं । उत्पन्न होना, रहना, बढ़ना, परिवर्तित होना, क्षीण होना तथा नष्ट होना, निरुक्तकार द्वारा प्रतिपादित विकार के इन छः प्रकारों में से उत्पत्ति-रूप प्रथम विकार सम्भव नहीं होता । यही नहीं इनके साथ इनका योग भी अनादि है तथा इनका परस्पर का वियोग कभी सम्भव नहीं ।[3] पुरुष के साथ तो इनका संयोग-विभाग सम्भव है, पर परस्पर इनका न

---

१. सर्वस्य त्रिगुणात्मकत्वेन परस्परं विदित्वा सर्वे सर्वजनका इति परमार्थः । इतरेतरसाहाय्येन महदाद्युत्पादका इति फलितम् ।

२. अन्योन्याभिभवाच्चैते विरुद्धयन्ति परस्परम् ।
तथान्योन्याश्रयाः सर्वे न तिष्ठन्ति निराश्रयाः ।।
सत्वं न केवलं क्वापि न रजो न तमस्तथा ।
मिलिताश्च सदा सर्वे तेनान्योन्याश्रयाः स्मृता ।।देवी भागवत ३ । ८

३. अन्योन्यमिथुनाः सर्वे सर्वे सर्वत्रगामिनः । रजसो मिथुनं सत्वं सत्वस्य मिथुनं रजः । तमसश्चापि मिथुने ते सत्वरजसी उभे । उभयोःसत्वरजसोर्मिथुनं तम उच्यते ।। महाभारत ३६ । ६

नैषामादिः सम्प्रयोगो वियोगो वोपलभ्यते । देवी भागवत ।

संयोग होता है और न विभाग ।[1] योग-भाष्य में भी कहा है कि ये गुण एक दूसरे के आश्रय से सुख दुःख एवं मोह का अनुभव कराते हैं और इस प्रकार ये सब सभी रूप में परिणत होते रहते हैं[2] ।।१२।।

पूर्व कारिका में जिन गुणों का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि वे प्रकाश, प्रवृत्ति (क्रियाशीलता) तथा नियमन (अवरोध) के लिए हैं, उनके नाम क्या हैं तथा उनका स्वरूप क्या है ? और किसलिए वे उक्त प्रकार से परस्पर एक दूसरे का तिरस्कार करते हैं ? इसका विवेचन अग्रिम कारिका में करते हैं –

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ।।१३।।

सत्त्वमेव लघु लघुस्वभावम्,प्रकाशकम् इंद्रियार्थसंन्निकर्षे सति अर्थावभासकम्, कपिलादिसांख्याचार्याणाम् इष्टं सम्मतम् । रज एव उपष्टम्भकं संश्लेषजनकं, चलं सक्रियम्, इष्टम् । तम एव गुरु गुरुस्वभावम् । वृणोति पिधत्ते इति व्युत्पत्त्या वरणकम् आवरकं च इष्टम् । तैलवर्त्यग्निसमुदायः प्रदीपः तस्यइव प्रदीपवत् यथा तैलवर्तिदीपानां परस्परविरोधेऽपि तैलवर्तिभ्यां सह दीपः प्रकाशं जनयति तथैव गुणानामपि अर्थतः पुरुषार्थतः जीवादृष्टवशादिति यावत् वृत्तिः अन्यान्यानुवर्तनं भवतीत्यन्वयः ।

सत्त्व गुण, लघु और प्रकाशक है । रजोगुण संश्लेषजनक तथा सक्रिय होता है । तमोगुणों भारी एवं आच्छादक होता है । यही सांख्याचार्यों को सम्मत है । ये तीनों (परस्पर विरोधी स्वभाव के होते हुए भी) पुरुष के प्रयोजन के अनुसार प्रदीप के समान मिलकर कार्य करते रहते हैं ।

पूर्व कारिका में इस तथ्य का निरूपण हुआ है कि इन गुणों में एक दूसरें के उपमर्दन आदि की प्रवृत्ति है अतः ये विविध आकार धारण कर लेते हैं । किन्तु प्रश्न यह उठता है ये गुण किस प्रकार अपने स्वभाव के विपरीत कार्य

---

१. अविवेकिना पुरुषेण सह गुणाः संयुज्यन्ते विवेकी च तैर्वियुज्यते इत्येवं गुणाः पुरुषैः सह संयोगविभागवन्तः ।
२. एते गुणा इतरेतराश्रयेणोपार्जितसुखदुःखमोहप्रत्यया इति सर्वे सर्वरूपा भवन्ति । योगसूत्र २ । १५ पर भाष्य ।

करते रहते हैं। वाचस्पति मिश्र ने इसे एक सुन्दरी के उदाहरण द्वारा समझाया है कि जिस प्रकार सुन्दरी स्वसमर्पण द्वारा एक साथ ही अपने पति को सुखी तथा सपत्नी को दुःखी एवं अन्य कामियों को मोहित (खिन्न) कर देती है, उसी प्रकार इन गुणों की प्रवृत्ति होती है। और सुख, दुःख तथा मोह भिन्न आश्रय से भी घटित होते हैं। गौडपाद, माठर एवं जयमंगलाकार ने सत्त्व का दृष्टान्त सुन्दरी, रज का योद्धा' तथा तम का मेघ दिया है। पतिपरायण नारी अपने क्रिया-कलापों से सात्त्विक गुण का कार्य पति को सुखी करती है पर साथ ही सपत्नीमें रजोगुण का कार्य दुःख तथा उसको चाहने वाले किसी अन्य कामी में तमोगुण का कार्य मोह (विषाद) भी होता ही है। इसी प्रकार वीर योद्धा रजोगुण का प्रतीक है जो अपनी वीरता की क्रियाओं से अपने देश को सुखी, शत्रुओं को दुःखी तथा रण छोड़कर भागने वालों को विषण्ण कर देता है। तमोगुण का दृष्टान्त मेघ है जो अपने द्वारा सम्पादित आकाश के आच्छादन की क्रिया से धूप से सन्तप्त लोगों को सुखी, किसानों को क्रियाशील, तथा विरहिणियों को सन्तप्त करता है।

सत्त्व गुण-विशेष का नाम है। सत्त्व पद का अर्थ शुद्ध होता है। रज और तम के स्पर्श से रहित मन को भी सत्त्व कहते है।[1] लघु और प्रकाशक सत्त्व गुण के लक्षण हैं। इसीलिए सांख्य-सूत्र में कहा है कि लघुत्व आदि धर्म से सभी सत्त्व-व्यक्तियों का साधर्म्य तथा रज और तम का वैधर्म्य द्योतित होता है।[2] इसी प्रकार चलत्व आदि धर्म से रजोव्यक्तियों का तथा गुरुत्व आदि से तमोव्यक्तियों का साधर्म्य अभिप्रेत है। यहाँ पर 'गुरुवरणकमेव तमः' में उक्त 'एव' का सम्बन्ध प्रत्येक के साथ होता है। इस प्रकार 'सत्वमेव लघु प्रकाशकम् इष्टम्' सत्त्व को ही लघु और प्रकाशक समझना चाहिए। किसी भी कार्य के ऊर्ध्व-गमन का कारण यह लाघव ही है जो गौरव का विरोधी है। जिस प्रकार किसी वस्तु के स्वतः पतन से उसमें निहित गुरुत्व का अनुमान होता है उसी प्रकार उसके ऊर्ध्व गमन से उसमें लघुत्व का अनुमान होता है। लघुत्व गुरुत्वाभाव-मात्र नही है। क्योंकि जिसमें गुरुत्व का अभाव है उसका पतन तो नहीं होगा पर ऊर्ध्व-गमन भी नहीं होगा। इसलिए यही मानना युक्तियुक्त है कि लघुत्व अभावात्मक नहीं अपितु भावयुक्त ही होता है। अग्नि के ऊर्ध्वज्वलन, वायु के

---

१. रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्त्वमिहोच्यते।

२. लघ्वादिधर्मैः साधर्म्यं वैधर्म्यं च गुणानाम्। सां० सूत्र १।१२८.

तिर्यग्गमन तथा अपने विषय के झटित ग्रहण के लिये इन्द्रियों की उन्मुखता एवं तद् रूप नैपुण्य आदि का कारण उनमें निहित लघुत्व ही है। प्रकाशक का अर्थ इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष होने पर अर्थ का अवभासक होता है। इन्द्रियों के सन्निकर्ष में आने पर वस्तु का ज्ञान होना सत्त्वगुण का ही कार्य है।

रजोगुण का लक्षण उपष्टम्भन और चलन है। सत्त्व और तम स्वभाव से ही निष्क्रिय होते हैं। उनमें स्वयं प्रवृत्ति की शक्ति नहीं होती। अतः प्रकाश एवं नियमन आदि अपने कार्य में अपनी प्रवृत्ति उत्पन्न करने में भी अशक्त होकर रजोगुण से ही प्रवृत्त होते हैं। यही रजोगुण का उपष्टम्भन है। रजोगुण के उपष्टम्भक होने का कारण उसका चल (सक्रिय) होना है। जैसे छड़ी वृद्ध को चलने के लिये प्रोत्साहित करती है अथवा जैसे एक बैल दूसरे बैल को देखकर स्वयं उत्तेजित होते हुए दूसरे को उत्तेजित कर देता है वही स्थिति रजोगुण की है।[1] रजोगुण का भी, जो तीनों गुणों का संचालन करता है, अवरोध तमोगुण के द्वारा होता है। क्योंकि वह गुरु अर्थात् भारी तथा वरणक अर्थात् आच्छादक होता है। 'इष्टम्' इस क्रियापद से सांख्याचार्यैः कारक पद का अध्याहार करके पञ्चशिख आदि सांख्य के आचार्यों का यह मत है, यह अर्थ होता है।

यहाँ शङ्का यह होती है कि उक्त रीति से परस्परविरोध होने से 'सुन्दोपसुन्दन्याय' के अनुसार गुणों से एक दूसरे का विनाश हो जाना चाहिए पुरुष के भोगापवर्ग की सिद्धि तो दूर की बात है। इसके समाधान के लिए ही कारिका में 'प्रदीपवत् चार्थतो वृत्तिः' का पाठ हुआ है जिसका अभिप्राय यह है कि जैसे बत्ती, तेल और ज्वाला परस्पर विरोधी स्वभाव के हैं किन्तु सभी मिलकर प्रकाश करते हुए देखे जाते हैं। इसी प्रकार ये तीनों गुण परस्पर विरोधी होते हुए भी पुरुष के प्रयोजनवश मिलकर कार्य करते हैं।[2] यहाँ यह प्रश्न हो सकता है

---

१. उपष्टभ्नाति उत्तेजयति वृद्धं यष्टिरिवोत्थापयति प्रोत्साहयति स्वकार्ये प्रवर्तयति इत्युपष्टम्भकम्। वाच०। उपष्टभ्नातीत्युपष्टम्भकमुद्योतकं, यथा वृषो वृषदर्शने उत्कटमुपष्टम्भं करोति एवं रजोवृत्तिः। गौडपाद।

२. प्रदीपवच्च यथाकार्यं प्रकरोत्यर्थदर्शनम्। वर्तिस्तैलं यथार्चिश्च विरुद्धाश्च परस्परम्॥ विरुद्धं हि तथा तैलमग्निना सह संगतम्। तैलवर्ति विरोध्येव पावकोऽपि परस्परम्॥ एकत्रस्याः पदार्थानां प्रकुर्वन्ति प्रदर्शनम्॥

—देवीभागवत ३।८।२९,३०

कि क्या बत्ती, तेल और ज्वाला भी उसी प्रकार परस्पर विरोधी स्वभाव के हैं जिस प्रकार ये तीनों गुण ? इसका उत्तर यही है कि वस्तुतः ये ऐसे विरोधी नहीं है कि हर दशा में एक दूसरे का विनाश ही कर दें। ज्वाला, बत्ती और तेल को एक बार में ही जला सकती है तथा बत्ती भी तेल को सोखकर नीचे गिरा सकती है और दीप की लौ बुझा सकती है । इसी प्रकार तेल भी लौ को बुझा एवं बत्ती को अपने में डुबा सकता है जिससे दीप जल नहीं सकता । पर एक विशेष परिस्थिति में व्यवस्थित होकर ये तीनों जिस प्रकार प्रकाश की क्रिया में सहकारी होते हैं, वही स्थिति गुणों की है। प्रधान एवं गौणभाव से व्यवस्थित होकर ये भी अपना विरोध त्यागकर एक दूसरे के सहयोगी हो जाते हैं ।[1] श्री सूर्यनारायण शास्त्री ने मडुम्ब नरसिंह स्वामी शास्त्री की अप्रकाशित कृति 'सांख्यतरुवसन्त' का एक अंश उद्धृत किया है जिसमें 'प्रदीपवत् वृत्तिः' की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार तेल और वह्नि से दीप प्रज्वलित होता है उसी प्रकार तीनों गुणों से अन्तर और बाह्यकरण प्रज्वलित होते रहते हैं । इससे ही विषय के प्रकाशन की क्रिया होती है । यही 'प्रदीपवत् वृत्तिः' की उक्ति का फलितार्थ है । गुणों से पहले करणों में ज्वाला की निष्पत्ति होती है, तभी उनके द्वारा विषयों का प्रकाशन सम्भव होता है । गुणों के सूक्ष्मरूप में अन्तर्निहित होने से उनका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता । जिससे इन वृत्तियों के करणों की ही होने का व्यवहार होता है । मूलतन्त्र में भी इसी आशय से कहा है कि—भाग और गुणों का ही कार्य वृत्ति हैं ।[2]

प्रकृति के त्रिगुणात्मिका होने से उसके महत् से लेकर स्थूलसूक्ष्मभूत-

---

१. गुणभूतो हि प्रतियोगी प्रधानभूतेन तदुपकारकत्वात् न विरुद्ध्यते । यु. दी.

२. तैलवर्तिवह्निभिर्यथा दीपो ज्वलति तथा त्रिगुणैरन्तर्बहिः करणानि ज्वलन्तीति भावः; अनेन विषयप्रकाशनं वृत्तिरिति फलितम् । गुणैः करण-ज्वालानिष्पत्तौ तद्द्वारा विषयप्रकाशनं भवतीति गुणानामननुभवात् करणानामेव वृत्तयो व्यवह्रियन्ते उक्तं च मूलतन्त्रे —भागगुणाभ्यामर्थान्तरं वृत्ति इति । करणानामेवायं न भागो न गुणाश्च परन्तु ततोऽर्थान्तरं प्रकाशनमात्रा वृत्तिर्गुणगतैवेयं भवति करणानां तत्परिणामत्वात् ।

सां० त० बसन्त

पर्यन्त सभी विकार त्रिगुणात्मक होते हैं। गुणों का धर्म सुखदुःखमोह है। किन्तु चूंकि सभी वस्तुएं त्रिगुणात्मक हैं अतः सबमें ही सुखदुःखमोहात्मता विद्यमान है। किन्तु लोक में स्रक्चन्दनादि में केवल सुखात्मकता, सर्प विच्छू कण्टक आदि में दुःखात्मकता ही पाई जाती है जो सभी वस्तुओं के त्रिगुणात्मक होने के विपरीत लगती है। इसका समाधान यह है कि यद्यपि कारण त्रिगुणात्मक हैं किन्तु कार्य में गुणों की अभिव्यक्ति पृथक्-पृथक् होती हैं अथवा जिस प्रकार रूपयौवन से सम्पन्न एक ही स्त्री अपने पति को सुखी, सपत्नी को दुःखी तथा अन्य कामियों को मोहित करती है उसी प्रकार ये सभी पदार्थ भी सुखदुःखमोहात्मक ही हैं।[1]

अर्थतः जयमङ्गला और तत्त्वकौमुदी 'अर्थतः' का अर्थ 'पुरुषार्थतः' करती हैं। किन्तु गौडपाद ने इसे वृत्ति के अर्थ में लिया है तथा माठर इसकी व्याख्या 'कार्यवशात्' करते हैं ॥१३॥

पूर्वोक्त कारिका (११) में व्यक्त तथा अव्यक्त उभयात्मिका प्रकृति को तीनों गुणों से युक्त, अविवेकी, विषय, सामान्य, अचेतन तथा प्रसवधर्मी कहा है। इस सब व्यक्ताव्यक्त के त्रिगुणात्मक होने की सिद्धि पूर्व कारिका से हो जाती है। तथा पृथ्वी आदि जिन तत्त्वों का इन्द्रियों के द्वारा या मन से अनुभव सम्भव है उनकी अविवेकिता आदि का ज्ञान हमें सुतरां हो जाता है। किन्तु सत्त्व, रज एवं तम नामक गुण जो अनुभव में नहीं आते उनमें भी अविवेकिता आदि धर्मों की सिद्धि के लिए अगली कारिका लिखी गई है। यह मत वाचस्पति मिश्र का है। गौडपाद का कहना है कि 'त्रिगुणमविवेकि' इत्यादि कारिका में व्यक्त एवं अव्यक्त उभयविध प्रकृति के त्रिगुणात्मक एवं अविवेकिता आदि धर्मों से विशिष्ट होने की बात जो कही गयी है उसमें क्या प्रमाण है? यह हम कैसे जानते हैं कि महदादि व्यक्त एवं अव्यक्त उभयविध प्रकृति त्रिगुणात्मिका एवं अविवेकिता आदि धर्मों से युक्त है। इसी की सिद्धि के लिए प्रकृत कारिका लिखी गई है। इसीलिए यहाँ गौड़पाद ने मूल कारिका में

---

१. यथा रूपवती नारी यौवनेन विभूषिता।
भर्तुः प्रीतिकरी भूत्वा सपत्नीनां च दुःखदा ॥
मोहदुःखस्वभावस्था सत्त्वस्थेत्युच्यते बुधैः।
तथा सत्त्वं विकुर्वाणमन्यभावं बिभाति वै ॥—देवीभागवत ३।६।११, १२

'अविवेक्यादिः सिद्धः' पाठ माना है ।[1]

अविवेक्यादेस्सिद्धिस्त्रैगुण्यात्तद्विपर्ययाभावात् ।
कारणगुणात्मकत्वात्कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धम ॥१४॥

प्रधानादीनाम् अविवेक्यादेः अविवेकित्वादिधर्मस्य सिद्धिः त्रैगुण्यात् तद्विपर्ययाभावात् तस्य अविवेक्यादेः विपर्ययः अभावो यत्र स तद्विपर्ययः पुरुषः तत्र त्रैगुण्यस्य अभावः अविवेक्यादेः अभावाच्च भवति इति शेषः । कार्यस्य महदादेः कारणगुणात्मकत्वात् सुखदुःखमोहरूपत्वादव्यक्तमपि प्रधानमपि सिद्धं भवति ।

चूंकि मूलप्रकृति में भी तीनों गुण हैं इसलिए वह भी अविवेकिनी, विषय, सामान्य, अचेतन, एवं प्रसवधर्म से युक्त है। इस बात की सिद्धि इससे भी होती है कि प्रकृति से विपरीत तत्त्व पुरुष में अविवेकिता आदि उक्त धर्मों का सर्वथा अभाव होता है। चूंकि कार्य, कारण के गुणानुरूप ही होता है अतः (महत् से लेकर स्थूलभूतपर्यन्त समग्र व्यक्त प्रकृति में उपलभ्यमान अविवेकित्वादि गुणों के आधार पर) अव्यक्त अर्थात् मूल-प्रकृति की भी सत्ता सिद्ध हो जाती है।

व्यक्त एवं अव्यक्त उभयविध प्रकृति की अविवेकिता विषयता सामान्यता, अचेतनता तथा प्रसवधर्मिता का विधान पूर्वोक्त ग्यारहवीं कारिका में हुआ है। किन्तु विधान-मात्र से किसी तथ्य की सिद्धि नहीं हो जाती। उसके लिए युक्ति एवं प्रमाण का उपन्यास अपेक्षित होता है।[2] प्रकृत कारिका के पूर्वार्द्ध में उसकी सिद्धि के लिए अन्वय एवं व्यतिरेक दोनों प्रकार की व्याप्तियों का उपन्यास किया गया है। उनमें से एक है 'त्रैगुण्यात्'। प्रधान महत् तथा अहंकार आदि सभी तत्त्व अविवेकिता आदि धर्मों से युक्त हैं क्योंकि ये सभी तीनों गुणों से युक्त हैं। जो-जो तीनों गुणों से युक्त होता है वह सभी अविवेकितादि धर्मों से युक्त होता है जैसे अहर्निश अनुभूयमान पृथ्वी आदि व्यक्त तत्त्व त्रिगुण से युक्त हैं और इनमें अविवेकितादि धर्म भी हैं।

प्रधानादि में अविवेकिता आदि धर्मों की सिद्धि का साधक दूसरा तत्त्व

---

१. योऽयमविवेक्यादिर्गुणः स त्रैगुण्यान्महदादौ व्यक्तेनायं सिद्ध्यति। गौडपाद

२. युक्तिप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः ॥

व्यतिरेक-व्याप्ति है 'तद्विपर्ययाभावात्' अर्थात् जो अविवेकी नहीं है वह त्रिगुणयुक्त भी नहीं जैसे पुरुष। इस प्रकार अविवेकता आदि धर्मों से रहित पुरुष में तीनों गुणों का अभाव होने से तथा त्रैगुण्यधर्म के मूल-प्रकृति में भी पाए जाने से उस प्रधान में भी अविवेकिता आदि धर्मों की सिद्धि अनुमान-प्रमाण से हो जाती है।[1] अथवा व्यतिरेक-व्याप्ति का उपन्यास ही यहाँ पर अधिक उपयुक्त है। क्योंकि इसमें व्यक्त और अव्यक्त दोनों को ही पक्ष मानकर व्यतिरेकी हेतु 'तद्विपर्ययाभावात्' का उपन्यास किया है। यहाँ साध्य अविवेकित्व आदि हैं। अनुमान की प्रक्रिया इस प्रकार है व्यक्त और अव्यक्त अविवेकिता आदि धर्मों से रहित नहीं है क्योंकि उनमें तीनों गुणों के अभाव का अभाव (सद्भाव) है।[2] जो भी अविवेकिता आदि धर्मों से रहित होता है उसमें तीनों का अभाव भी होता है जैसे पुरुष। इस प्रकार उक्त उभयविध अनुमान से इस तथ्य की सिद्धि हो गई कि अविवेकिता आदि न केवल स्थूल-सूक्ष्म भूतों में ही हैं अपितु इन्द्रियों, मन, बुद्धि अहंकार तथा अव्यक्त अर्थात् मूल-प्रकृति में भी ये सभी धर्म विद्यमान हैं। क्योंकि ये सभी त्रिगुणात्मक हैं। इसके साथ इस सिद्धान्त का भी स्पष्टीकरण हो गया कि अविवेकिता, विषयता, सामान्यता, अचेतनता एवं प्रसवधर्मिता का उपादान-कारण तीनों गुणों की सत्ता है। इस प्रकार मन बुद्धि अहंकार तथा इन्द्रियों में विवेकिता एवं चेतनता की प्रतीति भ्रान्ति ही है। यहाँ तक कि प्रधान कही जानेवाली इन सबका कारण मूल-प्रकृति भी त्रिगुणात्मिका होने से अविवेकिता आदि उक्त धर्मों से ही युक्त है। गौडपाद और माठर ने 'तद्विपर्ययाभावात्' की व्याख्या अन्य प्रकार से ही की है कि प्रधान में अविवेकिता आदि धर्म अवश्य रहते हैं। यह हम इसलिए कहते हैं कि उसमें त्रैगुण्य का कभी अभाव नहीं होता है। जहाँ भी त्रैगुण्य का अभाव नहीं होगा वहाँ अविवेकिता आदि धर्म अवश्य विद्यमान रहेंगे।[3] किन्तु जयमङ्गला में 'तद्विपर्यय' पद से त्रैगुण्य के विपर्यय से निर्गुण पुरुष का ही ग्रहण

---

१. तथाहि अनुमानम्—प्रधानादीन्यविवेकित्वादिधर्मवन्ति त्रिगुणत्वात् यद्यत् त्रिगुणात्मकं तत्तदविवेकित्वादिधर्मवत् यथेदमनुभूयमानं व्यक्तम्। यन्नाविवेकि तन्न त्रिगुणम्, यथात्मतत्त्वम्।

२. व्यक्तमव्यक्तं च नाविवेकित्वादिमद्भिन्नं, त्रैगुण्याभावेऽभावात्। सुबोधिनी।

३. तस्य (अविवेक्यादेः) विपर्ययस्तद्विपर्ययः तस्याभावस्तद्विपर्ययाभावस्तस्मात् सिद्धमव्यक्तम्। गौडपादभाष्य।

किया है और उसमें निहित अविवेकिता आदि के अभाव की बात को दृष्टान्त में रखकर त्रैगुण्य के सद्भाव से ही अविवेकिता आदि धर्मों की सत्ता सिद्ध की गई है।[1]

अब इस पर यह कहा जा सकता है कि पहले अव्यक्त अर्थात् मूल-प्रकृति की सत्ता सिद्ध हो जाय तब तो उसमें अविवेकित्व आदि धर्मों के होने का अनुमान उचित होगा। अन्यथा 'मूलं नास्ति कुतः शाखा' की तरह यह अनुमिति भी निराधार होने से व्यर्थ हो जायेगी। इसके लिए ही कारिका के उत्तरार्ध में 'कारणगुणात्मकत्वात्' का उपादान किया है। चूंकि कार्य में जो गुण पाये जाते हैं वे कारण के ही होते हैं। अतः यह कहना अनुचित नहीं कि कार्य-कारणभाव गुणात्मक ही होता है।[2] महत् से लेकर पृथ्वी आदि स्थूलभूत पर्यन्त निखिल प्रपञ्च कार्य है जो सुखदुःखमोहात्मक है। इनका जो भी कारण होगा वह भी सुखदुःखमोहात्मक होने से त्रिगुणात्मक ही होगा।[3] चूंकि यह व्यक्त अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण से ग्राह्य नहीं है अतः उसे अव्यक्त कहते हैं।[4] इस प्रकार त्रिगुणात्मिका प्रकृति रूपी अव्यक्त की सिद्धि हो जाती है।[5]

प्रकृत कारिका के उक्त विवेचन से इस बात की पुष्टि हुई कि पूर्व-कारिकाओं में अव्यक्त या प्रधान के नाम से जिस मूल-प्रकृति का बार-बार उल्लेख हुआ है वह कल्पना मात्र नहीं है अपितु उसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता भी है। चूंकि वह महत् आदि कार्यों की तरह त्रिगुणात्मिका है, अतः कार्यरूप स्थूल सूक्ष्म उभयविध प्रपञ्च के समान ही वह मूल-प्रकृति भी अविवेकिता आदि धर्मों से युक्त है। जयमङ्गला एवं कुछ संस्करणों में (गौडपादटीका में) 'अवि-वेक्यादेः सिद्धिः' के स्थान पर 'अविवेक्यादिः सिद्धः' पाठ उपलब्ध होता है।

---

१. तद् विपर्ययाभावात्—(तस्य) त्रैगुण्यस्य अभावे (गुणरहिते पुरुषे) अविवेक्यादेरभावात्। नहि निर्गुणस्य पुरुषस्य अविवेक्यादिः संभवति। तस्मात्त्रैगुण्यादेव अविवेक्यादिः सिद्धः ॥ जयमंगला।

२. कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते

३. महदादि सुखदुःखमोहवद्द्रव्योपादानकं, कार्यत्वे सति तद्विशेषगुणवत्त्वात्।

४. गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम् ॥ वार्षगण्याचार्य ॥

५. कारणस्य यो गुणः स आत्मा स्वभावो यस्य तत्तथोक्तं तस्य स्वभावस्तत्त्वम्।

जिस प्रकार 'द्वैकयोर्द्विवचनैकवचने' पाणिनि-सूत्र में प्रयुक्त द्वि एवं एक पद द्वित्व एवं एकत्व के बोधक है उसी प्रकार यहाँ पर कारिका में प्रयुक्त अविवेकि पद अविवेकित्व परक है। जहाँ पर भाव-प्रधान निर्देश करना होता है वहाँ धर्मीवाचक शब्द का धर्मपरत्वेन भी व्यवहार किया जाता है[1] ॥१४॥

पूर्व कारिका में जिस प्रकार कार्य के गुणों से कारण के गुणात्मक होने की सिद्धि की गई है वह नैय्यायिक एवं वैशेषिकों को मान्य नहीं। उनकी विप्रतिपत्ति है कि व्यक्त से ही व्यक्त की उत्पत्ति सम्भव है। सर्वत्र ऐसा ही होता भी है। परमाणु सर्वथा व्यक्त होते हैं। उनसे ही द्वयणुक क्रम से पृथ्वी आदि स्वरूप सभी व्यक्त कार्य उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार पृथ्वी आदि से कारण के गुणों के अनुरूप ही रूप आदि की समुत्पत्ति होती है। अतः व्यक्त से ही व्यक्त एवं उसके गुणों की उत्पत्ति सम्भव है जो अव्यक्त अर्थात् पहले कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं हुआ है उससे व्यक्त क्या किसी भी वस्तु की उत्पत्ति युक्तियुक्त कैसे मानी जा सकती है ? इसके उत्तर में ही अगली दो कारिकाओं का एक साथ अवतरण करते हैं—

भेदानां परिमाणात्, समन्वयात्, शक्तितः प्रवृत्तेश्च।
कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूप्यस्य[2] ॥१५॥
कारणमस्त्यव्यक्तं, प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च।
परिणामतः सलिलवत्प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् ॥१६॥

भेदानां महदादिकार्याणाम्, कारणम् अव्यक्तं प्रधानमस्ति; कुतः ? कारणकार्यविभागत् सत एव कार्यस्य उत्पत्तिकाले कारणसकाशादाविर्भावात् तथा वैश्वरूप्यस्य विश्वरूपेण विद्यमानस्य कृत्स्नस्य कार्यस्य संहारकाले कारणे अविभागात् तिरोभावात्। हेत्वन्तरं दर्शयन्ति शक्तितः कारणशक्तितः कार्यस्य प्रवृत्तेः। हेत्वन्तरमाह परिणामात् परिमितत्वाद् अव्यापित्वादिति यावत्। हेत्वन्तरम् समन्वयात् सुखाद्यात्मसामान्यान्वितत्वात्। त्रिगुणतः सत्वादिगुणत्रयात्, प्रवर्त्तते प्रवृत्तं भवति समुदयात् परस्परं सम्मिश्रणात्। प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् एकैकगुणस्य भिन्न-भिन्नमात्राणाम् सम्मेलनाद् एकस्मादेव प्रधानात् नानाकार्योत्पत्तिरित्यर्थः। तत्र दृष्टान्तमाह परिणामतः सलिलवत् विकारतः जलवत् प्रधानमपि भवति।

---

१. यत्र धर्मिवाचकः शब्दो धर्मपरत्वेन वक्तुरभिप्रेतस्तत्र भाव-प्रधान निर्देशः इति व्यवहारः॥ २. 'वैश्वरूपस्य' इत्यादि पाठः क्वचिद्दृश्यते।

महत् आदि अनेक प्रकार से भिन्न कार्यरूप में व्यक्त प्रकृति की उत्पत्ति का रूपादान कारण कोई न कोई अवश्य है भले वह व्यक्त अर्थात् इन्द्रियगोचर (प्रत्यक्ष) न हो। क्योंकि यद्यपि संहार अथवा अनुत्पन्न अवस्था में कार्य का अपने कारण से कोई भेद नहीं रहता तथापि उत्पत्ति होने पर तो कारण से कार्य का विभाग (अलगाव) हो ही जाता है। यही नहीं कार्य की उत्पत्ति अनायास नहीं अपितु किसी कारण में निहित उसे उत्पन्न करने की क्षमता से ही होती है। कार्य की परिमिति अर्थात् अव्यापकता तथा कार्य-कलाप की एकरूपता (समन्वय) से भी (उनके किसी एक कारण की सत्ता का अनुमान होता है) जो तीनों गुणों से ही एक-दूसरे को दबाकर आविर्भूत होने के प्रयास से जल के समान आश्रयभेद से नाना रूप में परिणत होता रहता है।

महत् से लेकर भूमि पर्यन्त जो व्यक्त-प्रकृति है उसे ही भेद भी कहते हैं क्योंकि उसके अनेक भेद अर्थात् प्रकार होते है। चूंकि वह कार्य है अतः उसका कारण भी कोई-न-कोई अवश्य होगा। जो कारण है वही मूल-प्रकृति है। चूंकि वह व्यक्त अर्थात् इन्द्रियगोचर नहीं है अतः उसे अव्यक्त भी कहते हैं। अव्यक्त-प्रकृति की सिद्धि कई प्रकार से की जा सकती है। जयमङ्गला में उसे ही संसर्गी कहा है। क्योंकि सभी भेद उससे ही सम्बन्धित हैं।[1]

कारणकार्यविभागात्—कारणकार्य से पृथक् होता है। प्रत्येक कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व अपने कारण में उसी प्रकार सत् रूप से विलीन रहता है जैसे कछुए के शरीर में उसके हस्तपादादि अङ्ग।[2] तभी वह उससे निकलते हैं तथा विभक्त रूप से प्रतीत होते हैं। कारणभूत मिट्टी के पिण्ड से ही घट आदि एवं सुवर्ण के पिण्ड से ही मुकुट आदि कार्य उत्पन्न होकर विभक्त रूप से स्थित होते हैं। इसी प्रकार पृथ्वी आदि कार्य अपने कारण तन्मात्राओं से, तन्मात्राएँ अहंकार से, अहंकार महत् से तथा महत् अव्यक्त से आविर्भूत होता है। अतः यह बात सिद्ध हो गई कि परम अव्यक्त कारण से साक्षात् या

---

१. तस्मावेतेषामेकेन संसर्गिणा भवितव्यम्।
यत्रैतेषां संसर्गस्तदव्यक्तं कारणमस्ति ।। जयमंगला।

२. तथा चानुमानम्—महदादिकं कार्यं स्वीयसूक्ष्मावस्थापूर्वकं भवितुमर्हति आविर्भावतिरोभाववत्वात् कूर्माङ्गवत्।

परम्परया अन्वित सभी कार्यों का विभाग होता है। यह सृष्टि-काल में होता है।

प्रलय अवस्था में कार्य कारण से अविभक्त अर्थात् एक रूप में ही रहते हैं—इसके प्रतिपादन के लिए दूसरा हेतु कहा—'वैश्वरूप्यस्य अविभागात्'। विश्वरूप ही वैश्यरूप्य है जो स्वार्थ में ष्यञ्[1] प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। नाना रूप में अवस्थित कृत्स्न कार्य को विश्वरूप कहा है। प्रलय-काल में उसका तिरोभाव हो जाता है। अतः कारण से कार्य का भेद नहीं रह जाता है। प्रलयावस्था में घट मुकुटादि मिट्टी एवं सुवर्ण-पिण्ड में प्रविष्ट होकर अव्यक्त हो जाते हैं। कार्य की अपेक्षा वह कारण रूप ही हो जाते हैं। कारण कार्य की अव्यक्तावस्था का ही नाम है। अव्यक्तावस्था में जो कारण है व्यक्तावस्था में वही कार्य कहलाता है।[2] इसी प्रकार पृथ्वी आदि पञ्च महाभूत अपने कारण तन्मात्राओं में, तन्मात्राएँ अहंकार में, अहंकार महत् में और महत् अपने कारण मूल-प्रकृति में प्रवेश कर अव्यक्त हो जाते हैं। प्रकृति का कहीं भी विलय नहीं होता अतः वही सब कार्यों की अव्यक्ता-वस्था है। इस प्रकार प्रलय-काल में कार्य-कारण के एकीकरण का यह सिद्धांत भी अव्यक्त प्रकृति की सत्ता का साधक है। जयमङ्गला का कहना है कि अनेकता का उत्पादक एक ही तत्त्व है जिस प्रकार लोक में गन्ने के उसी रस से सीरा, राब, गुड़, खाँड़ तथा शक्कर आदि नाना प्रकार की वस्तुएँ तैय्यार होती हैं ठीक उसी प्रकार आध्यात्मिक एवं बाह्यरूप में प्रपञ्चित नानाप्रकार के महत् आदि भेदों का कारण इनका ही अविभक्त रूप है जो एक ही है।[3] इस प्रकार जहाँ गौडपाद, माठर एवं वाचस्पति ने 'अविभाग' पद का अर्थ लय किया है वहाँ जयमंगलाकार ने उससे 'अविभक्त' 'एक रूप में स्थित' अर्थ ही लिया है। उनके अनुसार किसी वस्तु के दो रूप होते हैं—विभक्त एवं अविभक्त। अविभक्त रूप में जो कारण है वही कार्यावस्था में नानारूप में विभक्त हो जाता है।

---

१. चतुर्वर्णादीनां स्वार्थ उपसंख्यानम् पा० सू० ५।१।२४ पर वार्तिक ॥
२. तत्कार्यत्वमुत्तरेषाम्। सांख्य सूत्र—१।६३
३. इह लोके विभक्तादेकस्मादिक्षुद्रव्यात् रसफाणितगुडखण्डशर्करादि वैश्व-रूप्यं नानात्वं दृश्यते एवमाध्यात्मिकानां बाह्यानां च वैश्वरूप्यम्। तस्मा-देषामविभक्तेनैकेन भवितव्यम्। जयमंगला ॥

अव्यक्त की सत्ता की सिद्धि में तीसरी युक्ति प्रस्तुत करते हैं— 'शक्तितः प्रवृत्तेश्च'। कारण की शक्ति से ही कार्य की उत्पत्ति रूपी प्रवृत्ति होती है—यह बात पहले नवीं कारिका में 'शक्तस्य शक्यकरणात्' की उक्ति से सिद्ध हो चुकी है। जो कारण, कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है, उससे कार्य की उत्पत्ति कथमपि नहीं हो सकती। कारण में रहनेवाली कार्य के उत्पादन की यह शक्ति अव्यक्त से भिन्न नहीं है।[1] असत्कार्यवाद के अनुसार भी अव्यक्तता के अतिरिक्त कार्योत्पादन की अन्य किसी शक्ति में कोई प्रमाण नहीं। बालू से तिल में यही भेद है कि तिलों में ही तेल रूपी कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति निहित होती है बालू में नहीं। जो जिस विषय में समर्थ होता है उसकी प्रवृत्ति उसी के उत्पादन में होती है। जैसे कुम्हार की प्रवृत्ति घट के निर्माण में ही इसीलिए होती कि वह उसी कार्य को करने में समर्थ होता है। पट अथवा रथ बनाने में उसकी प्रवृत्ति इसीलिए नहीं होती कि उसमें वह समर्थ (शक्त) नहीं होता।

इसपर यह कहा जा सकता है कि शक्तितः प्रवृत्ति तथा कार्य-कारण के विभाग एवं अविभाग से तो महत् को ही परम अव्यक्त सिद्ध किया जा सकता है फिर उससे भी परे अव्यक्त की सत्ता की कल्पना क्यों की जाय? इसके समाधान के लिए ही कहा है—'परिमाणात्'—परिमाण का अर्थ है परिमिति। यद्यपि परिमिति के देशपरिच्छिन्नता, काल-परिच्छिन्नता तथा वस्तु-परिच्छिन्नता भी अर्थ होते हैं, पर प्रकृत-स्थल में उनके संगत न होने से यहाँ 'परिमाण' पद का अर्थ अव्यापिता अर्थात् अव्यापकता ही करना चाहिए। महद् आदि भेद परिमित हैं। इनका यह परिमित होना ही इस बात का साधक है कि इनसे परे कोई अपरिमित तत्त्व भी है। कोई भी परिमाण अपनी इयत्ता (न्यूनतम एवं अधिकतम सीमा) तक अवश्य जाता है। जिस प्रकार घट आदि की परिमित उनके उपादान-कारण मिट्टी आदि में जाकर समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार अहंकार से लेकर पृथ्वी आदि स्थूलभूतपर्यन्त भेदों का पर्यवसान जिस महत् में हो जाता है, वह भी तो परिमित ही है। अतः कोई तत्त्व ऐसा अवश्य है जो अपरिमित है और जिसमें महत्तत्त्व का भी पर्यवसान सम्भव है। वही तत्त्व अव्यक्त प्रकृति है। चूंकि उस प्रकृति के परिमित होने की अनुभूति हमें नहीं होती, अतः हम उससे भी परे तथा उसके भी कारण किसी और परतर अव्यक्त की कल्पना करें इसमें कोई प्रमाण नहीं।[2]

---

१. कारणे कार्यस्य अव्यक्तरूपेण स्थितिरेव तस्य स्थितिरिति भावः।
२. आद्यहेतुता तद्द्वारा पारम्पर्येऽप्यणुवत्। सां० सू० १।७४

इसलिए भी कार्य-भेद का कारण अव्यक्त ही है कि उनमें एकरूपता है। वे सभी सुखदुःखमोहात्मक हैं। भेदरूप कार्यों की यह समानरूपता भी उन सबके किसी एक कारण से उत्पन्न होने का संकेत करती है। इसी को बताने के लिए कहा – समन्वयात्। परस्पर भिन्न महदादि कार्यों की सुखदुःख-मोहात्मक रूप से समानरूपता ही समन्वय है। जिससे इनके एक जाति के होने की प्रतीति होती है। गौडपाद तथा जयमंगलाकार ने समन्वय को अनुमिति के हेतु के रूप में माना है।[1] विज्ञान भिक्षु ने सांख्य-सूत्र 'समन्वयात्' की व्याख्या में कहा है कि उपवास आदि से हुई बुद्धि आदि की क्षीणता का अन्न आदि खाद्य-पदार्थों के ग्रहण से समन्वय होकर पुनः परिपोष हो जाता है।[2] सोनी ने इस पर आक्षेप किया है कि वह प्रकृत-स्थल के अनुरूप ठीक नहीं बैठता। किन्तु विचार कर देखने पर तो यह ठीक ही प्रतीत होता है कि मनबुद्ध्यादि की क्षति जब अन्नादि से पूर्ण हो जाती है तो निश्चय ही इनके एक स्रोत से उत्पन्न होने का संकेत मिलता है कि इन दोनों प्रकारों का मूलकारण एक है अतएव इनमें गुणों का समन्वय है। उक्त प्रकार से अव्यक्त प्रकृति की सिद्धि करने के अनन्तर अब 'प्रवर्तते त्रिगुणतः' से इस बात का निर्वचन करते हैं कि उस अव्यक्त की प्रवृत्ति किस प्रकार होती है। सत्त्व, रज, तम तीनों गुणों के कारण उनके परस्पर के सम्मिश्रण से यह अव्यक्त प्रकृति निरन्तर प्रवर्तनशील या क्रियाशील बनी रहती है। अव्यक्त की यह प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है—सृष्टिकालीन तथा प्रलयकालीन।[3] प्रलयकाल में सत्त्व, रज एवं तम तीनों गुण सदृश परिणामशाली होते हैं। चूंकि गुणों का स्वभाव निरन्तर परिवर्तन या परिणामशील रहता है[4] अतः प्रलयकाल में सत्त्व सत्त्वरूप में,

---

१. यथा व्रतधारिणं बटुं दृष्ट्वा समन्वयति नूनमस्य पितरौ ब्राह्मणाविति, एवमिदं त्रिगुणं महदादिलिङ्गं दृष्ट्वा साधयामोऽस्य यत्कारणं भविष्यतीति अतः समन्वयादस्ति प्रधानम्। गौडपाद।

२. उपवासादिना क्षीणं हि बुद्ध्यादितत्त्वमन्नादिभिः समन्वयेन समनुगतेन पुनरुपचीयते। वि० भि०, सां० सूत्र १।१३१ पर प्रवचन भाष्य

३. साम्य वैषम्याभ्यां कार्यद्वयम् सां० सू० ६।४२

४. द्वयी चेयं नित्यता कूटस्थनित्यता परिणामनित्यता च; तत्र कूटस्थ-नित्यता पुरुषस्य परिणामनित्यता गुणानां; यस्मिन्परिणम्यमाने तत्त्वं न विहन्यते तन्नित्यं; उभयस्य च तत्त्वानभिघातान्नित्यत्वम्।

योगभाष्य ४।३३

रज रजोरूप में तथा तम तमोरूप में ही प्रवर्तित होता है। उसे ही गुणों की साम्यावस्था भी कहते हैं। वैषम्यावस्था में गुणों की प्रवृत्ति समुदय अर्थात् समेत्य परस्पर मिलकर उदय आविर्भाव होने से होती है। गुणों का यह समुदय (मिलकर उदय होना) तभी सम्भव होता है जब गुणों में प्रधान या गौणभाव आ जाता है। इसी को गुणों की विषमावस्था कहते हैं। वैषम्य गुणों में परस्पर उपमर्द्योपमर्दक भाव के बिना सम्भव नहीं। ऐसा सृष्टिकाल में होता है। पुरुष के सन्निधान से प्रकृति विक्षुब्ध हो उठती है। गुण विषमावस्था में होकर सक्रिय होने लगते हैं और महदादि की सृष्टि हो जाती है। गौडपाद ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि व्यक्त में महदादि भेदों का जो अव्यक्त कारण मूल-प्रकृति है उसमें दो प्रकार की प्रवृत्ति पाई जाती है—अलग-अलग तीनों गुणों के सजातीय प्रवाह के रूप में तथा तीनों के सम्मिलित रूप महत् के रूप में। इनमें पहली प्रवृत्ति शुद्ध तथा दूसरी संकीर्ण होती है। पहली प्रवृत्ति तीनों गुणों के सजातीय प्रवाह रूप उनकी साम्यावस्था है तो दूसरी सम्मिलित प्रवाह रूप वैषम्यावस्था। इस प्रकार 'त्रिगुणतः' (से) जहाँ मूल-प्रकृति की प्रलयावस्था की अव्यक्तदशा का निरूपण है, वहाँ 'समुदयात्' उसकी सृष्टि की अवस्था का निरूपण करता है। इस सम्बन्ध में गौडपाद ने दो उदाहरण दिये हैं—जैसे हरि के तीनों शिरों पर स्वतन्त्ररूप से प्रवाहित होने वाली गङ्गा की तीनों धारायें आगे चलकर एक ही स्रोत को पैदा करती हैं उसी प्रकार अव्यक्त गुणों के परस्पर के समुदय से महत् आदि व्यक्त की सृष्टि करते हैं। अथवा जैसे अनेक सूत परस्पर मिलकर पट को पैदा करते हैं उसी प्रकार अव्यक्त गुणों के परस्पर के समुदय से महत् आदि को पैदा करता है। समुदय पद का अर्थ सम्मिलित रूप से एक का उदय करना है।[1] वाचस्पति एवं माठर प्रभृति ने 'त्रिगुणतः' एवं 'समुदयात्' दोनों को सृष्टि पक्ष में व्याकृत किया है। अव्यक्त से व्यक्त जगत् की उत्पत्ति के दो कारण हैं—तीनों गुण तथा उनका उपमर्द्योपमर्दन रूप में समुदय। यही अव्यक्त की प्रवृत्ति

---

१. त्रिगुणतः त्रिगुणात् सत्त्वरजस्तमांसि गुणा यस्मिन् तत् त्रिगुणम्। तत्किं युक्तं भवति? सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रधानम् यथा गंगास्रोतांसि त्रीणि रुद्रमूर्धनि पतितानि एकं स्रोतो जनयन्ति एवं त्रिगुणमव्यक्तमेकं व्यक्तं जनयति। यथा वा तन्तवः समुदिताः पटं जनयन्ति एवमव्यक्तं गुणसमुदयान्महदादि जनयति इति त्रिगुणतः समुदयाच्च व्यक्तं जगत् प्रवर्तते। —गौडपाद भाष्य।

है। यहाँ 'त्रिगुणतः' और 'समुदयात्' पदों में प्रयुक्त तसिल् और पञ्चमी विभक्ति को हेतु में माना है जबकि गौडपाद के अनुसार ये अव्यक्त प्रकृति की प्रवृत्ति के दो प्रकार हैं।

इस पर यह शङ्का हो सकती है कि गुणों के अपने-अपने निश्चित स्वरूप हैं और यह सृष्टि नानारूप है ? इसकी उनसे उत्पत्ति किस प्रकार हो जाती है। इसके ही समाधानार्थ कहा है—परिणामतः सलिलवत् इत्यादि। इसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार मेघमुक्त जल का स्वाद यद्यपि एक ही होता है जो स्वाभाविक भी है तथापि पृथ्वी के विविध प्रकार के विकारों को पाकर वही जल नारियल, ताड़ी, बेल, कैंत तथा आम एवं आँवला प्रभृति फलों में पड़कर कहीं मधुर, कहीं खट्टा, कहीं नमकीन, कहीं कड़वा कहीं कषैला, तो कहीं तिक्त रसों में बदल जाता है, ठीक उसी प्रकार विभिन्न-वस्तुओं के आश्रयण से प्रकृति के गुण भी परिणाम-भेद से बदलते रहते हैं। इसी को बताने के लिए 'प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात्' कहा है। एक-एक गुण के भिन्न-भिन्न मात्राओं में मिश्रण से एक ही प्रधान से नानाप्रकार के कार्यों की उत्पत्ति हो जाती है ॥१६॥

अव्यक्त प्रकृति की सत्ता सिद्ध हो गई। किन्तु कुछ व्यक्ति जो प्रकृति में लयमात्र से ही अपने को कृतकृत्य मानकर अव्यक्त, महत्, अहंकार, इन्द्रिय अथवा स्थूल महाभूतों को ही आत्मा समझते हुए उन्हीं की उपासना करते हैं तथा मूल प्रकृति एवं उसके विकारों के अतिरिक्त किसी अन्य तत्त्व की सत्ता में विश्वास नहीं करते, उनकी इस मान्यता का खण्डन करते हुए अगली कारिका की अवतारणा करते हैं—

संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥१७॥

पुरुषः अव्यक्तादेर्व्यतिरिक्तः पुरुषः अस्ति विद्यते, कुतः ? संघातानाम् सम्भूयकारिणाम् परार्थत्वात् स्वेतरभोगापवर्गफलजनकत्वात्। त्रिगुणादेः सत्त्व-रजस्तमसाम् अविवेक्यादेश्च विपर्ययात् विरुद्धत्वात् निर्गुणत्वादिति यावत्। अधिष्ठानात् अधिष्ठातृत्वात्। भोक्तृभावात् भोक्तृभोग्यसद्भावात् साक्षित्वात् वा कैवल्यार्थं मुक्तिकृते, प्रवृत्तेः शिष्टानां प्रवृत्तिदर्शनाच्चेत्यर्थः।

(व्यक्त, अव्यक्त एवं उनके विकारों से सर्वथा भिन्न) पुरुष नामक तत्त्व की सत्ता भी (प्रमाण-सिद्ध) है। क्योंकि समूह दूसरे के लिए होता है,

तीनों गुणों का अभाव भी सम्भव है, सबका कोई आधार अवश्य होता है, जगत् में भोक्ता और भोग्य की स्थिति है तथा लोगों की कैवल्य के विषय में प्रवृत्ति भी देखी जाती हैं।

प्रकृति से भिन्न पुरुष की स्वतन्त्र सत्ता की सिद्धि के लिए यहाँ जिन पाँच युक्तियों का उपन्यास किया गया है उसमें पहली है—संघातपरार्थत्वात्। संघात दूसरे के लिए होता है। चूँकि व्यक्ताव्यक्त उभयविध प्रकृति संघात है अतः इसका भी प्रयोजन इसके बाहर इससे सर्वथा भिन्न कोई अन्य तत्त्व ही होना चाहिए। ऐसा तत्त्व जो है उसी को पुरुष कहते हैं। 'संहन्यते=मिश्रीभवन्ति अनेके विषयाः यस्मिन्स संघातः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार संघात पृथ्वीपर्यन्त निखिल वस्तु-समूह को कहते हैं। शैय्या आदि के समान ही उसका भी प्रयोजन उससे सर्वथा भिन्न ही कोई तत्त्व होना चाहिए। यह प्रयोजन सुख दुःख में से किसी एक का साक्षात्कार रूप भोग ही है। प्रकृति के जड़ होने से उसमें भक्ति-भोग-क्रिया सम्भव नहीं है। अतः वह तत्व चेतन ही हो सकता है स्थूल या जड़ नहीं। विल्सन ने जो 'संहतपरार्थत्वात्' पाठ माना है वह किसी भी टीका में उपलब्ध नहीं होता। सम्भवतः सांख्य-सूत्र[1] को देखकर ही उन्होंने यह पाठ विपर्यास किया है जिसमें छन्दोभंग भी होता है।

यदि यह कहें कि एक संघात दूसरे संघात के लिए है जैसे शयन, आसन आदि शरीर के लिए होते हैं जो स्वयं एक संघात हैं अतः एक संघात दूसरे की ही प्रतीति कराता है। अपने से सर्वथा भिन्न किसी आत्मा या पुरुष की नहीं। इसके लिये 'त्रिगुणादिविपर्यात्' कहा—तीनों गुण एवं अविवेकित्व आदि का विपर्यय अर्थात् अभाव भी होना ही चाहिए। लोक में जितनी वस्तुएँ हैं सभी तीनों गुण से युक्त हैं किन्तु त्रिगुण में तारतम्य भी है। कहीं कोई गुण अधिक है तो कहीं कोई कम। इनका यह न्यूनाधिक्य हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचने को बाध्य करता है कि ऐसा भी कोई तत्त्व सम्भव है जहाँ इनका नितान्त अभाव है। वही तत्त्व पुरुष है। साथ ही एक संघात का प्रयोजन यदि हम दूसरे संघात को मान लेंगे तो इस प्रकार उसका भी प्रयोजन अन्य संघात और उसका भी प्रयोजन कोई अन्य होना चाहिए जिससे अनवस्था-दोष आपतित होता है तथा कल्पना का गौरव होता है। अतः अनवस्था-दोष एवं कल्पना गौरव से बचने के लिए यही मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि त्रिगुणत्व, अविवेकिता, विषमता, सामान्यता, अचेतनता तथा प्रसवधर्मिता-ये सभी गुण संघात के हैं।

---

१. संहतपरार्थत्वात्। सांख्य सूत्र १। १४०

संघात का प्रयोजन उससे भिन्न है। अतः वह अवश्य ही त्रिगुणादि रहित होगा। जो ऐसा है, वही आत्मा या पुरुष है।

पुरुष की सत्ता की सिद्धि इससे भी होती है कि त्रिगुणात्मक निखिल प्रकृति का कोई न कोई अधिष्ठान आश्रय है जिसे कोई भिन्न तत्व ही होना चाहिए।[1] इसलिए कहा—'अधिष्ठानात्'। जो जो वस्तुएँ सुख दुःख मोहात्मक हैं उन सबका अधिष्ठाता उनसे भिन्न कोई दूसरा ही तत्व होता है। जैसे रथ है उसका चालक जो उसका अधिष्ठाता है, वह उससे भिन्न है। इसी प्रकार बुद्धि आदि सभी प्राकृत तत्व सुखःदुख मोहात्मक हैं इनका भी कोई न कोई अधिष्ठाता अवश्य है जो इनसे परे है अर्थात् त्रैगुण्य से सर्वथा भिन्न है और वह पुरुष ही है। यहाँ पुरुष का अधिष्ठातृभाव औपचारिक है अन्यथा उसमें भी कर्तृत्व सिद्ध हो जायगा। रथ का नियन्ता जिस प्रकार निष्क्रिय नही रह सकता उसी प्रकार पुरुष की अधिष्ठातृता भी निष्क्रिय रहने से नहीं हो सकती।[2]

लोक में सर्वत्र परिलक्षणीय भोक्तृभाव भी पुरुष की सत्ता का प्रमापक है।[3] अतएव कहा—भोक्तृभावात्—भोग्य और भोक्ता भाव भी इस बात को सिद्ध करता है कि भोक्ता भी है। अनुकूल वेदनीय सुख तथा प्रतिकूल वेदनीय दुःख दोनों ही भोग्य हैं। इनकी अनुभूति प्रत्येक व्यक्ति को होती है। इसमें अनुकूलनीय तथा प्रतिकूलनीय कौनसी वस्तु है। अर्थात् किसके अनुकूल होना सुख, एवं प्रतिकूल होना दुःख है? यह प्रश्न स्वभावतः उठता है। बुद्धि, अहंकार एवं मन आदि स्वयं सुखदुःखात्मक हैं। अतः अपने ही में अपना व्यापार नहीं चला सकते।[4] कृपाण की धार अपने को नहीं काटती, न ही अग्नि कभी अपने को जलाती है। प्रकृति स्वयं अपने अनुकूल या प्रतिकूल वेदना को जन्म नहीं दे सकती। अतः जो अनुकूल वेदनीय या प्रतिकूल वेदनीय है वही

---

१. अधिष्ठानाच्चेति। सा० सू० १। १४२

२. यथा पुरुषार्थः सिद्ध्यति तथा गुणा कार्यकारणभावेन व्यूहयन्तः इत्यतः तत्पारतन्त्र्याद् एतेषामधीष्ठितत्वमुपपद्यते पुरुषस्य चाधिष्ठातृत्वम्। युक्तिदीपिका।

३. भोक्तृभावात्। सांख्य सूत्र—१। १४३

४. स्वात्मनिवृत्तिविरोधात्।

पुरुष है। यद्यपि दुःख भोग रूप है तथा विवेक और अविवेक चित्त की वृत्तिरूप हैं तथापि पुरुष पर पड़ने वाला दुःख का प्रतिबिम्ब ही भोग है और इस प्रकार वस्तुतः दुःख भोग है नहीं फिर भी भोग के रूप में उसकी जो प्रतीति होती है उसका नाश ही पुरुषार्थ है।[१] अथवा इसी की दूसरी तरह से भी व्याख्या की जाती है। बुद्धि आदि भोग्य अर्थात् दृश्य हैं। बिना द्रष्टा के उनमें दृश्यत्व सम्भव नहीं। अतः दृश्य बुद्धि आदि से भिन्न उनका द्रष्टा पुरुष है जो अनुमेय है।[२]

पुरुष की सत्ता के साधक अन्य प्रमाण को भी उपस्थित करते हैं **कैवल्यार्थं प्रवृत्तेः**—शास्त्र, महर्षि एवं दिव्यज्ञानी व्यक्तियों की प्रवृत्ति कैवल्य अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति की ओर ही देखी जाती है। माठर प्रवृत्ति को प्रकृति से सम्बन्धित कर इसका अर्थ करते हैं कि प्रधान की व्यक्त रूप में प्रवृत्ति का प्रयोजन अर्थात् अन्तिम उद्देश्य पुरुष को अन्ततः मोक्ष प्रदान करना ही है। दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति को ही कैवल्य कहते हैं। बुद्धि आदि में यह सम्भव नहीं क्योंकि जो स्वयं सुखदुःखमोहात्मक है, वह उससे सर्वथा भिन्न किस प्रकार हो सकता है। अतः बुद्धि आदि से भिन्न आत्मा का अस्तित्व है यह प्रमाणित हो गया।

उक्त प्रकार से पुरुष के अस्तित्व की सिद्धि हो जाने पर इस संशय का उदय स्वभावतः होता है कि मणिरसनात्मक सूत्र के समान सभी शरीरों का अधिष्ठाता वह पुरुष एक ही है।[3] अथवा प्रति शरीर के भिन्न-भिन्न अधिष्ठाता होने से आत्माएँ अनेक हैं। इसी शंका का निराकरण करते हुए प्रति शरीर के अधिष्ठाता पुरुषों की अनेकता का उपपादन अगली कारिका में करते हैं—

जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च ।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥१८॥

पुरुषबहुत्वं पुरुषाणामनेकत्वं सिद्धम् एव, कुतः[3] जन्ममरणकरणानाम्

---

१. यद्यपि दुःखभोगरूपो बन्धो वृत्तिरूपौ विवेकाविवेकौ चित्तस्यैव, तथापि पुरुषे दुःखप्रतिबिम्ब एव इत्यवस्तुत्वेऽपि तद्धानं पुरुषार्थः ।
प्र० भा०, १ । ५८

२. द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः । योगसूत्र २ । २०

३. नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः ।
एकः स भिद्यते शक्त्या मायया न स्वभावतः ॥

जन्म उत्पत्तिः, मरणं निधनं, करणानि च इन्द्रियाणि तेषां प्रतिनियमात् प्रत्येकमेव व्यवस्थातः दर्शनात्। अयुगपत्प्रवृत्तेः एककालावच्छेदेन प्रवृत्तिः युगपत्प्रवृत्तिः तस्याः अभावो यत्र तस्मात्, प्रवृत्तिः वचनादानविहरणादिकाः क्रियाः तासां प्रतिशरीरं भेदात्। त्रैगुण्यविपर्ययाच्च त्रैगुण्येन सात्त्विक-राजस-तामस-भेदेन पुरुषस्य विपर्ययात् भेदात् इत्यर्थः।०

जन्म, मृत्यु तथा इन्द्रियों के प्रत्येक शरीर में स्वतन्त्र रूप से विद्यमान होने से, सबकी एक साथ कार्यों में प्रवृत्ति न होने के कारण तथा सत्त्व, रज तम — तीन गुणों के भेद से (पुरुषों में सात्त्विक, राजस तथा तामस आदि भेद होने से) यही सिद्ध होता है कि पुरुष एक ही नहीं अपितु अनेक हैं (जो प्रति शरीर के भिन्न-भिन्न रूप से अधिष्ठाता हैं।)

जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमात् — देव, मनुष्य या तिर्यक् आदि तत्तद् योनियों के अनुसार परस्पर विलक्षण, देह, इन्द्रिय अहंकार एवं बुद्धिजन्य सुख दुःखादि के अनुभव रूप वेदनाओं के साथ पुरुष के सम्बन्ध को ही जन्म कहते हैं।[1] यह पुरुष का परिणाम नहीं होता क्योंकि वह तो अपरिणामी है। इन्हीं उक्त देहादि के परित्याग को ही मरण कहते हैं, आत्मा के विनाश को नहीं। क्योंकि वह तो कूटस्थ होने से नित्य होता है। सांख्य-सूत्र 'जन्मादिव्यवस्थातः पुरुष बहुत्वम्' के भाष्य में विज्ञानभिक्षु ने स्पष्ट कर दिया है कि यहाँ पर जन्म-मरण का अर्थ उत्पत्ति और विनाश नहीं है। अपितु शरीर एवं इन्द्रियों के विलक्षण संघात से पुरुष का संयोग ही जन्म और वियोग ही मरण है जो क्रम से भोग और उसके अभाव के नियामक हैं।[2] परमार्थतः उत्पत्ति और विनाश तो प्रकृति के भी किसी तत्त्व का नहीं होता। सत्कार्यवाद के सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक कार्यवस्तु का उसके कारण से आविर्भाव और तिरोभाव ही हुआ करता है। करण त्रयोदश होते हैं — मन, बुद्धि और अहंकार—ये तीन अन्तःकरण कहलाते हैं। शेष दस में से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ आती हैं। इनकी करण संज्ञा इसलिए है कि ये ही ज्ञान-प्राप्ति के असाधारण

---

१. निकायविशिष्टाभिरपूर्वाभिर्देहेन्द्रियमनोऽहंकारबुद्धिवेदनाभिः पुरुषस्याभिसम्बन्धो जन्म। सा० त० कौ०।

२. जन्ममरणे चात्र नोत्पत्तिविनाशौ पुरुषनिष्ठत्वाभावात्। किन्त्वपूर्वदेहेन्द्रियादिसंघातविशेषेण संयोगश्च वियोगश्च भोगतदभावनियामकाविति। सां० सू० १। १४९ पर प्रवचन भाष्य।

कारण होते हैं। कोई भी ज्ञान इन्हीं के द्वारा प्राप्त होता है। प्रत्येक शरीर में इनकी व्यवस्था (प्रतिनियम) है। सभी शरीरों में एक ही पुरुष की अधिस्थिति मानने से यह व्यवस्था संगत नहीं प्रतीत होती। क्योंकि सभी शरीरों के अधिष्ठाता एक ही पुरुष को मानने से एक ही पुरुष के उत्पन्न होने पर सबकी उत्पत्ति, एक के मरने पर सबकी मृत्यु, एक के अन्धा होने पर सभी अन्धे तथा एक के उदासीन होने पर सभी को उदासीन हो जाना चाहिए। किन्तु ऐसा होता नहीं। अतः यही मानना युक्तियुक्त है कि प्रतिक्षेत्र के अधिष्ठाता भिन्न-भिन्न पुरुष हैं।

कहने का आशय यह है कि यदि सभी शरीरों या प्राणियों में एक ही पुरुष की अधिस्थिति (विद्यमानता) मानेंगे तो जितने शरीर हैं सब मिलाकर अंगी कहलायेंगे और प्रत्येक शरीर अंग। किन्तु अंग के भंग हो जाने से अंगी का न नाश होता है और न कहा ही जाता है! न ही अंगविशेष के आविर्भाव से अंगी की उत्पत्ति मानी जाती है। उदाहरणतः हाथपैर मात्र के कट जाने से अंगी शरीर का नाश नहीं कहा जाता तथा स्त्रियों के स्तन आदि अंगों के बाद में आविर्भाव होने पर अंगी शरीर की उत्पत्ति हुई, ऐसा व्यवहार नहीं होता। एक ही पुरुष को सबका अधिष्ठाता मानने पर ऐसा ही स्वीकार करना पड़ेगा जो साक्षात् अनुभव-विरुद्ध है। अनेक पुरुषों की सत्ता होने पर तो सब शरीर अपने में स्वतन्त्र होंगे। उनकी इन्द्रियाँ अलग होंगी तथा उनके जन्म एवं मृत्यु के अलग-अलग होने की व्यवस्था भी बन जायेगी। वेदान्त का दृष्टिकोण यह है कि शरीर आत्मा की उपाधि है। उपाधि के भिन्न-भिन्न होने से भी एक वस्तु में अनेकता की प्रतीति होती है। उदाहरणतः एक ही आकाश अनेक घट उपाधियों से अनेक प्रकार का प्रतीत होता है। इसीलिए कहा है कि उपाधियों में ही भेद-प्रभेद होता है उसमें नहीं जिसकी वे उपाधियाँ होती है।[1] सांख्य-सूत्रों में पूर्वपक्ष के रूप में उक्त मत का उपन्यास कर उसका उत्तर देते हुए कहा है कि यदि पुरुष एक ही होता तो 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, वह उत्पन्न हुआ तथा मरा' इत्यादि परस्पर विरोधी धर्मों की अनुभूति लोगों को एक साथ नहीं होती।[2] सुखी-दुःखी होना आदि को उपाधि का धर्म मानने पर भी उनका पुरुष के ऊपर आरोप इसलिए नहीं बनता कि यदि

---

१. उपाधिर्भिद्यते न तु तद्वान्। सां० सू० १। १५१

२. एवमेकत्वेन परिवर्तमानस्य न विरुद्धधर्माध्यासः। सां० सू० १। १५२

पुरुष एक ही है तो वह स्वयं उन परस्पर विरोधी धर्मों का अपने ही ऊपर आरोप किस प्रकार कर सकता है।[1] इसलिए यही मानना ठीक है कि पुरुष प्रतिशरीर भिन्न है। जयमंगला और वाचस्पति ने जन्म के स्थान पर ज्ञान पाठ माना है। माठर के अनुसार जन्म पद का अर्थ यहाँ जन्म की जाति ब्राह्मण आदि है। इस प्रकार यदि सभी पुरुष एक ही है तो एक ब्राह्मण के पैदा होने पर सबको ब्राह्मण ही उत्पन्न हो जाना चाहिए।

पुरुष की अनेकता की सिद्धि में दूसरी युक्ति देते हैं—अयुगपत्प्रवृत्तेश्च सभी प्राणियों की एक साथ प्रवृत्ति नहीं होती। इससे भी यही सिद्ध होता है कि पुरुष अनेक हैं। प्रवृत्ति प्रयत्न अर्थात् चेष्टा को कहते हैं। यद्यपि वह अन्तःकरण में होती है तथापि उपचारतः वह पुरुष की ही मानी जाती है। अथवा पुरुष के सन्निधान से ही वह सम्पन्न होती है। यदि एक ही पुरुष की अधिस्थिति में विश्वास किया जाये तो एक के उठने बैठने, खाने, पीने तथा चलने आदि पर सभी का उठना, बैठना, खाना, पीना, चलना आदि सम्पादित होना चाहिए, जो नहीं होता। श्रुति भी कहती है कि जब एक पुरुष भोग करता रहता है तो दूसरा उसका त्याग।[2] अतः पुरुष एक नहीं अनेक हैं यही मानना चाहिए। अनेक पुरुषों की सत्ता मानने पर तो उक्त दोष के लिए अवसर ही नहीं है। इसपर प्रश्न हो सकता है कि फिर वेदों में आत्मा की एकता का प्रतिपादन क्यों किया गया है।[3] माठर-वृत्ति में पूर्वपक्ष के रूप में अद्वैत वेदान्त के पक्ष का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि मणि-सूत्र के समान एक ही पुरुष सभी शरीरों में अनुस्यूत है। जिस प्रकार माला में जितनी मणियां गुही होती हैं उन सबमें एक ही सूत्र पिरोया रहता है उसी प्रकार मणि के समान अनेक शरीरों में एक ही आत्मा सूत्र रूप में विद्यमान है। उसे ही परमात्मा भी कहते हैं। अथवा नाना प्रकार के नदी, कूप तडाग आदि में प्रतिबिम्बित चन्द्रमण्डल के समान एक ही पुरुष सभी शरीरों में व्याप्त है;

---

१. अन्यधर्मत्वेऽपि नारोपात् तत्सिद्धिरेकत्वात्। सां० सू० १।१५३

२. अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते।
जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥ श्वेता० उप० ४।५

३-क. एको देवः सर्वभूतेषु गूढः॥
ख. एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।
ग. एष त आत्मा सर्वान्तरः। बृहदारण्यक उपनिषद्। ३।५।१

न कि प्रति शरीर पुरुष भिन्न है। इसी प्रकार षिमानन्द ने सांख्य-तत्त्व-विवेचन में कहा है कि आकृति, गर्भाशय, भावसंगति तथा शरीर के प्रतिव्यक्ति अलग-अलग होने से कपिल, आसुरि, पंचशिख तथा पतञ्जलि प्रभृति आचार्य पुरुष की अनेकता का निरूपण करते हैं। जबकि हरिहर, हिरण्यगर्भ एवं व्यास आदि वेदवादी आचार्य सभी व्यक्तियों में एक ही आत्मा के होने का प्रतिपादन करते हैं। उनका कहना है कि प्राणिमात्र में एक आत्मा उसी प्रकार व्यवस्थित है जिस प्रकार एक ही चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब, अनेक जलाशयों में अनेक दिखाई देता है।[1] श्रुतियाँ भी यही कहती हैं।

किन्तु सांख्य-शास्त्र का कहना है कि पुरुष की अनेकता के सिद्धान्त का श्रुतियों में प्रतिपादित एकात्मवाद से कोई विरोध नहीं है। क्योंकि श्रुतियों में आत्मा की एकता का प्रतिपादन जाति की दृष्टि से हुआ है।[2] जिस प्रकार सभी प्रकार के वृक्षों के लिए जातिपरक एक ही शब्द वृक्ष का प्रयोग होता है उसी प्रकार अनन्त पुरुषों में पुरुषत्व तो एक ही है। योगसूत्र (२।२२) की तत्त्व-वैशारदी व्याख्या में वाचस्पति मिश्र ने सांख्य-पुरुष के बहुत्ववाद के विषय में श्रुतियों के एकात्मवाद का विवेचन करते हुए कहा है कि आत्मा की एकता की प्रतिपादक श्रुतियों का विरोध भी श्रुतियों में ही मिलता है। तैत्तिरीय आरण्यक में एक पुरुष के द्वारा प्रकृति के भोग तथा दूसरे के द्वारा उससे उपरति का निरूपण हुआ है।[3]

पुरुषों में परस्पर भेद होने की साधक एक युक्ति तीनों गुणों के न्यूनाधिक्य भाव की सत्ता भी है। अतएव कहा—'त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव' – त्रयो गुणा एव त्रैगुण्यं तस्य विपर्ययो न्यूनाधिक्यरूपमन्यथात्वं तस्मात्—तीनों गुणों को समवेत रूप से त्रैगुण्य कहते हैं, समानुपात में न रहना ही उनका विपर्यय अर्थात् अन्यथात्व है। हम देखते हैं कि लोक में अनेक प्रकार के लोग हैं। किसी में सत्त्व की बहुलता है जैसे ऊर्ध्वरेता ऋषि, तो किसी में रजोगुण

---

१. एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्।।ब्रह्मबिन्दूपनिषद् १।२

२. नाद्वैतश्रुतिविरोधो जातिपरत्वात्। सां० सू० १।१५४

३. अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।'
तै० आ० ६।१०।

ही अधिक मात्रा में है जैसे साधारण मनुष्य। पशु-पक्षियों में तमोगुण का ही बाहुल्य होता है। इसलिए यदि सबका अधिष्ठाता एक ही पुरुष होता तो प्राणियों में इस प्रकार तीनों गुणों का वैषम्य नहीं रहता। पुरुषों को परस्पर भिन्न मानने पर उनकी प्रकृति के अनुसार उनमें गुणों का न्यूनाधिक्य स्वाभाविक हो जाता है। कारिका के अन्त में प्रयुक्त अवधारणार्थक 'एव' का अन्वय सिद्ध पद के साथ करके 'पुरुषबहुत्वं सिद्धमेव' पुरुषों की अनेकता सिद्ध ही है— यह अर्थ होता है। अतः प्रतिशरीर के अधिष्ठाता पुरुष अनेक हैं. यही मानना सांख्य-शास्त्र को अभीष्ट है ॥१८॥

प्रतिशरीर के अधिष्ठाता पुरुष की अनेकता की सिद्धि करके विवेक-ज्ञान की उपयोगिता से पुरुष के साक्षित्वप्रभृति धर्मों का प्रवचन अगली कारिका में करते हैं—

तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य ।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥१९॥

तस्मात् त्रिगुणादेः, विपर्यासात् विपरीतात् अत्रिगुणत्वात् इति हेतोः, अस्य यथोक्तरीत्या सिद्धस्य, पुरुषस्य आत्मनः, साक्षित्वम्, कैवल्यम् आत्यन्तिक-दुःखशून्यत्वम्, माध्यस्थ्यम् उपकारापकारशक्तिरहितत्वम्; द्रष्टृत्वम् स्वप्रकृति-शीलज्ञातृत्वम्ः, अकर्तृभावः अकर्तृत्वं च, सिद्धं भवति इति शेषः।

त्रैगुण्यादि (अविवेकिता, विषयत्व, सामान्यत्व, अचेतनता तथा प्रसव-कारिता) से सर्वथा विपरीत होने से ही इस पुरुष में प्रकृति के कर्तृत्व के प्रति साक्षीपन, त्रिविध दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति रूप कैवल्य, उपकार एवं अपकार की शक्ति से रहित होने की स्थिति मध्यस्थता, अपने निर्लिप्तरूप के ज्ञानस्वरूप द्रष्टृत्व तथा कर्तृत्व के अभावात्मक अकर्तृत्वप्रभृति धर्मों की सिद्धि हो जाती है।

तस्माच्च विपर्यासात्—तस्माच्च में प्रयुक्त 'च' समुच्चयार्थक अव्यय है जो इस बात का सूचक है कि पुरुष में अनेकता मात्र ही नहीं है, अपितु उसमें कई अन्य धर्म भी उपचरित होते हैं जो यद्यपि पुरुष में वस्तुतः होते नहीं पर उसके कहे जाते हैं।

कारिकाकार ने 'विपर्यासादस्मात्' न करके 'तस्माच्चविपर्यासात्' में अस्मात् के स्थान पर तस्मात् सर्वनाम का जो प्रयोग किया है उसका विशेष तात्पर्य

है। अस्मात् पाठ रखने पर इदम् शब्द का प्रयोग होने से इसके ठीक पूर्व में पठित अठारहवीं कारिका का 'जन्ममरणकरणानाम्' से इस कारिका में उक्त त्रैगुण्यविपर्ययात् का सम्बन्ध हो जाता है।[1] अतः अभीष्ट अर्थ की उपपत्ति नहीं हो पाती। तस्मात् पद रखकर तद् पद के प्रयोग के बलपर बहुत पहले पढ़ी हुई ग्यारहवीं कारिका 'त्रिगुणमविवेकि' इत्यादि से इसका सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं। अतएव तस्मात् का ही उपादान किया है जिसका अर्थ यह है कि वह पुरुष व्यक्ताव्यक्त उभयविध प्रकृति के त्रिगुण आदि धर्मों से सर्वथा विपरीत अर्थात् सुखदुःखमोहात्मक तीनों गुणों से रहित (निर्गुण), विवेकी, अविषय (किसी के ज्ञान का विषय नहीं अपितु स्वयं ज्ञाता), असामान्य, चेतन, तथा अप्रसवधर्मी है।

चेतनता और अविषयत्व धर्मों के कारण ही उसमें साक्षित्व और द्रष्टृत्व धर्म बनते हैं। क्योंकि चेतन ही द्रष्टा हो सकता है अचेतन नहीं।[2] तथा जिसने विषय को देख लिया है वही साक्षी कहला सकता है। अथवा जिसे विषय दिखाया जाय वही साक्षी है। जिस प्रकार लोक में वादी-प्रतिवादी अपने विवादास्पद विषय साक्षी को दिखाते हैं उसी प्रकार बुद्धिरूप में परिणत प्रकृति भी अपने द्वारा गृहीत विषय अपने में प्रतिबिम्बित पुरुष को दिखाने की भावना से समर्पित कर देती है। इसलिए पुरुष उनका साक्षी होता है महत् आदि प्राकृतिक तत्त्व जो चेतन नहीं हैं अपितु किसी चेतन के बोध के विषय हैं अन्य विषय का साक्षात्कार करने में समर्थ नहीं होते। इस प्रकार चेतन होने तथा विषय न होने से ही पुरुष बुद्धि आदि विषयों का साक्षी होता है।[3] अतएव द्रष्टा भी कहा जाता है।

त्रैगुण्य के अभाव से ही पुरुष में कैवल्य की सिद्धि होती है। उभयविध-आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक तीनों प्रकार के दुःखों की आत्यन्तिकरूप से निवृत्ति ही कैवल्य है। एक बार निवृत्त दुःख के पुनः उत्पन्न होने की सम्भावना का सर्वथा निरोध दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति है। इसी को कैवल्य

१. इदमस्तु सन्निकृष्टे समीपतरवर्तिन्येतदो रूपम्।
अदसस्तु विप्रकृष्टे तदिति परोक्षे विजानीयात्॥

२. द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः। योगसूत्र २।२०

३. साक्षात्सम्बन्धात्साक्षित्वम। सां० सू० १।१६१

कहते हैं। यह कैवल्य वस्तुतः पुरुष को स्वभावतः ही प्राप्त है जिसका निरूपण आगे ६२वीं कारिका 'तस्मान्न बध्यते' में विधिवत् करेंगे।

त्रैगुण्य के अभाव से ही पुरुष में मध्यस्थता धर्म भी उपचरित होता है। मध्यस्थ वही होता है जो परस्पर विरोधी पक्षों में से किसी की ओर न होकर अपने को तटस्थ कर दे। यहाँ मध्यस्थ पद का प्रयोग तटस्थ या उदासीन भाव की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है। अन्यत्र भी इसका प्रयोग इस अर्थ में हुआ है।[1] शंकरानन्द ने मध्यस्थ पद का अर्थ वादी-प्रतिवादी दोनों के प्रति सम अथवा सर्वत्र उपेक्षाभाव से युक्त उदासीन किया है। इस प्रकार उदासीन के लिए भी मध्यस्थ पद का प्रयोग पाया जाता है। सुख और दुःख ही परस्पर विरोधी पक्ष हैं। उन दोनों से ही असम्पृक्त अर्थात् उनके प्रति उदासीन होने से ही पुरुष मध्यस्थ कहा गया है। यह इसलिए है कि उसमें तीनों गुणों का अभाव है। अन्यथा गुणों से युक्त रहने पर वह उदासीन नहीं रह सकता। सुख से तृप्त सुखी तथा दुःख से संत्रस्त दुःखी कभी मध्यस्थ नहीं हो सकता। दोनों से रहित ही उपयुक्त मध्यस्थ हो सकता है। उसी को उदासीन भी कहते हैं।[2] त्रिगुणमयी प्रकृति ही दृश्यरूप में परिणत हो सकती है, अतः वह दृश्य है उसका द्रष्टा उससे सर्वथा भिन्न तत्त्व पुरुष ही है। अथवा ज्ञान का आधार होना ही द्रष्टापन है। जो ज्ञाता है वही द्रष्टा भी होता है। इसके विपरीत जो मात्र दृश्य है वह ज्ञान का आधार नहीं हो सकता। अतः प्रकृति ही स्वयं दृश्य और द्रष्टा दोनों नहीं हो सकती। पुरुष के द्रष्टा होने की सिद्धि बुद्धि से उसके युक्त होने से ही होती है। अतः आरोपित ही है वास्तविक नहीं।

यह पुरुष अकर्ता होता है। इसके अकर्तृत्वभाव की सिद्धि में दो हेतु हैं—पुरुष विवेकी है तथा उसमें प्रसवधर्म का सर्वथा अभाव है। अविवेकिता से ही सम्भूयकारिता के रूप में कर्तृत्व आता है तथा जो प्रसवधर्मी अर्थात् अन्य तत्त्वों को उत्पन्न करने की क्षमता रखता है वही कर्ता हो सकता है। ये दोनों अविवेकिता (सम्भूयकारिता) और प्रसवधर्मिता गुणों के ही धर्म हैं।

---

१. श्रुत्वा युद्धोद्यमं रामः कुरूणां सह पाण्डवैः।
तीर्थाभिषेकव्याजेन मध्यस्थः प्रययौ किल। श्रीमद्भागवत् १०।७८।१७

२. पश्यति शृणोति सर्वं करोति स्थितिं प्रसङ्गं च।
नापिस्वतो न परतो नोभयतश्चाप्युदासीनः॥ जयमंगला टीका में उद्धृत

अत: जहाँ गुण नहीं हैं उस पुरुष-तत्त्व में इन दोनों धर्मों का भी अभाव ही रहेगा। इसलिए वह कर्ता नहीं अपितु अकर्ता ही सिद्ध होता है। इस प्रकार साक्षित्व, कैवल्य, माध्यस्थ्य तथा द्रष्टृत्व, अकर्ता पुरुष के ही धर्म हैं। यहाँ शंका यह होती है कि यदि पुरुष कर्ता नहीं है तो वह भोक्ता कैसे हो सकता है? जो उसके अस्तित्व का प्रमाण है—पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात्। भोग तो स्वयं के किये हुए कर्मों के फल का ही होता है। इसका समाधान जयमङ्गला में किया गया है कि जिसप्रकार बालक अग्नि, और वृक्ष अपने द्वारा बिना सम्पादित ही फल का उपभोग करते हैं उसी प्रकार पुरुष भी स्वयं न किये हुए विषयों का फल भोगता है।।१९।।[1]

पुरुष को अकर्ता तथा बुद्धि आदि को अचेतन कहना प्रत्यक्ष-विरुद्ध होने से वदतो व्याघात प्रतीत होता है। 'मैं इसे जानता हूँ', मैं यह दान करने जा रहा हूँ" इत्यादि व्यवहारों में द्रष्टृत्व और कर्तृत्व एक ही आश्रय में सम्पन्न होते प्रतीत हो रहे हैं। 'कर्त्तव्य-पथ का प्रमाण से निर्धारण कर 'मैं अमुक कार्य सम्पादित कर रहा हूँ' ऐसा प्रयोग हम नित्य करते हैं, जहाँ कर्तृत्व और चैतन्य का सामानाधिकरण्य (एक ही आधार में व्यवस्थित होना) अनुभव सिद्ध है। अतः चेतन पुरुष में कर्तृत्व का अभाव तथा जिसमें कर्तृत्व है उस प्रकृति को जड़ मानना परस्पर विरुद्ध प्रतीत होता है। इसके समाधानार्थ अगली कारिका का अवतरण करना आवश्यक प्रतीत हुआ।

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।
गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्त्तेव भवत्युदासीनः।। २०।।

यत: चैतन्यकर्तृत्वे भिन्नाधिकरणे युक्तितः सिद्धे तस्मात् कारणात्, तत्संयोगात् तस्य चेतनस्य पुरुषस्य, संयोगात् सन्निधानात्, लिङ्गं बुद्ध्यादिकम्, अचेतनम् चैतन्यरहितं जडमपि, चेतनावत् चेतनम् इव प्रतिभाति इति शेषः। तथा गुणकर्तृत्वेऽपि बुद्ध्यादिरूपेण परिणतानां गुणानां कर्तृत्वेऽपि तथा बुद्ध्युपरागात् तत्प्रतिबिम्बतत्वात् उदासीनोऽपि पुरुषः कर्त्ता इव भवति।

(चूंकि चैतन्य एवं कर्तृत्व के आधार भिन्न-भिन्न हैं यह बात युक्ति से सिद्ध हो गई।) अतः पुरुष के संयोग से ही लिंग अर्थात् मूल-प्रकृति के साधक

---

१. बालहुताशनतरवः स्वयमकृतानां यथाहि भोक्तारः।
पुरुषोऽपि विषयफलानां स्वयमकृतानां तथैव भोक्ता।। "

हेतु (बुद्धि आदि) अचेतन (तत्त्व) भी चेतन की तरह प्रतीत होते हैं। तथा कर्तृत्व के (बुद्धि आदि रूप में परिणत सत्व, रज, तम) गुणों में ही निहित रहने पर भी (उनके सन्निधानवश) उदासीन ही पुरुष कर्त्ता की तरह (आश्रय) प्रतीत होता है।

तस्मात् – के पूर्व 'यतः' का अध्याहार करने पर ही कारिका का अर्थ ठीक बैठता है। चूंकि यतः चैतन्य एवं कर्तृत्व के आश्रय भिन्न-भिन्न हैं, ऐसा पूर्व कारिकाओं में प्रतिपादित युक्तियों से सिद्ध हो चुका है। तस्मात् इसीलिए इनके एक आधार होने की प्रतीति को भ्रान्तिमूलक ही समझना चाहिए यथार्थ नहीं।

त्रिगुण तथा परिणामी होने से बुद्धि आदि में ही कर्तृत्व है तथा निर्गुण एवं अपरिणामी होने से पुरुष में कर्तृत्व नहीं अपितु द्रष्टृत्व है। अतः कर्तृत्व और द्रष्टृत्व इन दोनों के आश्रय के एक होने की प्रतीति भ्रान्त अर्थात् अविवेकमूलक नहीं तो और क्या है ?

यह भ्रान्ति क्यों होती है ? इसके रहस्य का उद्‌घाटन करते हुए कहते हैं—'तत्संयोगात्' कर्तृत्व एवं द्रष्टृत्व के सामानाधिकरण्य (एक आश्रय में होने के भाव) की भ्रांति का बीज बुद्धि के साथ चेतन पुरुष का सन्निधान है। इस सन्निधान के कारण ही महत् से लेकर स्थूलभूतपर्यन्त लिंगभूत सभी तत्त्व जो वस्तुतः अचेतन हैं, उसी प्रकार चेतन प्रतीत होने लगते हैं जिस प्रकार अयस्कान्तमणि (चुम्बक) के सम्पर्क से लोहे का टुकड़ा चंचल-सा हो उठता है।[1] जयमङ्गलाकार ने चेतन पुरुष के सन्निधान से जड़प्रकृति में चैतन्य के आधान का दृष्टान्त अग्नि और लोहे का दिया है। माठर ने घड़े का उदाहरण देकर समझाते हुए कहा है कि जिस प्रकार घड़ा स्वयं न गर्म होता न ठण्डा, पर वही ठण्डे जल के स्पर्श से ठण्डा और अग्नि के स्पर्श से गर्म हो जाता है उसी प्रकार चेतन पुरुष के सन्निधान से ही प्रकृति भी सचेतन लगने लगती है। विज्ञान भिक्षु ने सांख्य-सूत्र 'उपरागात् कर्तृत्वम्' के अपने प्रवचनभाष्य में इसी तथ्य को एक-दूसरे प्रकार से उपस्थित किया है। उनका कहना है कि जिस प्रकार संयोग से आग और लोहे में एक-दूसरे के धर्म आ जाते हैं; अथवा

---

१. जडाहं तस्य सान्निध्यात् प्रभवामि सचेतना।
अयस्कान्तस्य सान्निध्यादयसश्चेतना यथा॥ देवीभागवत।

जिस प्रकार जल और सूर्य में संयोग से परस्पर के धर्म शीतलता और उष्णता का आरोप हो जाता है उसी प्रकार बुद्धि और पुरुष के चैतन्य और कर्त्तृत्व-भाव हैं जो उनकी उपाधियों के कारण प्रतीत होते हैं, वस्तुतः होते नहीं।[१] वस्तुतः ये चेतन हो नहीं जाते। तथा सुख-दुःख से परे उदासीन पुरुष भी बुद्धि में उपरक्त होने के कारण अर्थात् उसमें प्रतिबिम्बित होने से बुद्ध्याकाररूप में परिणत सत्त्व आदि गुणों के धर्म कर्तृत्व का भागी हो जाता है। कहने का आशय यह है कि यद्यपि कर्तृत्व बुद्धिरूप में परिणत सत्त्व, रज तथा तम गुणों में ही है किन्तु बुद्धि में उपरक्तिरूप सन्निधि से ऐसा प्रतीत होता है कि कर्तृत्व पुरुष अर्थात् चेतन में ही है।

सांख्य-सूत्र भी इसी बात की पुष्टि करता है कि पुरुष में कर्तृत्व की जो प्रतीति हो रही है वह बुद्धि के उपराग से ही होती है। और बुद्धि में जो चेतनता की प्रतीति है, वह पुरुष के सन्निधान के कारण ही।[२] जयमङ्गला में पुरुष के कर्त्ता होने का निरूपण करते हुए कहा है कि विपरीत दर्शन अर्थात् संयोग के कारण प्रकृति के तमोगुण से अभिभूत होकर ही पुरुष समझने लग जाता है कि गुणों का कर्त्ता मैं ही हूँ। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि वह एक तिनके को टेढ़ा तक नहीं कर सकता।[३]

सांख्य-सिद्धांत के अनुसार पुरुष कर्ता नहीं है। उसमें कर्त्तृत्व की प्रतीति भ्रान्ति है। इस भ्रान्ति का कारण प्रकृति और पुरुष का संयोग है। संयोग एक सम्बन्ध है वह दो ऐसे पदार्थों में रहता है जो अयुतसिद्ध न हो अर्थात् जिनका अधिकरण एक न हो। सामीप्य, आधाराधेय, सन्निकर्ष आदि भेद से वह संयोग (सम्बन्ध) भी कई प्रकार का होता है। प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध (संयोग) का निरूपण यहाँ विशेषरूप से किया गया है। योग-दर्शन में कहा है कि अपनी एवं स्वामी के शक्तियों के स्वरूप की उपलब्धि ही संयोग का लक्षण है।[४] अभिप्राय यह है कि दृश्य का प्रयोजन द्रष्टा होता है।

---

१. यथाग्न्ययसोः परस्परं संयोगविशेषात्परस्परधर्मव्यवहार औपाधिको यथा वा जलसूर्ययोः संयोगात् परस्परधर्मारोपस्तथैव बुद्धिपुरुषयोरिति भावः।
सां० प्र० भा०, सां० सू० १।१६४

२. उपरागात् कर्तृत्वं चित्सन्निधानात्। सां० सू० १।१६४।

३. प्रवर्तमानान्प्रकृतेरिमान्गुणांस्तमोभिभूतो विपरीतदर्शनः।
अहं करोमीत्यबुधोऽभिमन्यते तृणस्य कुब्जीकरणेऽप्यनीश्वरः॥

४. स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिः संयोगः॥ योगसूत्र २।२३

यहाँ दृश्य प्रकृति है। उससे होनेवाले भोग एवं अपवर्ग-लक्षण-उपकार का भागी पुरुष ही स्वामी है और स्व अर्थात् प्रकृति दृश्य है। इन दोनों का स्वस्वामिभाव, भोग्यभोक्तृभाव अथवा दृश्यद्रष्टृभाव सम्बन्ध ही संयोग है। भोगापवर्ग का हेतु प्रकृति और पुरुष का यह संयोग घट और पट के संयोग के समान नहीं होता अपितु योग्यतानुरूप होता है। चूँकि प्रकृति दृश्य एवं जड़ है अतः उसमें भोग्य होने की योग्यता है और पुरुष चेतन है अतः उसमें भोक्ता होने की योग्यता है। इस प्रकार तृण एवं अग्नि के समान परस्पर संयुक्त होने की योग्यता दोनों में है। यह योग्यता ही संयोग पद का तात्पर्य है। योग्यता-स्वरूप प्रकृति एवं पुरुष का यह संयोग अनादि है जो विपर्ययज्ञान अर्थात् अज्ञान की वासना से उत्पन्न हुआ है। वासना संस्कार को कहते हैं। आम और कटहल के बीजों में भौतिक दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। दोनों पञ्च-महाभूतों के स्थूल परमाणुओं के संघात हैं। किन्तु आम के बीज के बोने पर आम का पौधा ही क्यों निकलता है? कटहल का क्यों नहीं? इसीलिए कि आम के बीज में वृक्ष से बीज एवं बीज से वृक्ष की परम्परा से आम के ही संस्कार पड़े हैं कटहल के नहीं। अतएव संस्कार ही अगली प्रक्रिया में काम करते हैं। आम के बीज से आम के वृक्ष के पैदा होने का कारण वे संस्कार ही हैं। जो कब आरम्भ हुए कहा नहीं जा सकता। न ही यह कहा जा सकता है कि पहले वृक्ष हुआ कि बीज। परम्परा की इसी कारणता को भारतीय दर्शन में अनादि पद से अभिहित किया गया है।

विपर्यय-ज्ञान अर्थात् अज्ञान की वासना से उत्पन्न योग्यता रूप वह संयोग अनादि होते हुए भी अनन्त नहीं बल्कि सान्त है। अपने निमित्त विप-र्ययज्ञान की वासना के नष्ट हो जाने पर इसका भी अवसान हो जाता है। वासना की निवृत्ति एक मात्र सम्यक् दर्शन से ही सम्भव है अन्यथा नहीं। क्योंकि सम्यग्ज्ञान ही अज्ञान या विपर्ययज्ञान का प्रतिद्वन्द्वी है। अतएव भार-तीय सभी दर्शनों में सम्यक् दर्शन अर्थात् विवेक-ख्याति को बहुत ही अधिक महत्त्व दिया गया है।

कारिका में प्रयुक्त लिंग पद महत् से लेकर सूक्ष्मभूतपर्यन्त व्यक्त प्रकृति का बोधक है। तथा 'चेतनावदिव' और 'कर्तेव' पदों के साथ प्रयुक्त 'इव' पद का भी अपना विशेष अर्थ है। बुद्धि एवं पुरुष की एकात्मकता की प्रतीति परमार्थतः नहीं अपितु अविद्याकृत है। इसी के द्योतनार्थ उभयत्र 'इव' का प्रयोग हुआ है। अनात्मा प्रकृति में आत्मा पुरुष का आरोप ही वह अविद्या

है। इससे ही अस्मिता का प्रादुर्भाव होता है, जिसके कारण पुरुष सुखदुःख की अनुभूति का आश्रय बन जाता है। अतः सुखदुःख विशिष्ट अनात्मा प्रकृति में आत्मा पुरुष का आरोप ही अस्मिता है।[1] यह सब प्रकृति एवं पुरुष के योग्यतारूपी संयोग से ही सम्पन्न होते हैं।

पूर्वकारिका में प्रकृति एवं पुरुष के योग्यता रूपी संयोग को ही सृष्टि का कारण कहा है। किन्तु परस्पर भिन्न पदार्थों का यह संयोग बिना किसी अपेक्षा के कैसे सम्भव है? उनमें परस्पर अपेक्षा होना तब तक सम्भव नहीं जबतक कि उनमें उपकार्योपकारकभाव नहीं। अतः इनके परस्पर की अपेक्षा का हेतु क्या है? तथा इनमें से कौन उपकारक एवं कौन उपकार्य है? इत्यादि बातों की स्पष्टता के लिए अग्रिम कारिका का अवतारण करते हैं—

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥२१॥

उभयोः पुरुषस्य प्रधानस्य च यः संयोगः मेलनं स दर्शनार्थं स्वस्वरूपप्रकटनार्थं, कैवल्यार्थं आत्यन्तिकरूपेण दुःखत्रयनिवृत्त्यर्थम्, पङ्ग्वन्धवत् लुञ्जनेत्रहीनवत् अस्ति इति शेषः। तत्कृतः उभयोः संयोगकृतः, सर्गः महदादिलक्षणा सृष्टिः।

प्रकृति तथा पुरुष के (योग्यता लक्षण) उस सम्बन्ध के प्रयोजन हैं— दर्शन एवं कैवल्य। (प्रकृति अपने को पुरुष को दिखाना चाहती है तथा पुरुष को भी कैवल्य की प्राप्ति करना है।) अतः लंगड़े और अन्धे के मेल की तरह इन दोनों में संयोग होता है। और उसी संयोग से (निखिल जगत्) की सृष्टि हुई है।

'प्रधानस्य' में 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' पाणिनि-सूत्र के अनुसार कर्म में षष्ठी विभक्ति हुई है जिसकी क्रिया 'दर्शनार्थं' में प्रयुक्त दृश् तथा कर्ता पुरुष है। तात्पर्य यह है कि पुरुष प्रकृति को देखे यही उसके संयोग का प्रयोजन है। 'पुरुषेण प्रधानस्य प्रकृत्या यद्दर्शनं स एव अर्थः—प्रयोजनं यस्य स संयोगः, इससे प्रकृति के भोग्या होने की बात का प्रदर्शन हुआ है। बिना भोक्ता के भोग्य की सत्ता नहीं। अतः प्रकृति को भोक्ता की अपेक्षा होना उचित ही है। आशय यह है कि सुखदुःख का अनुभव ही भोग है। प्रकृति सुखदुःखमोहा-

---

१. दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता। योगसूत्र २।६

त्मिका है। वह स्वयं ही सुखदु:खादि का अनुभव नहीं कर सकती। क्योंकि अपने में ही अपनी क्रिया कभी नहीं होती। तथा उसके जड़ होने से अपने अनुभव के लिए उसे चेतन की अपेक्षा होती है।[1] भोग तो पुरुष में ही सम्भव है। अतः प्रकृति को उसकी अपेक्षा होती है। यही पुरुष के द्वारा उसका दर्शन है।

प्रकृति और पुरुष के संयोग का उक्त प्रयोजन प्रकृति की योग्यता एवं अपेक्षा (आवश्यकता) को लेकर है। पुरुष को भी इस संयोग की अपेक्षा है। इस आशय को प्रदर्शित करने के लिए कारिका में 'कैवल्यार्थम्' का पाठ हुआ है। इसका सम्बन्ध 'पुरुषस्य' से है। प्रधान से संयुक्त पुरुष तद्गत दुःखत्रय को अपना समझने लगता है और जब उससे पीड़ित होता है तो उसके ऐका-न्तिक एवं आत्यन्तिक अभाव की प्रार्थना करता है। दुःखत्रय की इस आत्य-न्तिक निवृत्ति को ही कैवल्य कहते हैं। यह कैवल्य सत्त्व अर्थात् प्रकृति तथा पुरुष दोनों की अन्यताख्याति (भेदविवेक) से ही हो सकता है। सत्त्वपुरुष की यह अन्यताख्याति प्रधान के योग के बिना नहीं हो सकती। अतः पुरुष कैवल्य के लिए ही प्रधान अर्थात् प्रकृति की अपेक्षा करता है। संयोग की परम्परा अनादि है। अतः भोग के लिए प्रकृति से संयुक्त पुरुष कैवल्य के लिए पुनः उससे संयुक्त होता है। यही पुरुष को प्रकृति की अपेक्षा है।

कारिका के क्रम को भंग कर प्रकृति के दर्शन एवं पुरुष के कैवल्यपरक अर्थ वाचस्पति मिश्र का है। गौडपाद प्रभृति अन्य टीकाकार इसे उसी क्रम से पुरुष के दर्शन एवं प्रकृति के मोक्षपरक ही मानते हैं। सांख्य-सूत्र की व्याख्या में विज्ञान भिक्षु ने भी कैवल्य को प्रकृति से ही सम्बन्धित माना है।[2] इस व्याख्या का आधार सांख्य की ही ६२वीं कारिका है जहां स्पष्टतया यह कहा गया है कि वस्तुतः पुरुष न बंधता है और न मुक्त होता है अपितु आश्रय-भेद से प्रकृति ही बंधती है और मुक्त होती है।[3]

इस प्रकार प्रधान एवं पुरुष के संयोग से ही भोग एवं कैवल्य दोनों की सिद्धि होती है। भोगार्थ संयोग तो अनादि है। दुःखत्रय से प्रपीड़ित होकर

---

१. चिदवसानो भोगः। सां० सूत्र १।१०४
२. विमुक्तमोक्षार्थं स्वार्थं वा। सां० सू० २।१
३. संसरति बध्यते मुच्यते नानाश्रया प्रकृतिः। सां० का० ६२।

उससे छुटकारा पाने की इच्छा से पुरुष को जो प्रधान की अपेक्षा होती है वह उसके अपने कैवल्य के लिए है। पुरुष अपने में अनुभूयमान दुःखत्रय से बचना चाहता है और उसके परिहार के साधन की कामना करता है। दुःखत्रय का अपघात या निवारण प्रकृति-पुरुष के विवेक के अधीन है। प्रकृति के यथार्थ बोध के बिना पुरुष उसके भेदों को अपने में समझने लग जाता है। अतः दुःखत्रय के निवारण के लिए पुरुष अपेक्षणीय ज्ञान के साधन के रूप में प्रकृति की अपेक्षा करता है।

इन दोनों के संयोग का अवान्तर फल भी है, महत् से लेकर स्थूलभूतपर्यन्त की सृष्टि। महत्. आदि के बिना केवल संयोग ही भोग या कैवल्य के लिए पर्याप्त नहीं है। अतः भोगापवर्ग के लिए यही संयोग सृष्टि रचता है। भगवान्पतञ्जलि ने भी कहा है कि द्रष्टा पुरुष और दृश्यरूपा बुद्धि का संसर्ग ही हेय अर्थात् संसार की उत्पत्ति का हेतु है।[1] अतः यह सिद्ध हो गया कि प्रकृति और पुरुष के संयोग का प्रयोजन भोग तथा अपवर्ग हैं। अर्थात् पहले पुरुष के द्वारा प्रकृति का भोग अनन्तर विवेक-ख्याति से दुःखत्रय की आत्यन्तिक निवृत्ति रूप अपवर्ग।

यद्यपि पूर्वकारिका से यह निश्चय हो गया कि प्रकृति और पुरुष का संयोग ही सृष्टि का कारण है किन्तु वह तो निमित्त कारणमात्र ही हो सकता है। पर उपादान कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं। अव्यक्त ही महत् आदि का उपादान कारण है—इस बात को मन में रखकर अगली कारिका का अवतारण किया है जिसमें सृष्टि के क्रम का निरूपण है—

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥२२॥

प्रकृतेः-प्रधानात् मूलप्रकृतेर्वाऽव्यक्तात् महान् महतत्त्वं बुद्धितत्त्वम् उत्पद्यते। ततः महत्तत्त्वात्, अहंकारः अहम् इत्यभिमानव्यापारलक्षणः उत्पद्यते। तस्मात् अहंकारात्, षोडशको गणः एकादशेन्द्रियाणि, पञ्चतन्मात्राणि इति षोडशसंख्यकानि तत्त्वानि जायन्ते। तस्मादपि षोडशकात् गणात् निकृष्टेभ्यः पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चभूतानि पृथिव्यप्तेजोवाटवाकाशनामकानि महाभूतानि एकोत्तरवृद्धया जायन्ते इति शेषः॥

---

1. द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः। योग सूत्र २।१६।

मूल-प्रकृति से (सबसे पहले) महत्तत्त्व की उत्पत्ति होती है (जिसे बुद्धि भी कहते हैं।) महत्तत्त्व से (अभिमानरूप) अहंकार उत्पन्न होता है। इसी अहंकार से (पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, मन तथा पञ्चतन्मात्राओं को मिलाकर) सोलह तत्त्वों का समूह उत्पन्न होता है। इन सोलह तत्त्वों में से भी अन्तिम पांच (तन्मात्राओं) से (क्रमशः) पांच महाभूतों की उत्पत्ति होती है।

प्रकृति, प्रधान, कारण, अव्यक्त, गुणसाम्य, तमोबहुल तथा अव्याकृत ये पर्याय हैं।[1] इसलिए प्रकृति पद से यहाँ अव्यक्त अर्थात् मूलप्रकृति का ग्रहण होता है। महत् बुद्धि को कहते हैं जिसके पर्याय महान्, बुद्धि, मति, प्रत्यय तथा उपलब्धि है।[2] अपनेपन का अनुभव ही अहंकार है। जयमंगलाकार के उल्लेख के अनुसार सुपर्णपणि या सपर्णवन्नि और तत्पुरुष इसके पर्यायवाची शब्द हैं।[3] महत् और अहंकार के लक्षणों का विवेचन आगे विस्तारपूर्वक करेंगे। श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा एवं घ्राण नामक पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, वाक्, पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ नामक पांच ही कर्मेन्द्रियाँ तथा मन को मिलाकर ग्यारह इन्द्रियाँ कही जाती हैं जो हृषीक का पर्याय हैं।[4] शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पांच तन्मात्राएँ हैं जिन्हें सूक्ष्म, अतिशय, अणु तथा विष भी कहते हैं।[5] इन्हीं पञ्च तन्मात्राओं से पृथक् पृथक् रूप से पञ्च महाभूतों की उत्पत्ति होती है। यहाँ 'षोडशकात्' एकवचनान्त का 'पञ्चभ्यः' बहुवचनान्त के साथ 'सामानाधिकरण्य रूप से अन्वय नहीं बनता, क्योंकि सामानाधिकरण्य समान विभक्ति वाले पदों में ही सम्भव होता है। दोष के निराकरण के लिए तत्त्वकौमुदीकार ने 'षोडशकात् अपकृष्टेभ्यः पञ्चभ्यः 'के रूप में इसकी व्याख्या की है जिसका अर्थ यह है कि उन सोलहों में से पृथक् किये गये पांच से पञ्च महाभूतों की उत्पत्ति होती है। चन्द्रिकाकार ने 'षोडशकात्' में प्रयुक्त पञ्चमी विभक्ति को 'षोडशकं प्राप्य स्थितेभ्यः पञ्चभ्यः तन्मात्रेभ्यः' की व्याख्या से

---

१. प्रकृतिः प्रधानं कारणमव्यक्तं गुणसाम्यं तमोबहुलमव्याकृतमिति प्रकृतिपर्यायाः। जयमङ्गला।
२. महान्बुद्धिर्मतिः प्रत्यय उपलब्धिरिति बुद्धिपर्यायाः। वही।
३. अहंकारः सुपर्णपणिस्तत्पुरुष इत्यहंकारपर्यायाः। वही।
४. खानि हृषीकाणीन्द्रियाणीति पर्यायाः। वही।
५. सूक्ष्मा अतिशया अणवो (विषा) इति तन्मात्रपर्यायाः। वही।

ल्यप्लोप में माना है। योगभाष्य में जो कहा है कि ये तन्मात्राएं महत् के परिणाम हैं।[1] उन्हें साक्षात् नहीं अपितु परम्परया मानना चाहिए। क्योंकि इसके पूर्व स्वयं योगभाष्य में ही तन्मात्राओं को अहंकार का परिणाम कहा जा चुका है।[2]

माठर एवं गौड़पाद का कहना है कि ये तन्मात्राएं अलग अलग स्वतन्त्र रूप से महाभूतों को जन्म देती हैं। दूसरे जयमंगलाकार एवं वाचस्पति, प्रभृति अन्य टीकाकारों की मान्यता है कि पूर्व पूर्व तन्मात्राओं से युक्त होकर ही अगली तन्मात्रा अपने विशेष महाभूत को उत्पन्न करने में समर्थ होती है।[3] योगसूत्र से इस द्वितीय पक्ष का ही समर्थन होता है।[4] इस प्रकार शब्द तन्मात्रा से अकाश उत्पन्न होता है जिसका गुण शब्दमात्र है। शब्दतन्मात्रा से सहित स्पर्श तन्मात्रा से वायु की उत्पत्ति होती है अतएव उसमें शब्द और स्पर्श दोनों गुण पाए जाते हैं। शब्द तथा स्पर्श तन्मात्राओं से युक्त रूपतन्मात्रा से तेज की उत्पत्ति होती है जिसमें शब्द, स्पर्श तथा रूप तीनों गुण विद्यमान होते हैं। शब्द, स्पर्श तथा रूप से युक्त रस तन्मात्रा से जल की उत्पत्ति होती है, अतः उसमें शब्द स्पर्श, रूप तथा रस चारों गुण विद्यमान रहते हैं। इसी प्रकार शब्द, स्पर्श, रूप एवं रस तन्मात्राओं से युक्त गन्धतन्मात्रा से पृथ्वी उत्पन्न हुई है। अतएव उसमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध नामक पाँचों गुण पाये जाते हैं। आकाशादि इन भूतों को ही स्थूल एवं विशेष भी कहते हैं।[5] ॥२२॥

दशम कारिका की उक्ति 'तद्विपरीतम्' से अव्यक्त का सामान्य एवं तेरहवीं कारिका की उक्ति 'सत्त्वं लघुप्रकाशकम्' से विशेष, उभयतः लक्षण पहले ही किया जा चुका है। व्यक्त का भी सामान्य लक्षण 'हेतुमत्' इत्यादि

---

१. एते सत्तामात्रस्यात्मनो महतः षड्विशेषपरिणामाः। योगसूत्र १। १९ पर भाष्य।

२. पार्थिवस्य अणोः गन्धतन्मात्रं सूक्ष्मो विषयः आप्यस्य रसतन्मात्रं, तैजसस्य रूपतन्मात्रं; वायवीयस्य, स्पर्शतन्मात्रं, आकाशस्य शब्दतन्मात्रमिति तेषमाहंकारः। योगभाष्य १। ४५।

३. षाडशकात् गणात् यानि पञ्चतन्मात्राणि तेभ्य एकोत्तरवृद्धया पञ्चमहाभूतानि भवन्ति। जयमङ्गला।

४ एकद्वित्रिचतुष्पञ्चलक्षणाः शब्दादयः। योगसूत्र २। १९।

५. एतैराकाशादयः स्थूला विशेष्या उच्यन्ते। जयमङ्गला।

१०वीं कारिका में हो चुका है। अब व्यक्तविशेष के लक्षण करने के प्रसंग में सबसे पहले उसके प्रथम विशेष महत् का लक्षण करते हैं जो विवेकज्ञान में लिए परम उपयोगी है—

अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम् ।
सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम् ॥२३॥

अध्यवसायः मया इदं कर्त्तव्यमित्याकारकनिश्चयः, बुद्धिः बुद्धेर्लक्षणमस्ति । धर्मः, ज्ञानं, विरागः चतुर्विधं वैराग्यम्, ऐश्वर्यम् अष्टविधं ऐश्वर्यम्, एतच्चतुष्टयं तस्याः बुद्धेः सात्त्विकं सत्त्वांशेभ्यः उद्भूतं रूपम् गुणम् अस्ति । अस्मात् चतुष्टयात् विपर्यस्तम् विपरीतम् अधर्माज्ञानरागानैश्वर्यरूपं तामसं तमोंऽशेभ्यः उद्भूतमस्ति इति शेषः ।

अध्यवसाय अर्थात् निश्चय ही बुद्धि (का लक्षण) है। धर्म, ज्ञान, विराग तथा ऐश्वर्य (ये चार) उसके सात्त्विक गुण हैं। (चार ही) उसके तामस गुण भी होते हैं जो इनके ठीक विपरीत हैं (अधर्म, अज्ञान, राग, एवं अनैश्वर्य)।

'अध्यवसायो बुद्धिः' यह वाक्य ही बुद्धि का लक्षण है। 'मुझे यही कहना चाहिए' इस प्रकार की जो निश्चयात्मिका चित्त-वृत्ति है उसी को अध्यवसाय कहते हैं। यह एक प्रकार की क्रिया अर्थात् प्रक्रिया है। किन्तु गुण और गुणी की तरह ही क्रिया एवं क्रियावान् में भी भेद होता है। अध्यवसाय चूंकि बुद्धि की क्रिया है अतः उसका बुद्धि के साथ सामानाधिकरण्य रूप अभेदान्वय नहीं हो सकता। कहीं भी 'गन्धः पृथ्वी' ऐसा व्यवहार नहीं होता अपितु 'गन्धवती पृथ्वी' ऐसा ही व्यवहार ठीक है। उसी प्रकार 'अध्यवसायवती बुद्धिः' कहना ही उचित था, 'अध्यवसायो बुद्धिः' नहीं। क्योंकि अध्यवसाय धर्म है बुद्धि धर्मी।

इसका समाधान करते हुए वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि बुद्धि का व्यापार अन्य इन्द्रियों की क्रियाओं से भिन्न होता है। प्रत्येक व्यक्ति जो उपादेय वस्तु के ग्रहण तथा निरर्थक के त्याग के लिए प्रस्तुत रहता है, पहले ज्ञानेन्द्रिय व्यापार से वस्तु का 'साक्षात्कार' करता है अनन्तर उसका निश्चय। फिर व्यक्ति गुण-दोष का विवेचन करते हुए 'मैं इस काम को करने में समर्थ हूं,' इस प्रकार के अहंकार-व्यापार का विषय बनाकर 'यह कर्त्तव्य है' ऐसा निश्चय करता है। किसी भी वस्तु या विषय के सन्निहित होने पर व्यक्ति में चार

प्रकार की क्रियायें सम्भावित हैं—आलोचन, मनन, अभिमान तथा अवधारण। आलोचन इन्द्रियों का व्यापार है। मनन मन का। अहंकार ही अभिमान करता है तथा अवधारण बुद्धि की क्रिया है। इन आलोचन आदि उक्त व्यापारों में से 'यही कर्तव्य है' इस प्रकार का जो विनिश्चयात्मक व्यापार है उसी को अध्यवसाय कहा है।[1] सन्निहित चेतन पुरुष की छाया बुद्धि में पड़ती है तभी उसमें चैतन्य भी आरोपित हो जाता है। उसी चैतन्यारोपित बुद्धि में ही अध्यवसाय सम्भव है जो बुद्धि का असाधारण व्यापार है। चूंकि अध्यवसाय के अतिरिक्त बुद्धि का कोई और स्वरूप है ही नहीं, अतः बुद्धि अध्यवसाय से भिन्न वस्तु नहीं है। इसीलिये कारिका में 'अध्यवसायो बुद्धिः', से दोनों का अभेदान्वय प्रदर्शित किया है। चूंकि पृथ्वी गंधमात्र नहीं है अतः 'गन्धः पृथ्वी' का प्रयोग नहीं होता। न हो ही सकता है। इस प्रकार अध्यवसाय, समानजातीय मन आदि इन्द्रियों से तथा विजातीय पंचतन्मात्राओं से बुद्धि का व्यावर्तक होने से उसका निष्कृष्ट लक्षण सिद्ध हो जाता है।[2]

अध्यवसायात्मिका इस बुद्धि के आठ रूप होते हैं धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, विराग, अनुराग, ऐश्वर्य तथा अनैश्वर्य। इनमें चार— धर्म, ज्ञान, विराग तथा ऐश्वर्य सात्त्विक तथा शेष चार अधर्म, अज्ञान, राग तथा अनैश्वर्य तामस माने गये हैं। धर्मादि की व्याख्या अपेक्षित है—

१. धर्म -अभ्युदय तथा निःश्रेयस के साधक हेतु को धर्म कहते हैं।[3] ऐहिक अर्थात् भौतिक अभ्युन्नति का ही अभ्युदय पद से ग्रहण होता है। जो यज्ञ, दान तथा उत्तमोत्तम कर्मों के सम्पादन से सम्भव है। निःश्रेयस् कैवल्य का नाम है जिसकी प्राप्ति यम, नियम, आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान तथा समाधि रूप योग के आठ अंगों के यथावत् आचरण से होती है। अथवा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह नामक यम एवं शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वरप्रणिधान नामक नियम का ही धर्म से ग्रहण होता है। इनसे विपरीत आचरण ही अधर्म है।

---

१. आलोचनमननाभिमानावधारणेषु योऽयं 'कर्तव्यम्' इति बुद्धेर्विनिश्चयः सोऽध्यवसायो बुद्धेरसाधारणो व्यापारः इति योजना। सारबोधिनी।
२. स च बुद्धेर्लक्षणं समानासमानजातीयव्यवच्छेदकत्वात्। तत्त्वकौमुदी।
३. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। वै० सू० १।१।२

२. ज्ञान—माठर और गौडपाद ने ज्ञान के दो भेद बाह्य और आभ्यन्तर किये हैं। बाह्यज्ञान में शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, एवं ज्योतिष नामक छओं अंगों सहित वेदों, पुराणों, न्याय तथा मीमांसा नामक दर्शनों एवं धर्मशास्त्र को परिगणित कर अभ्यान्तर ज्ञान से प्रकृति एवं पुरुष के यथार्थ स्वरूप का ग्रहण किया है कि प्रकृति सत्त्व, रज एवं तम की साम्यावस्था है तथा पुरुष निर्गुण, व्यापी तथा चेतन है। साथ ही बाह्यज्ञान का प्रयोजन लोक में प्रवृत्ति तथा आभ्यन्तर ज्ञान से मोक्ष की सिद्धि कहा है। जयमङ्गलाकार एवं वाचस्पति ने ज्ञान से यहाँ सांख्यशास्त्र के प्रतिपाद्य प्रकृतिपुरुषान्यता-ख्याति रूप व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञान का ही ग्रहण माना है। वस्तुतः यह दूसरा अर्थ ही यहाँ उपयुक्त है, क्योंकि आगे ४४वीं कारिका में 'ज्ञानेन चापवर्गः' का पाठ हुआ है जिसमें ज्ञान से मोक्ष-प्राप्ति का विधान किया गया है। इसकी संगति माठर एवं गौडपाद की व्याख्याओं से नहीं बनती। इसलिए गुणात्मिका प्रकृति एवं चेतन पुरुष में भेदात्मिका विवेकबुद्धि ही यहाँ ज्ञान है।[1] उससे विपरीत अर्थात् पुरुष के कर्ता एवं प्रकृति के चेतन आदि होने की प्रतीति अज्ञान अर्थात् मिथ्याज्ञान है।

३. विराग—राग अर्थात् आसक्ति का अभाव ही विराग है। माठर एवं गौडपाद ने विराग के भी दो भेद माने है—बाह्य एवं आभ्यन्तर। लौकिक विषयों के उपार्जन, रक्षा एवं क्षय आदि में हिंसा-दोष देखकर उनके प्रति वितृष्णा बाह्य वैराग्य है। आभ्यन्तर वैराग्य मोक्ष की इच्छा रखनेवाले विरक्त व्यक्ति की उस अवस्था को कहते हैं जब वह विषयों को स्वप्न या इन्द्रजाल सा स्वतः समझने लगता है।[2] जयमङ्गलाकार का कहना है कि विषय, शरीर एवं इन्द्रियों में दोष देखकर उनके प्रति विमुखता ही वैराग्य है तथा उनमें अभिलाषा का बना रहना ही राग है।[3] वाचस्पति के अनुसार

---

१. (क) पञ्चविंशतितत्त्वानां स्वसंज्ञालाक्षण्यकत्वप्रयोजनावधारणं ज्ञानं गुणपुरुषान्तरज्ञानम्। शेषमज्ञानम्। जयमङ्गला।

(ख) गुणपुरुषान्यताख्यातिर्ज्ञानम्। वाचस्पति तत्त्व कौमुदी।

२. आभ्यन्तरं प्रधानमप्यत्र स्वप्नेन्द्रजालसदृशमिति विरक्तस्य मोक्षेप्सो यदुत्पद्यते तदाभ्यन्तरं वैराग्यम्। गौडपाद

३. विषयशरीरेन्द्रियेभ्यो दोषदर्शनात् वैमुख्यं विरागः। तेष्वभिलाषो रागः। जयमङ्गला।

विराग का अर्थ यहाँ वैराग्य है जो राग का अभाव है।[1] अनुभूत सुख को पुनः प्राप्त करने की कामना ही राग है।[2] विराग की चार अवस्थाएँ होती हैं— यतमान्, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय तथा वशीकार। योगसूत्रकार ने भी कहा है— कि लौकिक तथा पारलौकिक विषयों की तृष्णा समाप्त हो जाने पर चित्त का पूर्ण रूप से वश में हो जाना ही वैराग्य है।[3]

४. ऐश्वर्य –सिद्धियों की प्राप्ति भी बुद्धि का ही धर्म है। अणिमा आदि आठ सिद्धियों का प्रादुर्भाव ऐश्वर्य का लक्षण है।[4] शिला में भी प्रवेश होने की क्षमता को अणिमा, सूर्य की किरणों का आलम्बन कर सूर्यलोक में गमन की शक्ति लघिमा, बहुत बड़ा हो जाना महिमा, अंगुली से ही चन्द्रमा को छू लेना प्राप्ति, जब जो चाहे उसी समय उसका हो जाना प्राकाम्य, प्राणिमात्र का वश में हो जाना वशित्व, रूपरस आदि तन्मात्राओं से ही पृथ्वी आदि भूतों तथा इनके विकार गो घट के प्रादुर्भाव की क्षमता ईशित्व, तथा संकल्प की सत्यता रूप सत्य-संकल्पता ये ही आठ सिद्धियां हैं। इनका अभाव ही अनैश्वर्य है।

यहाँ एक प्रश्न का उठना स्वाभाविक है कि सांख्य-सिद्धान्त के अनुसार बुद्धि तो अचेतन पदार्थ है, उसमें निश्चयात्मिका सचेतन की क्रिया का होना कैसे सम्भव है। इसका उत्तर यह है कि चेतन पुरुष के सन्निधान से जड़ बुद्धि में भी उसी प्रकार चैतन्य आ जाता है जिस प्रकार रंग-बिरगे जपाकुसुम के सन्निधान से स्फटिक मणि में भी रंगों की प्रतीति होने लगती है तथा अग्नि के संयोग से शीतल जल भी दाहक हो जाता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि अध्यवसाय बुद्धि का वह धर्म है जो केवल उसी में पाया जाता है। तथा इस प्रकार वह बुद्धि को उसके सजातीय एवं विजातीय तत्त्वों से पृथक् भी करता है। इसीलिए वह असाधारण धर्म रूप लक्षण भी है। बुद्धि, अहंकार, मन तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पांच कर्मेन्द्रियाँ

---

१. विरागो वैराग्यं रागाभावः। तत्त्वकौमुदी।
२. सुखानुशयी रागः ॥ योगसूत्र २।७
३. दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्। योग सू० १।१५
४. अणिमा लघिमा चैव महिमा गरिमा तथा।
प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्टसिद्धयः ॥

ये सब मिलकर त्रयोदश करण हैं। इनमें करणत्व नामक एक साधारण धर्म है। अतः ये सब सजातीय कहे जाते हैं। अध्यवसाय चूंकि केवल बुद्धि का ही धर्म है, अहंकार आदि बारहों कारणों का नहीं, अतः वह इसे उनसे पृथक् करता है। दूसरी ओर पंचतन्मात्राओं तथा उनके विकार पंचमहाभूतों में ऐसा कोई धर्म नहीं है जो बुद्धि में भी विद्यमान हो। अतः ये विजातीय तत्त्व हैं। चूंकि अध्यवसाय इनमें भी नहीं होता, अतः वह इन विजातीयों से भी इसे (बुद्धि को) पृथक् करता है। इस प्रकार अध्यवसाय असाधारण धर्म रूप बुद्धि का वह लक्षण है जिसमें अव्याप्ति, अतिव्याप्ति तथा असम्भव दोष प्रसक्त नहीं होते। किसी वस्तु या विषय का वही लक्षण निष्कृष्ट माना जाता है जिसमें उक्त तीनों में से किसी भी दोष की प्रसक्ति न हो।

अथवा मन, बुद्धि अहंकार ही सजातीय हैं। इसमें से किसी का विषय वैसा नियत नहीं है जैसा प्रत्येक इन्द्रिय का रूप रस आदि अपना विषय नियत है। क्योंकि इन तीनों की प्रवृत्ति सभी विषयों में सम्भव है। इनके विपरीत इन्द्रियाँ इसलिए विजातीय हैं कि उनका अपना एक विषय नियत होता है। अध्यवसाय न तो बुद्धि के सजातीय तत्त्व मन और अहंकार में होता है न ही विजातीय इन्द्रियों में। अतः वह साधारण अर्थात् अनेक का सामान्य धर्म नहीं कहा जा सकता। अपितु यह बुद्धि को एक ओर मन-अहंकार से दूसरी ओर इन्द्रियों से व्यावृत्त कर उसका स्वतन्त्र रूप से बोध कराता है। यही इसकी असाधारणता है। इस प्रकार अध्यवसाय को बुद्धि का लक्षण कहना यथार्थ है। असाधारणधर्मो लक्षणम् ॥२३॥

प्रकृति के विकास के जिस क्रम का निरूपण बाइसवीं कारिका, 'प्रकृते महान् ततोऽहंकारः' इत्यादि में हुआ है। उसकी एक व्यवस्था है। पूर्वकारिका में महत् का निरूपण हो चुका। अब क्रमप्राप्त अहंकार का लक्षण करते हैं।

अभिमानोऽहंकारः, तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः।
एकादशकश्च गणस्तन्मात्रपञ्चकश्चैव ॥ २४ ॥

अभिमानः अभिमतिः रूपादिविषये, रूपवानहं ममैते विषयाः इति ज्ञानम्, अहंकार इत्युच्यते। तस्मात् अहंकारात् एकादशकः गणः पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चकर्मेन्द्रियाणि मनश्चेत्येकादशसंख्यकः गणः च पुनः तन्मात्रपञ्चकः शब्दस्पर्श-रूपरसगन्धाख्यानि पञ्चतन्मात्राणि इति द्विविधः द्विप्रकारक एव सर्गः सृष्टिः प्रवर्तते समुत्पद्यते।

'मैं रूपवान हूँ' इस प्रकार की आरोपित अनुभूति ही अभिमान है जो अहंकार का लक्षण है इस अहंकार से दो प्रकार की सृष्टि होती है—पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां तथा मन इन ग्यारह इन्द्रियों का समूह तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध नामक पांच तन्मात्राएं।

अहंकार का लक्षण करते हुए यहाँ उसे अभिमान कहा है। जो व्याख्या-सापेक्ष है। इन्द्रियों से बाह्य वस्तुओं का ग्रहण केवल इसी रूप में होता है कि वह कुछ है। सामान्य रूप से गृहीत उस वस्तु के विषय में मन विशेष रूप से कल्पना करता है। अनन्तर 'इस विषय का मैं अधिकारी हूं,, 'इसे करने में समर्थ हूं', 'ये विषय मेरे ही लिये हैं' इत्यादि रूप में विषय को अपने साथ सम्बन्धित कर समझने तथा व्यवहार करने की जो हमारी प्रवृत्ति है उसी को अभिमान कहते हैं।[1] चूंकि यह अभिमान अहंकार की एक विशेष शक्ति है, अतः 'अभिमानवानहंकारः' ही कहना युक्त था। किन्तु अभिमान से अतिरिक्त अहंकार की अन्य कोई वृत्ति नहीं होती। अतः दोनों के सामानाधिकरण्य का प्रदर्शन करने के लिये ही लक्षण अभिमान एवं लक्ष्य अहंकार में अभेदान्वय स्थापित किया है तथा एक को दूसरे के पर्याय के रूप में प्रयुक्त किया है। अन्यथा अभिमान के अहंकार का व्यापार होने से दोनों पदों का सामानाधिकरण्य ही नहीं बनता, अभेदान्वय तो दूर की बात है। अभिमान अहंकार की एकमात्र क्रिया है। क्रिया और क्रियावान् में 'अध्यवसायो बुद्धिः' की तरह अभेदान्वय होता ही है। 'मैं हूँ' तथा 'अमुक वस्तु मेरी है', या 'मेरी नहीं है' इस प्रकार के अभिमान रूप अहंकार का आश्रय करके ही बुद्धि अपना निश्चयात्मक व्यापार सम्पन्न करती है कि 'यह मेरा कर्तव्य है'। इस प्रकार बुद्धि के अध्यवसायात्मक व्यापार के पूर्व अहंकार के अभिमानात्मक व्यापार का होना अनिवार्य है।

दो भिन्न प्रकार के तत्त्वों को जन्म देना ही अहंकार का कार्य है। इससे एक ओर जहाँ मन सहित दश इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है, दूसरी ओर पांचतन्मात्राओं की। मन को लेकर इन्द्रियों की संख्या ग्यारह मानी गयी है। उसी के लिये कारिका में 'एकादशकश्च गणः' का प्रयोग किया है। पांचों ज्ञानेन्द्रियों के श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, रसना तथा घ्राण नाम हैं तथा कर्मेन्द्रियां वाक् पाणि, पाद, पायु और उपस्थ नाम से अभिहित होती हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस

---

१. अभि=समन्तात् आत्मानं मन्यते इत्यभिमानः। अभि मन् से घञ्। अथवा अभिमतिरभिमानः।

तथा गन्ध ये पांच तन्मात्रायें हैं। तन्मात्र पद का अर्थ है स्वरूपमात्र। मात्रा ग्रहण भूतों के संस्पर्श से रहित अर्थ की प्रतीति के लिये हुआ है।[1] इन्द्रियों और तन्मात्राओं में मौलिक भेद यह है कि एक इन्द्रियां विषयी हैं और दूसरी पंचतन्मात्राएं इनके विषय। कारिका के अन्तिम 'तन्मात्रपञ्चकश्चैव' पद में प्रयुक्त 'एव' पद अवधारणार्थक है जिसका अन्वय 'द्विविधः' के साथ ही होता है—'द्विविध एव'। जिसका अर्थ यह है कि अहंकार से जिन तत्वों की उत्पत्ति होती है, यद्यपि उनकी संख्या सोलह है तथापि वे सब दो प्रकार के ही हैं। कम या अधिक प्रकार के नहीं। अर्थात् उन सोलहों तत्वों को हम दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। वर्गीकरण का आधार विषय-विषयिभाव है ॥२४॥

अहंकार तो एक ही प्रकार का होता है। उससे ऐसे दो प्रकार के तत्वों की उत्पत्ति कैसे सम्भव है जिनमें एक (तन्मात्रायें) जड़ है तो दूसरा (इन्द्रियाँ) प्रकाशक होने से चैतन्य। यदि अहंकार ही इनका एकमात्र कारण है, तो उससे उत्पन्न ये दोनों गण गुणों में परस्पर विलक्षण क्यों होते हैं? इसी को स्पष्ट करने के लिये अगली कारिका का अवतारण करते हैं—

सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात्।
भूतादेस्तन्मात्रः, स तामसस्तैजसादुभयम् ॥२५॥

वैकृतात् सात्त्विकात्, अहंकारात् य एकादशकः इन्द्रियगणः, प्रवर्तते उत्पद्यते स सात्त्विको भवति। भूतादेः तामासात् अहंकारात्, तन्मात्रः शब्द-स्पर्शरूपरसगन्धारव्यः गणः, (प्रवर्तते उत्पद्यते) (अतः) सः तन्मात्रपञ्चको गणः तामसः तमोगुणस्य कार्यम् (भवति)। तैजसात् राजसात् अहंकारात्, उभयम् गणद्वयम् एकादशेन्द्रियाणि पञ्चतन्मात्राणि च, (प्रवर्तते उत्पद्यते इति शेषः)।

अहंकार के वैकृत नामक सात्विक अंश से ही एकादश इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है अतएव उन्हें सात्त्विक कहते हैं। भूतादि संज्ञक अर्थात् अहंकार के उस तामस अंश से जो महाभूतों का आदि स्रोत हैं, पंचतन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है अतः ये तन्मात्राएं तामस अर्थात् तमोगुण-विशिष्ट होती हैं। अहंकार के रजोगुण के अंश से दोनों प्रकार के गणों की उत्पत्ति मानी गई है क्योंकि रजोगुण ही सत्व एवं तम दोनों को प्रेरित कर विकृत होने को

---

१. तन्मात्रः शब्दादिस्वरूपमात्र इत्यर्थः। मात्रग्रहणं भूतसंश्लेषनिवृत्त्यर्थम्। भूतेष्वपि शब्दादिसंभवात। जयमङ्गला।

बाध्य करता है। अतः दोनों प्रकार प्रकाशक एकादश इन्द्रियां एवं जड़ तन्मात्राएं रजोगुण के कार्य होते हैं।

सात्त्विक–सत्त्व वह गुण है जिसमें प्रकाश एवं लाघव होते हैं। चूंकि एकादश इन्द्रियों में प्रकाशक तत्व एवं लाघव होता है अतः वह सत्त्वगुण के ही कार्य हो सकते हैं। अतएव इनको कारिका में सात्त्विक कहा है।

वैकृतादहंकारात् विकृत अहंकार की एक संज्ञा है। जिस अहंकार में रजस् एवं तमस् को दबाकर सत्त्वगुण का उद्रेक होता है, उसकी 'विकृत' संज्ञा प्राचीन सांख्याचार्यों ने दे रखी है। सम्भवतः वह इसलिए कि मूल-प्रकृति में तीनों गुण अपने सजातीय प्रवाह में ही निरन्तर गतिशील रहते हैं। उनके परस्पर क्षुब्ध होने पर वे एक दूसरे से मिलकर प्रवाहित होने लगते हैं। इसक्षुब्ध अवस्था से ही प्रकृति से महान् और उससे अहंकारादि की उत्पत्ति सम्भव होती है। अतः इस अवस्था में विकृत कौन हुआ ? रज एवं तम तो विकृत होने से रहे। सत्त्व में ही रज और तम के विकार पहुंच जाते हैं। अतः वस्तुतः वही विकृत हुआ। इस प्रकार गुणों के परस्पर के संयोग से विकृति सत्व की होती है। अतएव उस अहंकार की संज्ञा विकृति दी गई है जिसमें सत्त्व गुण शेष दोनों रज एवं तम को दबाकर प्रबल हुआ रहता है। चूंकि उसी से मन सहित दशों इन्द्रियां की उत्पत्ति होती है, अतः ये इन्द्रियां सात्त्विक कही गयी हैं।

भूतादि शब्द अहंकार की उस अवस्था के लिये प्रयुक्त हुआ है जिसमें तमोगुण ही सत्त्व और रज को दबा कर प्रबल हुआ करता है। इसकी भूतादि संज्ञा का प्रयोजक सम्भवतः यही है कि वही भूतों अर्थात् पंचमहाभूतों का आदि अर्थात् मूल-स्रोत होता है। पंच-महाभूत जड़ होते हैं। उनकी उत्पत्ति भी जिन तन्मात्राओं से होती है, वह भी जड़ ही हैं। यह जड़ता ही तमोगुण का धर्म है। अतः अहंकार के तमोगुणी अंश का कार्य है। इनकी जड़ता का कारण भी यही है कि ये तमोगुण के कार्य हैं।

फिर क्या रजोगुण व्यर्थ है ? नहीं। उससे सात्विक एवं तामस, प्रकाशक एवं जड़ उभयविध तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। वस्तुतः अहंकार के रजोअंश से उस प्रकार तत्त्वों की उत्पत्ति नहीं होती जिस प्रकार सत्त्व एवं तमस् से, अपितु वह दोनों से दोनों प्रकार की उत्पत्ति होने में सहायक होता है। क्योंकि सत्त्व एवं तम स्वयं निष्क्रिय हैं। अतः समर्थ होने पर भी वे अपना काम नहीं कर सकते। रजोगुण गतिशील होने से उनको भी गति देता है और उसकी

सहायता से ही सत्त्व एवं तम अलग अलग प्रकार की सृष्टि की उत्पत्ति करते हैं। सत्त्व एवं तमस् का प्रेरक होने से ही रजस् से दोनों प्रकार के परस्पर विलक्षण प्रकाशक एवं जड़ की उत्पत्ति होती है। तैजस, रजोगुण की दूसरी संज्ञा है।[1] ॥२५॥

पूर्वकारिका में अहंकार के सात्त्विक अंश से एकादश तत्त्वों की उत्पति का निरूपण किया गया है जिनमें पाँच ज्ञानेन्द्रियां तथा पाँच कर्मेन्द्रियां आती हैं। प्रकृत कारिका में इन्हीं दशों का नामतः परिगणन करते हैं—

बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि।
वाक्पाणिपादपायूपस्थान्[2] कर्मेन्द्रियाण्याहुः ॥२६॥

चक्षुः नेत्रं, श्रोत्रं कर्णेन्द्रियं, घ्राणं नासिका, रसनं जिह्वा, त्वक् चर्मं, एतानि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि सन्ति। इन्द्रः आत्मा, तस्य लिंगम् इन्द्रियम्। अथवा इन्द्रः आत्मा स लिंगयते अनुमीयते येन तत् इन्द्रियं लिंगमित्यर्थः। बुद्धिः रूपादिज्ञानं तत्साधनानि बुद्धीन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि इत्यर्थः। वाक्, पाणी, पादौ, पायुः, उपस्थः एतानि पञ्चकर्मसाधनानि इति कर्मेन्द्रियाणि इति सांख्याचार्या आहुः॥

आँख, कान, नाक, जिह्वा तथा त्वचा, ये पाँच ज्ञानेन्द्रियों के नाम हैं। तथा वाणी, हाथ, पैर, पायु (मलमूत्रविसर्जन) एवं उपस्थ=जननेन्द्रिय ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ कही जाती हैं।

इन्द्र शब्द का अर्थ आत्मा होता है। उसकी सत्ता के साधक हेतु होने से ही 'इन्द्रस्य इदम्' की व्युत्पत्ति से चक्षु आदि को इन्द्रिय कहते हैं। सांख्यशास्त्र के अनुसार आत्मा प्रत्यक्ष का विषय नहीं अपितु उसका अनुमान होता है। इन्द्रियाँ चूंकि करण हैं और करण साधन को कहते हैं पर साधन की उपयोगिता किसी कर्ता के लिए ही होती है जो उसका स्वामी भी होता

---

१. तैजसादुभयम् इति। एतदाशयः पञ्चकं चैतदुभयमपि प्रवर्तते। आदिकाल उभयत्राप्यस्य सहायत्वात्। वैकृतभूतादिद्वावपि प्रकाशस्थितिशीलत्वात् न क्रियाशीले। ततस्तैजसमहंकारं क्रियाशीलं सहायमपेक्ष्यैकादशकं पञ्चकं च मलमजनयत इति। जयमंगला।

२. पायूपस्थाः, पायूपस्थानि चेति पाठान्तरम्।

है। जहां तक इन्द्रियों का सम्बन्ध है इनका स्वामी आत्मा (पुरुष) ही है जो ज्ञान और क्रिया के प्रसंग में इनका उपयोग करता है। इस प्रकार इन्द्र अर्थात् आत्मा की सत्ता के अनुमापक होने से ही इन्हें इन्द्रिय की संज्ञा मिली है। इन्द्र पद का आत्मा के अर्थ में प्रयोग 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' आदि श्रुतियों में हुआ है।

इन्द्रियों के मौलिक दो भेद होते हैं—अन्तरिन्द्रिय तथा बाह्येन्द्रिय। इनमें से अन्तरेन्द्रिय मन है जिसका कार्य बाह्य इन्द्रियों से प्राप्त सूचना के विषय में संकल्प-विकल्प करना है। बाह्येन्द्रियाँ पुनः ज्ञान और कर्म-भेद से दो प्रकार की होती हैं। यहाँ मूल कारिका में ज्ञान के साधक इन्द्रिय को ही 'बुद्धीन्द्रिय' पद से अभिहित किया गया है। 'बुद्धेः अर्थात् ज्ञानस्य साधकानि इन्द्रियाणि' की व्युत्पत्ति से शाकपार्थिवादि समास होकर ज्ञानेन्द्रिय, बुद्धीन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय पद निष्पन्न होते हैं जिनमें मध्यम पद साधक का लोप हो जाता है। ज्ञान से यहाँ प्रत्यक्ष ज्ञान का ही ग्रहण करना चाहिए अनुमान एवं शब्द का नहीं क्योंकि उनके विषय में परम्परया उपयोगी होते हुए भी इन्द्रियाँ साक्षात्रूप से उनका ग्राहक नहीं है।

ज्ञानेन्द्रिय की परिभाषा करते हुए कहा गया है—सात्त्विक अहंकार का कार्य होते हुए रूप रस गन्ध आदि विषयों के आलोचन (प्रत्यक्षीकरण) के जो करण हैं वे ही ज्ञानेन्द्रियाँ हैं।[1] अथवा बुद्धिपूर्वक पर्यालोचन को ही सांख्याचार्यों ने बुद्धीन्द्रिय (ज्ञानेन्द्रिय) कहा है।[2]

ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच होती हैं—(१) चक्षु--जो रूप की उपलब्धि का साधन है। रूपं चष्टे पश्यति अनेन इति चक्षुः। (२) श्रोत्र–शब्द की उपलब्धि का साधन है। उसे ही 'शब्दं शृणोति अनेन' इस विग्रह से उसे श्रोत्र कहा गया है। इसी प्रकार (३) गन्ध की उपलब्धि के साधन होने से 'जिघ्रति अनेन इति' इस व्युत्पत्ति के अनुसार तीसरी इन्द्रिय का नाम घ्राण है। (४) 'रसयति अनेन इति' इस विग्रह से मधुर लवण अम्ल, कटु, कषाय, तिक्त नामक रसों का ज्ञान जिस इन्द्रिय से

१. सात्त्विकाहंकारकार्यत्वे सति रूपादिविषयालोचनकरणत्वं ज्ञानेन्द्रियत्वम्। तत्त्वकौमुदी।

२. बुद्धिपूर्वकपर्यालोचनमिति बुद्धीन्द्रियाण्याहुः। सांख्याचार्याः। जयमङ्गला।

होता है, उसे रसन या 'रसना' कहते हैं। (५) त्वगिन्द्रिय से स्पर्श इन्द्रिय का बोध होता है। इन ज्ञानेन्द्रियों से चक्षु और त्वक्, रूप एवं स्पर्श गुणों के साथ पृथ्वी आदि द्रव्यों के भी ग्राहक हैं। जबकि शेष श्रोत्र, रसना, और घ्राण तीनों से केवल शब्द, रस एवं गन्ध नामक गुणों का ही ग्रहण है। यह मान्यता नैयायिकों की है। ज्ञानेन्द्रियों के नाम का क्रम श्रोत्र, त्वक, चक्षु, रसना तथा घ्राण होना चाहिए। कारिका में दिया हुआ क्रम अभीष्ट नहीं है। छन्द-रचना के कारण ही यहाँ क्रम में परिवर्तन हुआ है।

अहंकार में निकृष्टसत्त्व की प्रधानता होने पर उससे ही कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति मानी गई है। 'कर्मसाधकानि इन्द्रियाणि' की व्युत्पत्ति से इन्हें कर्मेन्द्रियाँ कहा गया है। क्योंकि वचनादानविहरणादि क्रियायें इन्हीं के द्वारा सम्पन्न होती हैं।[1] इनकी भी संख्या पाँच ही है क्योंकि इन पाँच प्रकारों में ही सम्भाव्यमान सभी क्रियाओं का अन्तर्भाव हो जाता है। इनमें से बोलने की क्रिया जिस इन्द्रिय से सम्पन्न होती है उसे वाक् कहते हैं। पाणि हाथ हैं जिनसे किसी वस्तु का आदान अर्थात् ग्रहण किया जाता है। पाद हमारे पैर हैं जो विचरण अर्थात् गमनागमन करते हैं। पायु से मल-मूत्र का विसर्जन होता है तो उपस्थ आनन्ददायिनी जननेन्द्रिय का नाम है। उपस्थ शब्द नपुंसक लिंग है। पर यहाँ 'पायूपस्थान्' से ज्ञात होता है कि उसका पुल्लिंग प्रयोग भी होता है ।। २६ ।।

सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न ११वें इन्द्रिय मन का निरूपण स्वतन्त्ररूप से अगली कारिका में हुआ है—

उभयात्मकमत्र मनः संकल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात् ।
गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाश्च[2] ।।२७।।

अत्र एकादशेन्द्रियमध्ये मनः उभयात्मकं ज्ञानेन्द्रियं कर्मेन्द्रियं चोभय-स्वभावं भवति यतः तत् मनः संकल्पकं अर्थात् ज्ञानकर्मेतिद्विविधेन्द्रियकल्पकं ज्ञानेन्द्रियाणां कर्मेन्द्रियाणां च प्रवृत्तिं कल्पयतीति संकल्पकम्। तथा साधर्म्यात् सात्त्विकात् अहंकारात् उत्पत्तिरूपसमानधर्मभावात् अथवा इन्द्रियैः तुल्यत्वात् यथा अन्यत् इन्द्रलिङ्गं तथा मनोऽपीत्यर्थः। धर्माधर्मरूपो यो गुणपरिणामस्तस्य विशेषात् अर्थात् वैचित्र्यात् अहंकारस्य तत्कार्याणामिन्द्रियाणां च नानात्वं अने-

---

१. कर्मेन्द्रियाणि कर्माभिर्निर्वर्तनात्। जयमङ्गला।
२. बाह्यभेदाच्च ।। माठरवृत्ति।

कत्वं बाह्यभेदाः च इव भवतीत्यर्थः। इन्द्रियापेक्षया बाह्याः ये शब्दतन्मात्रादि-रूपाः ग्राह्याः, ते यथा तामसात् अहंकारात् अनेकविधाः जायन्ते तथैव सात्त्विकात् अहंकारात् अनेकविधानि इन्द्रियाणि भवन्ति इत्यर्थः।

इन (ग्यारह इन्द्रियों) में मन (भी है जो ज्ञान एवं कर्म दोनों का साधक होने से) उभयात्मक है। (ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त सूचना के विषय में) सोचना ही उसका कार्य है। इसे इन्द्रिय इसलिए कहते हैं कि अन्य इन्द्रियों और इसके धर्म समान हैं। इन्द्रियों की अनेकता बाह्य जगत् के विषयों के समान ही सत्त्वादि गुणों के विविध रूप में परिणत होने के (स्वभाव के) कारण है।

इन ग्यारह इन्द्रियों में (ग्यारहवाँ) मन उभयात्मक है अर्थात् कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों दोनों के साथ काम करता है। चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों तथा वाक् आदि कर्मेन्द्रियों की अपने-अपने विषयों में प्रवृत्ति अभी सम्भव होती है, जब वे मन से अधिष्ठित रहते हैं। अर्थात् उनसे मन का योग बना रहता है। मन का असाधारण लक्षण है संकल्प करना—संकल्पकं मनः। मन इन्द्रिय के द्वारा आलोचित वस्तु के विषय में 'यह इस प्रकार है' या 'यह इस प्रकार नहीं है' इत्यादि की सम्यक् कल्पना करता है अर्थात् विशेषण-विशेष्य-भाव से उनका विवेचन करता है। कहा भी है—मनोव्यापार से पहले इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के अनन्तर वस्तु का ज्ञान उसके सामान्य या विशेष रूप के बोध के बिना ही होता है। अनन्तर मनीषी लोग मनोव्यापार के बाद उसमें सामान्य एवं विशेष की कल्पना कर लेते हैं।[1] इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ज्ञान (अर्थात् इन्द्रिय एवं पदार्थ के सम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान) पहले निर्विकल्पक होता है जो एकमात्र वस्तु से उत्पन्न होता है जैसे बालकों तथा गूंगों का ज्ञान। अनन्तर जिस बुद्धि से वस्तु के जाति आदि धर्म का निर्धारण होता है उसे ही प्रत्यक्ष कहा गया है।[2] इस प्रकार इन्द्रिय के द्वारा आलोचित वस्तु के विषय

---

१. सम्मुग्धं वस्तुमात्रं हि प्रागगृह्णात्यविकल्पितम्।
तत्सामान्यविशेषाभ्यां कल्पयन्ति मनीषिणः॥
कुमारिलभट्ट श्लोकवार्तिक, १।४।११३

२. अस्ति ह्यालोचनं ज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्।
बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम्॥ श्लोकवार्तिक १।४।११२
ततः परं पुनर्वस्तुधर्मैर्जात्यादिभिर्यया।
बुद्ध्यावसीयते साऽपि प्रत्यक्षत्वेन सम्मता। वहीं ११४।१२०

में सम्यक् कल्पना अर्थात् विशेषणविशेष्यभाव रूप से विवेचन ही संकल्प है जो मन का व्यापार है। इसे ही सोचना कहते हैं। संकल्पात्मक यह व्यापार मन को उसके समान-जातीय बुद्धि और अहंकार तथा असमान-जातीय चक्षु आदि इन्द्रियों से व्यावृत्त अर्थात् अलग करता हुआ उसका असाधारण धर्म रूपी लक्षण होता है।[1] इस प्रकार कारिका में प्रयुक्त उभयात्मक विशेषण मन का सामान्य लक्षण प्रस्तुत करता है जो संकल्पकं पद विशेष लक्षण, जो उसका अपना विशेष व्यापार है। गौडपादि ने संकल्पक का अर्थ 'प्रवृत्ति कल्पयति' किया है जो दोनो प्रकार की इन्द्रियों के व्यापार का निर्धारण करता है। वाचस्पति ने इसका अर्थ 'विशेषणविशेष्यभावेनकल्पयति' किया है। अर्थात् वह सम्बद्ध वस्तु के गुणों का साक्षात्कार कराता है। जयमङ्गला और चन्द्रिकाकार वाचस्पति का ही समर्थन करते हैं। वाचस्पतिमिश्र का कहना है कि इन्द्रियों से जो सूचना मिलती है वह नामजात्यादियोजनाहीन होने से निर्विकल्पक ही होती है जिसका कोई उपयोग नहीं। मन के योग से उनके विषय का सम्यक् कल्पन होता है और वह नामजात्यादियोजना से सहित सविकल्पक हो जाता है जो ज्ञेय वस्तु को उसका पूर्णरूप प्रदान करता है। यही उस वस्तु का विशेषणविशेष्य भाव से विवेचन है। अपने समर्थन में वाचस्पतिमिश्र ने श्लोकवार्तिक की दो कारिकाएँ उद्धृत की हैं जिन्हें ऊपर के प्रसङ्ग में यहाँ भी उद्धृत किया गया है। सूर्यनारायण शास्त्री का कहना है कि मन तो एक माध्यम का काम करता है। इन्द्रियाँ वस्तु के जिस स्वरूप का साक्षात्कार करती हैं मन उनमें कुछ बढ़ाता घटाता नहीं। श्लोकवार्तिक की कारिकाओं के अनुसार तो मन के द्वारा भी वस्तु के स्वरूप एवं गुणों में विशेषता का आधान होता है। लेकिन यह ठीक नहीं। क्योंकि श्लोकवार्तिक के अनुसार ही इस निर्विकल्पक अवस्था में भी हम वस्तु के सामान्य एवं विशेष स्वरूप का ज्ञान रखते हैं। फिर भी वह ज्ञान सविकल्पक प्रत्यक्ष की अवस्था के ज्ञान की कोटि का नहीं होता। निर्विकल्पक अवस्था में भी हम घट और घटत्व का बोध रखते हैं पर अलग अलग। घटत्वविशिष्ट घट का ज्ञान तो सविकल्पक हो जाता है। इस प्रकार कुमारिलभट्ट का अभिप्राय यही है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भी वस्तु के सामान्य एवं विशेष उभयात्मक रूप

---

१. संकल्पलक्षणव्यापारवत्वं मनस्त्वम्।

का ग्रहण सम्भव है किन्तु वह शुद्ध अर्थात् अलग अलग होता है, सङ्कीर्ण अर्थात् मिश्रित रूप में नहीं।[1]

यहाँ यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार अध्यवसाय रूपी असाधारण व्यापार करनेवाला तत्त्व॰ महत् एवं अभिमान रूपी असाधारण व्यापार करनेवाला अहंकार इन्द्रिय नहीं है, उसी प्रकार संकल्पात्मक असाधारण व्यापार करनेवाला मन भी इन्द्रिय नहीं होना चाहिए। क्योंकि यदि मन को इन्द्रिय स्वीकार करते हैं तो महत् और अहंकार को भी इन्द्रिय मानना होगा। इन्द्रियत्व का आधायक यद्यपि आत्मा का लिंग अर्थात् अनुमापक हेतु होना है तथापि अलग-अलग विषयों के लिये नियत होना ही उनका वास्तविक इन्द्रियत्व है। महत् और अहंकार इन्द्रिय इसलिये नहीं हैं कि उनका विषय नियत नहीं है अपितु वे सर्वविषयक हैं। मन भी चूंकि सर्वविषयक है अतः इसे भी इन्द्रिय नहीं कहा जाना चाहिए। इस बात को ध्यान में रखकर ही कारिकाकार ने 'इन्द्रियं च' का समावेश कारिका में किया है जिसका अभिप्राय यह है कि सभी विषयों का ग्राहक होते हुए भी मन इन्द्रिय है क्योंकि इसका अन्य पाँच ज्ञानेन्द्रियों और पाँच कर्मेन्द्रियों के साथ साधर्म्य है। समानधर्मता इनके उपादान कारण को लेकर है और वह है 'सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न' होना न कि 'आत्मा का अनुमायक' होना। क्योंकि ऐसा मानने पर आत्मा के ज्ञापक होने से महत् एवं अहंकार भी इन्द्रिय कहे जाने लगेंगे। अतः इन्द्रियों में इन्द्रियत्व इनके सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न होने में है। वही इन्द्रिय पद के अपने अर्थ में प्रवृत्ति का निमित्त है। इन्द्र अर्थात् आत्मा का लिंग होना तो केवल इन्द्रिय पद की व्युत्पत्ति का निमित्त है। शब्दों के व्युत्पत्ति और प्रवृत्ति के निमित्तों के भिन्न-भिन्न होने पर प्रवृत्ति-निमित्त को ही बलवान् माना जाता है।[2] वस्तुतः 'इन्द्रिय' शब्द पाचक आदि पदों के समान मात्रयौगिक नहीं है। किन्तु पंकज आदि के समान योगरूढ़ है अर्थात् जिस प्रकार पंक से उत्पन्न होनेवाली सभी वस्तुओं को पंकज नहीं कहते किन्तु पंकज पद की शक्ति पंक से ही उत्पन्न एक वस्तु कमल में निहित है, उसी प्रकार आत्मा के द्योतक सभी तत्त्वों को इन्द्रिय न कहकर केवल उन्हीं को इन्द्रिय कहा जाता है जो सात्त्विक

---

१. निर्विकल्पकबोधेऽपि द्व्यात्मकस्यापि वस्तुनः।
ग्रहणं लक्षणाख्येयं ज्ञात्रा शुद्धं तु गृह्यते॥ श्लोकवार्तिक १।८
२. अन्यद् हि शब्दानां प्रवृत्तिनिमित्तं अन्यच्च व्युत्पत्तिनिमित्तम्।

अहंकार से उत्पन्न होते हैं। यौगिक और रूढ़ अर्थों में यदि रूढ़ अर्थ अंशतः यौगिक भी होता है तो विशुद्ध यौगिक की अपेक्षा वही बलवान् होता है।[1]

यह कहा जा सकता है कि सात्त्विक अहंकार तो एक ही है। उससे एकादश इन्द्रियों की उत्पत्ति कैसे होती है? इसी के लिए कारिका का उत्तरार्द्ध प्रस्तुत है जिसका अभिप्राय यह है कि धर्म-अधर्म रूप जो गुण-परिणाम है, उसके विशेष अर्थात् विभिन्नता से वैकृत, भूतादि तथा तैजस् नामक अहंकार के तथा उक्त एकादश इन्द्रियों के भेद होते हैं।[2] अथवा इन सबके साधारण कारण सात्त्विक अहंकार के एक होने पर भी इनके सहकारी कारण अदृष्ट विशेष के भिन्न-भिन्न होने से विभिन्न अदृष्ट-विशेष सहकृत अहंकार से कार्य में भेद का होना स्वाभाविक ही। पुरुष के उपभोग के लिए ही गुणों की प्रवृत्ति होती है। किन्तु यह उपभोग स्वाभाविक नहीं होता अपितु शब्द आदि विषयों के अनुभव के अनुरूप होता है। वह भी अदृष्ट की सहायता से उपस्थापित शब्दादि के द्वारा ही सम्भव होता है। एक ही इन्द्रिय से शब्दादि (शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध) सभी विषयों की उपस्थिति नहीं हो सकती। इसलिए विषयों के अनुसार उनके अनेक ग्राहकों का होना ही स्वाभाविक है। इस प्रकार अहंकार की ही अनेक इन्द्रियों के रूप में परिणति होती है। इन्द्रियों के अनेक होने की बात का समर्थन उनके बाह्यभेदों की अनेकता से भी सम्भव है, उसी प्रकार एक ही सात्त्विक अहंकार से एकादश इन्द्रियों की उत्पत्ति भी सम्भावित है। कारिका में उक्त 'बाह्यभेदाश्च' में प्रयुक्त 'च' का अर्थ 'इव' है। इसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार अहंकार के एक ही भेद से उत्पन्न बाहरी विषय अनेक होते हैं उसी प्रकार उसके दूसरे अंश में अनेक इन्द्रियों की उत्पत्ति भी युक्त ही है। माठर ने 'बाह्यभेदाश्च' के स्थान पर 'ग्राह्यभेदाच्च' पाठ माना है जिसका अभिप्राय यह है कि कारिका की दूसरी पंक्ति में इन्द्रियों की अनेकता के कारणों का प्रतिपादन हुआ है। प्रथम कारण 'गुणपरिणाम-विशेषात्' तथा दूसरा 'ग्राह्यभेदात्' ही होना चाहिए। चूंकि एकादश इन्द्रियों के ग्राह्य विषय अनेक है अतः उनके ग्राहक इन्द्रियों के भी भेद युक्तियुक्त हैं।

---

१. लब्धात्मिका सती रूढिर्भवेद्योगापहारिणी।
कल्पनीया तु लभते नात्मानं योगबाधतः ।। भट्टपाद।

२. वैचित्र्यात् धर्माधर्मसहकृतगुणविमर्दवैचित्र्यात् अहंकारवैचित्र्यात् परिणामवैचित्र्यम् इति तु परमार्थः।

सांख्य-शास्त्र में इन्द्रियों के निक्षेप का कारण पुरुष, ईश्वर या स्वभाव नहीं माना है अपितु इसी अहंकार में स्थित सत्त्व, रजस् एवं तमस् नाम गुण ही इनके कारण हैं जो बाह्य हैं। इसलिए इनकी अनेकता के कारण हैं गुणों के अनेक अनुपात में मिश्रण के परिणाम तथा बाहरी विषय। चूंकि बाहरी विषय ग्यारह हैं अतः इनके ग्राहक भी ग्यारह ही होने चाहिए।[1] ॥२७॥

पिछली कारिका में मन और उसके असाधारण धर्म संकल्प का निरूपण किया गया है। प्रकृत कारिका में शेष दसों इन्द्रियों की अपनी अपनी असाधारण वृत्तियों का निर्धारण करते हैं:—

रूपादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः।
वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम् ॥२८॥

रूपादिविषयेषु सन्निहितेषु सत्सु तदाकारपरिणामरूपं यत् आलोचनमात्रं प्रकाशनमात्रम् तत् पञ्चानाम् पञ्चज्ञानेन्द्रियाणाम्, वृत्तिः व्यापारः धर्म इति यावत् इष्यते सांख्याचार्यैः। पञ्चानाम् कर्मेन्द्रियाणां च वचनम् नानाविधवर्णोच्चारणं, आदानं ग्रहणम् विहरणम् देशान्तरगमनम् उत्सर्गः मलमूत्रविसर्जनम्, आनन्दश्च एताः वृत्तयः व्यापाराः इष्यन्ते।

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द नामक विषयों के सन्निहित होने पर उनका केवल प्रकाशनमात्र कर देना ही पाँचों ज्ञानेन्द्रियों का व्यापार है। शेष पंचकर्मेन्द्रियों में से वाक् का बोलना, हाथों का ग्रहण करना, पैरों का चलना, पायु का मलमूत्र त्याग करना तथा उपस्थ का आनन्द का अनुभव करना ही व्यापार है।

ज्ञानेन्द्रियों के विषय रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द जब यथावसर अपने प्रकाशक इन्द्रिय के सन्निकर्ष में आते हैं तो इन्द्रियाँ उनके आकार में

---

१. अत्रोच्यते-इह सांख्ये पुरुषेश्वरस्वभावाः न कारणं किन्तर्हि ? अस्मिन्नहंकारे स्थितैः सत्त्वरजस्तमोभिस्त्रिभिर्गुणैर्निक्षेपः कृतः। तस्मात् ब्रूमः—गुणपरिणामविशवेषान्नानात्वं ग्राह्यभेदाच्च। गुणापरिणामविशेषादेकादशेन्द्रियाणां भेदः। ग्राह्यभेदाच्च—ग्राह्या एकादशेन्द्रियार्थाः तेषां भेदादयीयीन्द्रियाणां भेदः। माठरवृत्ति।

परिणत हो जाती हैं। इन्द्रियों का विषय के आकार में परिणत होना ही विषय का प्रकाशन है। इस प्रकार पाँचों इन्द्रियों का व्यापार अपने विषयों का प्रकाशन मात्र कर देना है। उनकी विशेषता का निश्चय इन्द्रियों का नहीं बुद्धि का व्यापार है। अनेक संस्करणों में 'रूपादिषु' के स्थान पर 'शब्दादिषु' इसलिए रखा गया है कि विषयों की गणना उनकी उत्पत्ति के क्रम से शब्द से ही होनी चाहिए पर वह इसलिए उपयुक्त नहीं है कि २६वीं कारिका में ज्ञानेन्द्रियों का परिगणन चक्षु से ही प्रारम्भ किया गया है अतः उसके अनुरूप ही यहाँ पर भी चक्षु के विषय 'रूप' से उनके विषयों के निरूपण का आरम्भ समुचित प्रतीत होता है।[1] कारिका में 'आलोचन' पद का अर्थ ज्ञान नहीं अपितु प्रकाशनमात्र है अर्थात् सन्निकृष्ट वस्तु के विषय में सामान्यात्मक बोध। मात्रपद अविशेष की व्यावृत्ति एवं विशेष के ग्रहण के लिए प्रयुक्त हुआ है जिसका अभिप्राय यह है कि चक्षु रूपमात्र का बोधक है रस आदि का नहीं। कर्मेन्द्रियों में क्रमशः वाक् इन्द्रिय का व्यापार वचन अर्थात् शब्द से अर्थ का प्रतिपादनरूप भाषण है, 'आदान' अर्थात् ग्रहण यह हाथों का व्यापार है, विहरण गमन को कहते हैं जो उत्तरदेश संयोगजनक क्रिया का व्यापार है। उत्सर्ग का अर्थ मलत्याग है जो पायु का व्यापार है। पायु पद से मूत्रेन्द्रिय और गुदा दोनों का ग्रहण होता है। कुछ लोग पायु से केवल पुरीष त्याग करनेवाली इन्द्रिय का ही ग्रहण करते हैं तथा उपस्थ का कार्य आनन्द है जो मूत्र-त्याग एवं रमण में सम्पन्न होता है। अथवा स्त्री-पुरुष के जननेन्द्रिय की संसृष्टि एवं उसके परिणामस्वरूप रजवीर्य के स्खलन से होने वाला सुख ही आनन्द है जो उपस्थ इन्द्रिय का व्यापार है।[2] 'मात्र' पद के अर्थ में भी विसम्वाद है। माठर का कहना है कि 'मात्र' पद का प्रयोग यह बताने के लिए हुआ है कि ज्ञानेन्द्रियाँ केवल अपने ही विषय का बोध कराने में समर्थ हैं।[3] चक्षु केवल

---

१. चक्षुरादिक्रमेण पूर्वमिन्द्रियाणामभिधानात् 'शब्दादिषु' इति पाठो न सन्निवेशितः। बालराम।

२. आनन्दनमानन्दो ह्लादः शुक्रविसृष्टिसंसृष्टिसुख तदुपस्थेन्द्रियवृत्तिः।
जयमङ्गला।

३. मात्रशब्दो विशेषार्थः।..... आलोचनमात्रमिति एकैकस्य बुद्धीन्द्रियं स्वस्वविषयग्रहणसामर्थ्यमेव। नहि चक्षुः श्रवणसमर्थं दानादानसमर्थं वा।
॥ माठरवृत्ति।

रूप का ही प्रकाशक है और घ्राण केवल गन्ध का। इनमें कोई भी अपने से अतिरिक्त विषय का बोध नहीं करा सकतीं। पर जयमङ्गलाकार ने 'मात्र' का दूसरा ही अर्थ किया है कि ज्ञानेन्द्रियों का कार्य अपने विषयों का आलोचन अर्थात् प्रकाशनमात्र है न कि उनका कोई विशेष विवरण प्रस्तुत करना। उदाहरणतः चक्षु से केवल यही जाना जा सकता है कि यह कोई रूप है। किसका रूप है तथा कौन सा रूप है? यह सब चक्षु का कार्य न होकर बुद्धि का है।[1] गौडपाद ने भी माठर का ही अनुसरण किया है पर जयमङ्गलाकार का अर्थ ही प्रसङ्गानुरूप होने से समुचित प्रतीत होता है। 'आलोचनमात्रं न तु विशेषकथनम्।

यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि आनन्द तो बुद्धि का धर्म है जो ज्ञानात्मक होता है। वह उपस्थ इन्द्रिय का व्यापार कैसे हो सकता है? यह ठीक है। अतः यहाँ पर 'आनन्द' पद से आनन्द के हेतु भूत स्त्री-पुरुष के संस्पर्श का ग्रहण करना चाहिए। गौडपाद ने उसे सुतोत्पत्तिविषयक वृत्ति (व्यवहार) कहा है[2] ॥२८॥

ज्ञान के कारण तेरह माने गये हैं जिनमें से दस बाह्य एवं तीन अन्तःकरण कहे जाते हैं। बाह्यकरण ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ हैं जिनका साक्षात् सम्बन्ध बाहरी विषयों से होता है। इन दस बाह्य वृत्तियों का निरूपण पूर्वकारिका में किया जा चुका है। अब तीनों अन्तःकरणों के व्यापार के निरूपणार्थ अगली कारिका का अवतरण करते हैं।

स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या।
सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च ॥२९॥

त्रयस्य बुद्ध्यहङ्कारमनोरूपान्तःकरणत्रयस्य, स्वालक्षण्यं स्वकीयानि स्वकीयानि लक्षणान्येव अथवा स्वात्मीयं लक्षणं यस्य तत् स्वलक्षणं तस्य भावः स्वालक्षण्यम्। तदेव वृत्तिः व्यापारः भवति अर्थात् अन्तःकरणत्रयेषु यस्य यल्लक्षणं तदात्मिका एव तस्य वृत्तिः भवति इत्यर्थः। सा च एषा स्वालक्षण्य-

---

१. श्रोत्रादीनि हि विषयस्य प्रकाशनमात्रं कुर्वन्ति। निश्चयं तु बुद्धिः। तथाहि बुद्ध्यवसितमर्थं पुरुषः चेतयते इति सिद्धान्तः॥ जयमङ्गला॥
२. उपस्थस्यानन्दः सुतोत्पत्तिविषया वृत्तिः। गौडपाद।
३. स्वालक्षण्या पाकान्तरम् — माठरवृत्तिः, गौडपादः।

रूपा वृत्तिः असामान्या असाधारणी अर्थात् या यस्य सा तस्यैव नान्येषामपि भवति । प्राणाद्याः प्राणापानव्यानोदानसमाना. इति पञ्चवायवः सामान्यकरण-वृत्तिः त्रयाणामपि करणानां सामान्यवृत्तिः व्यापारः भवतीति शेषः ।

अपने अपने लक्षण के अनुसार बुद्धि, अहंकार तथा मन की जो वृत्तियां हैं वह उनका असाधारण अर्थात् अपना अपना व्यापार है । इन तीनों का अन्तः करण के रूप में सम्मिलित व्यापार भी है और वह है प्राण, अपान, उदान, व्यान तथा समान नामक पांच प्रकार के वायु ।

अपना अपना विशेष लक्षण ही स्वलक्षण है ।[1] उसी से स्वार्थ में ष्यञ् प्रत्यय होकर स्वालक्षण्य पद व्युत्पन्न होता है जिसका अर्थ है अपने अपने लक्षण के अनुरूप होना । बुद्धि, अहंकार एवं मन तीनो का अपना अपना अलग-अलग भी व्यापार होता है, सम्मिलित रूप से भी । माठर तथा गौडपाद ने स्वालक्षण्या पाठ मानकर इसे 'वृत्तिः' का विशेषण कहा है—स्वलक्षणस्वभावा स्वालक्षण्या ।'

बुद्धि का लक्षण अध्यवसाय है अतः उसकी अपनी विशेष वृत्ति अध्यव-सायात्मक अर्थात् निश्चयात्मक ही है । अहंकार का लक्षण अभिमान है अर्थात् 'मैं हूँ', 'मेरा यह है' इस प्रकार की भावना । यही अभिमान अहंकार का अपना विशेष व्यापार भी है । इसी प्रकार मन का लक्षण है संकल्प । यही संकल्प मन का अपना विशेष व्यापार भी है । 'असामान्या' पद 'वृत्तिः' का विशेषण है जिसका अर्थ है विशेष अर्थात् असाधारण जिसमें अन्यों का साझा नहीं होता । इन तीनों अन्तःकरणों का साधारण अर्थात् सम्मिलित व्यापार भी होता है और वह है पंच प्राण । 'सामान्यकरण वृत्तिः' का विग्रह है 'सामान्या चासौ करणवृत्तिश्च' । प्राण का संचार नासिका, हृदय, नाभि, पैर तथा अंगुष्ठ तक में होता है । अपान, घण्टी, पीठ, पैर, पायु, उपस्थ तथा पार्श्व में संचरण करता है । इसी तरह समान हृदय नाभि तथा सभी जोड़ों में संचरण करता है । उदान हृदय, कण्ठ, तालु, मूर्धा तथा भौहों के बीच में संचरण करता है । व्यान का संचरण त्वचा में होता है । इनकी व्याख्या दूसरे तरह से भी की गई है—अन्न के पचाने तथा उसके द्वारा शरीर धारण

---

१. स्वम् असाधारणं लक्षणं येषां तानि स्वलक्षणानि महदहंकारमनांसि तेषां भावः स्वालक्षण्यम् । तत्त्वकौमुदी ।

करने से ही इसका नाम प्राण, मलमूत्र के अपनयनकारी होने से अपान, नाड़ियों में समान रूप से रस के संचार करने से समान, रस आदि तत्त्वों को ऊपर ले जाने से उदान तथा कठोर कर्म में सहायक होने से व्यान की संज्ञा दी गई है। प्रणादि पंचवायु अन्तःकरण की वृत्ति अर्थात् जीवन हैं क्योंकि जहां अन्तः-करण है, वहीं पर प्राणादि का व्यापार होता है।[1] प्राणादि के व्यापार के अभाव में वहाँ अन्तःकरण की सत्ता नहीं मानी जाती है।

'सामान्यकरणवृत्ति' पद के अर्थ में एक विसम्वाद यह है कि 'करण' पद का प्रयोग त्रिविध अन्तःकरण के लिए किया गया है या त्रयोदश प्रकार के करण के लिए। वाचस्पति मिश्र ने पहला पक्ष ग्रहण किया है। 'त्रयाणामपि करणानां पञ्चवायवो जीवनवृत्तिः।' जबकि शेष सभी टीकाकारों ने यहाँ करण से बाह्या-भ्यन्तर उभयविध तेरहों करणों का ग्रहण किया है।[2] सर्वेषामिन्द्रियाणां सामान्यवृत्तिः। सांख्य-सूत्र (२।३१) की व्याख्या में विज्ञान भिक्षु ने करण का अन्तःकरण ही अर्थ किया है। किन्तु योगसूत्र (३।३९) के भाष्य पर की गई अपनी टीका में वाचस्पति मिश्र ने प्राणादि के लिए प्रयुक्त विशेषण 'समस्तेन्द्रियवृत्ति' पद की व्याख्या करते हुए इसे 'सर्वकरणसाधारण' कहा है। गाढ़निद्रा में जब सभी बाह्येन्द्रियाँ शान्त रहती हैं तब भी प्राणादि का संचार होता रहता है। इसलिए इन्हें बाह्येन्द्रियों की सामान्यवृति नहीं मानना चाहिए।

यहाँ पर कुछ विचार और अवशिष्ट रह जाता है। यह तो हम जानते हैं कि मूलप्रकृति से महत्तत्त्व की उत्पत्ति होती है। महत्तत्त्व में दो प्रकार की शक्तियाँ निहित रहती हैं—ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति। महत्तत्त्व का अंश

---

१. प्राणापानोदानसमानव्यानाः सर्वेषामिन्द्रियाणां सामान्यं कुर्वन्ति।
प्राणनात् प्राण एष इत्यभिधीयते। ...... इतश्चापक्रमणादपानः आरोहणादर्थोत्कर्षे उदान इत्यभिधीयते। ......हृद्यवस्थानं सहभावश्च तेन समानः। आनखादाकेशांतं शरीरं व्याप्य अनति चलतीति व्यानः।

२. प्राणनात् प्राण इत्यभिधीयते। अस्मिन्प्राणे यत्स्पन्दनकर्म तत्कतमेन कृतम्
(क) अत्रोच्यते—त्रयोदशविधेन करणेन कृतम्। यतश्चैव तस्मात् प्राणकर्म सर्वस्य करणग्रामस्य वृत्तिः सामान्या। माठरवृत्ति।
(ख) एते (वायवः) त्रयोदशानामपि करणानां सामान्यवृत्तिः। जयमङ्गला।
(ग) एवमेते पञ्चवायवः सामान्यकरणवृत्तिरिति व्याख्याता त्रयोदशविध-स्यापि करणसामान्यस्य वृतिरित्यर्थः। गौडपाद भाष्य।

होने से अंतःकरण में भी ये दोनों शक्तियाँ विद्यमान रहतीं हैं। यही अन्तःकरण ज्ञानशक्ति की दृष्टि से बुद्धि, मन तथा चित्त कहा जाता है। तथा क्रियाशक्ति की दृष्टि से इसी को प्राण कहते हैं । अतः क्रिया-व्यापार से युक्त उसी अंतःकरण को मुख्य रूप से प्राण कहा जाता है। व्यापार अर्थात् क्रिया का क्रिया-वान् से भेद वास्तविक नहीं अपितु औपचारिक ही होता है। इसीलिए क्रिया-शक्ति-प्रधान अन्तःकरण का एक विशेष व्यापार ही प्राण है ऐसा प्रायः सभी दार्शनिक मानते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में तो कहा है कि न वाणी, न नेत्र, न श्रोत्र और न मन, बाह्य विषयों की सूचना देते है अपितु यह प्राण ही यह सब काम करता है।[1] इस प्रकार वाक् एवं चक्षु के समान मन भी प्राण के प्रति गौण ही है, अतः उक्त विधान ज्ञान-शक्ति की अपेक्षा क्रिया-शक्ति का प्राधान्य लेकर ही किया गया है ॥२९॥

तीनः अंतःकरण मन, अहंकार तथा बुद्धि एवं दस बाह्यकरणों के अपने अपने विशेष व्यापार का निरूपण पूर्व की कारिकाओं में किया गया है। बाह्यकरण रूप इन्द्रियों का असाधारण व्यापार आलोचन अर्थात् बाह्य जगत् के विषय में सूचना प्रदान करना है। अन्तःकरणों में मन से संकल्प-विकल्प तथा अहंकार से अभिमान होता है। बुद्धि निश्चय का काम करती है। इन सबके के कार्य अलग अलग होते हैं। इन कार्यों में कहां क्रम है और कहां क्रम नहीं है, अर्थात् कहां ये पूर्वापरभाव से सम्पन्न होते हैं तथा कौन सी क्रिया युगपत् (एक ही समय) सम्पन्न होती है, इसके निरूपण के लिए अगली कारिका का अवतारण किया जाता है:—

युगपच्चतुष्टयस्य तु[2] वृत्तिः क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा ।
दृष्टे तथाप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः ॥३०॥

दृष्टे प्रत्यक्षस्थले तु चतुष्टयस्य बाह्येन्द्रियमनोऽहंकारमहत्तत्त्वस्य तस्य युगपत् अक्रमेण एककालावच्छेदेनेति यावत्, क्रमशः क्रमेण च वृत्तिः व्यापारः, निर्दिष्टा सांख्याचार्यैरभिहिता । अदृष्टे, अप्रत्यक्षे अनुमानादिस्थले त्रयस्य अंतः-करणत्रितयस्य मनोहंकारमहत्तत्त्वस्य, तथा तद्वत् युगपत् क्रमशश्च, तत्पूर्विका प्रत्यक्षपूर्विका वृत्तिः व्यापारो भवतीति शेषः ।

---

१. न वै वाचो न चक्षूंषि न श्रोत्राणि न मनांसि इत्याचक्षते ।
प्राण इत्येव आचक्षते । प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति । छा० उ० ५।१।१५

२. हि इति पाठान्तरम् (माठरवृत्ति)

प्रत्यक्ष के विषय में मनबुद्धिअहंकार रूप तीनों अन्तःकरण तथा बाह्य इन्द्रियों की क्रिया कभी युगपत् अर्थात् एक साथ तथा कभी क्रमशः एक के बाद दूसरे के क्रम से हुआ करती है--ऐसा सांख्याचार्यों का निर्देश है। अनुमानादि स्थलों में, जो प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं, तीनों अंतःकरणों की क्रिया के पहले प्रत्यक्ष की प्रक्रिया हो लेती है।

इन्द्रियगोचर पदार्थों के विषय में अन्तर और बाह्य उभयविध करणों की प्रवृत्ति एक साथ भी सम्भव है और क्रम से भी। मेघाछन्न रात्रि के गहन अंधकार में सहसा विद्युत् सम्पात से पांवों के समीप सर्प के दृष्टिगोचर होने पर उभयविध करणों के आलोचन, संकल्प, अभिमान एवं अध्यवसाय चारों क्रियाएँ एक साथ एक ही काल में सम्पन्न हो जाती हैं। यही कारण है कि व्यक्ति कूद कर एक क्षण में ही उस स्थान से दूर हो जाता है। इस अवसर पर इन्द्रियाँ और अन्तःकरण युगपत् काम करने लग जाते हैं। किन्तु मन्द प्रकाश में किसी वस्तु को सामने देखकर व्यक्ति उसके विषय में सोचने लगता है कि यह क्या है? और जब उसे समझ में आता है कि 'यह कोई पशु है जो मेरी ही तरफ आ रहा है तो यहाँ से शीघ्र भागना चाहिए', इसका निश्चय उसकी बुद्धि करती है। इस प्रकार यहाँ आलोचन, संकल्प—विकल्प, अभिमान तथा भागने का निश्चय ये वृत्तियाँ क्रम से सम्पन्न होती हैं।

यहाँ कारिका में उक्त 'निर्दिष्टा' पद इस आशय का द्योतक है कि अन्तःकरण से इन्द्रियों की युगपत् क्रियाकारिता का सिद्धांत सांख्याचार्यों को भी मान्य है। नैय्यायिकों का मत इससे भिन्न है। उनका कहना है कि अर्धदग्ध काष्ठ के समान ज्ञानों का भी संचार बहुत शीघ्रता से होता है जिसके फलस्वरूप उनमें निहित क्रम लक्षित नहीं होता।[1] क्योंकि मन के एक तथा अणु परिमाण होने से वह विभिन्न स्थानों में निहित इन्द्रियों का अधिष्ठाता युगपत् नहीं हो सकता अपितु क्रम से ही होता है। कभी कभी यह क्रिया इतनी शीघ्र होती है कि वह लक्षित नहीं होती। इसीलिए यही मानना ठीक है कि अन्तः एवं बाह्यकरणों की वृत्तियों का एक साथ सम्पन्न होना सम्भव नहीं है।[2] उनमें क्रम अवश्य हैं किन्तु उत्पलशतपत्र भेदन के समान वह क्रम लक्षित नहीं होता।

---

१. आलात् चक्रदर्शनवत्तदुपलब्धिराशुसंचारात्। न्याय सूत्र ३।२।६१
२. न युगपदनेकक्रियोपलब्धेः। न्यायसूत्र ३।२।५७

इसीलिए नैय्यायिक मन को एक ही मानते हैं।[1] तथा उसे अणु-परिमाण भी कहते हैं।[2] किन्तु नैयायिकों के विपरीत सांख्यशास्त्रकार मन को मध्यम परिमाण मानते हैं। अतः अंग प्रत्यंग में व्याप्त होने से एक साथ ही वह अनेक इन्द्रियों का अधिष्ठाता हो सकता है। जहां तक क्रम का प्रश्न है, जब उसका हमें अनुभव ही नहीं होता तो उसके होने में कोई प्रमाण नहीं। इसीलिए सांख्यसूत्र में भी कहा है कि इन्द्रियों की क्रियायें क्रमशः और अक्रमशः (एक साथ) दोनों प्रकार से होती हैं।[3]

विषय के परोक्ष होने पर चूंकि बाह्येन्द्रियों की वृत्तियां सम्भव नहीं हैं, अतः वहां केवल मन, अहंकार एवं बुद्धि तीनों अन्तःकरण के ही व्यापार होते हैं। अदृष्ट से यहां अनुमान तथा शब्दप्रमाण गम्य स्वर्ग, अपूर्व तथा देवता आदि एवं स्मृति के विषय पितर आदि का ग्रहण होता है। तत्पूर्विका-वृत्ति से अभिप्राय प्रत्यक्षपूर्विका वृत्ति से है। क्योंकि अनुमेय विषय में व्याप्ति-ज्ञान के लिये तथा शब्दप्रमाणगम्य विषय में शक्तिग्रह के लिये प्रत्यक्ष अपेक्षित होता है। यहाँ तक कि स्मृति में संस्कार के उद्बोध के लिये भी उस विषय का पूर्वानुभव होना चाहिए। 'तथाप्यदृष्टे' इसमें पठित 'अपि' शब्द को भिन्न क्रम से 'यथा दृष्टे तथा अदृष्टे अपि' के रूप में पढ़ना चाहिए जिसका अर्थ है जिस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभव में चारों करणों की प्रवृत्ति युगपत् एवं क्रमशः होती है उसी प्रकार प्रत्यक्ष से भिन्न अनुमान शब्द एवं स्मृति आदि स्थलों में भी इनकी प्रवृत्ति उभयतः होती है ॥३०॥

चतुर्विध करणों की युगपत् और क्रमशः वृत्तियों के सम्पन्न होने के सिद्धांत को स्वीकार कर लेने पर एक प्रश्न यह उठता है कि प्रत्यक्ष की क्रिया में केवल बुद्ध्यादि अन्तःकरण ही साधक हैं या और भी कोई निमित्त अपेक्षित होता है ? क्योंकि केवल बुद्ध्यादि को ही उसका हेतु मानने पर बुद्ध्यादि अन्तः एवं बाह्य करण तो निरन्तर विद्यमान रहते हैं फिर उनकी आलोचन, संकल्प, अभिमान एवं निश्चयात्मिका वृत्तियाँ सदैव क्यों नहीं होती रहतीं ? यदि इन वृत्तियों के उद्भव को निर्हेतुक अर्थात् आकस्मिक मानेंगे तो एक इन्द्रिय की क्रिया के समय दूसरी इन्द्रिय की क्रिया स्वतः क्यों नहीं होती ? अथवा कभी

---

१. ज्ञानायौगपद्यात् एकं मनः न्या० सू० ३।२।५६
२. यथोक्तहेतुत्वात् चाणुः। न्या० सू० ३।२।५७
३. क्रमशोऽक्रमशश्चेन्द्रियवृत्तिः। सां० सू० २।३२

चक्षु से ही शब्द का, श्रोत्र से ही रूप का एवं मन से निश्चय का तथा बुद्धि से ही संकल्प का व्यापार होना चाहिए। ऐसा क्यों नहीं होता इसका निरूपण अगली कारिका में करते हैं—

स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते परस्पराकूतहेतुकां[1] वृत्तिम्।
पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित्कार्यते करणम्॥३१॥

(करणानि) परस्पराकूतहेतुकाम् परस्परस्य आकूतं स्वकार्यकरणोन्मुखत्वम् हेतुर्यस्याः तादृशीं, स्वां स्वां स्वकीयां स्वकीयां वृत्तिं प्रतिपद्यन्ते प्राप्नुवन्ति। एषां प्रवृत्तौ पुरुषार्थ एव पुरुषस्य प्रयोजनमेव हेतुः कारणम्। (अन्येन) केनचित् अधिष्ठात्रा करणं बुद्ध्यादि न कार्यते न व्यापार्यते विविधासु क्रियासु।

उक्त चतुर्विध अन्तःकरण एक दूसरे की क्रिया का अन्दाज लगाकर ही अपनी क्रिया सम्पन्न करते हैं। इनकी प्रवृत्ति का कारण पुरुष का (भोगापवर्ग रूप) प्रयोजन है। अन्य कोई ऐसा तत्त्व नहीं है जो इन (अन्तर्बाह्य) करणों को तत्तद् कार्यों में लगावे।

इस कारिका में यह बताया गया है कि इन्द्रियों की प्रवृत्ति का प्रेरक तत्त्व क्या है? तथा वे क्यों कभी क्रम से तो कभी एक साथ क्रियाशील होती हैं? जिस प्रकार संग्रामभूमि में अनेक सैनिक अनेक शस्त्रों से सुसज्जित होते हैं और संकेत पाकर शत्रु पर आक्रमण करते हैं। वहाँ वे एक दूसरे के अभिप्राय को समझते हुए प्रवृत्त होते हैं। किन्तु प्रवृत्त होने पर जिसके पास जो हथियार होता है उसी का वह प्रयोग करता है। ठीक इसी प्रकार बाह्याभ्यन्तर उभयविध करणों की भी वृत्तियाँ सम्पन्न होती हैं। एक करण की क्रिया दूसरे को संकेत देती है। खरखराहट सुनकर नेत्र उधर देखने लगते हैं। दण्डाकार किसी वस्तु को देखकर मन में सर्पादि का संकल्प-विकल्प स्वतः होने लगता है। अनन्तर हानि-लाभ का बोध जाग्रत होने पर बुद्धि यह निश्चय करती है कि क्या होना चाहिए। उभयविध करण अपनी प्रवृत्ति का हेतु स्वतः नहीं हो सकते। क्योंकि वे जड़ हैं अपितु भोगापवर्गलक्षण पुरुषार्थ ही अनागत रूप में अवस्थित होकर इन्हें तत्तद् क्रियाओं में प्रवृत्त कराता है। यहाँ पर पुरुषार्थ के अतिरिक्त अन्य किसी हेतु की कल्पना करना संगत नहीं है। इसलिए ये करण ईश्वर या जीव किसी के भी द्वारा प्रवृत्त नहीं कराए जाते। इनकी स्वतः प्रवृत्तिशीलता का निरूपण आगे ५७वीं कारिका में करेंगे। सांख्य के

---

१ परस्पराकूतहेतुकीम् इति पाठान्तरम्। जयमङ्गला।

सत्कार्यवाद सिद्धांत के अनुसार भोग और अपवर्ग यद्यपि आगे होने वाले हैं तथापि वे गुणों में निहित होते हैं। इस प्रकार वे प्रकृतिगत होने से ही अनागत हैं। वे ही प्रवर्तक हैं। गुणों की प्रवृत्ति तभी तक होती रहती है जब तक वे भोग या अपवर्ग की सिद्धि नहीं करा लेते। भोग और अपवर्ग के सम्पन्न हो जाने पर इनका प्रवृत्त करने का अधिकार भी समाप्त हो जाता है और ये स्वतः निवृत्त हो जाते हैं। यही सांख्य-सिद्धान्त है।

'आकूत' शब्द का अर्थ माठर ने अभिप्राय किया है 'आकूत नामाभिप्रायः'। जयमङ्गलाकार ने इसे 'स्ववृत्तिभोग' कहा है तथा 'आकूतहैतुकीं' पाठ माना है।[1] वाचस्पति मिश्र ने इसका अर्थ 'अपना कार्य करने में अभिमुख होना' किया है। इस प्रकार इसका अर्थ हुआ एक दूसरे के अभिप्राय को समझते हुए, अपनी विशेष क्रिया को सम्पन्न करते हुए तथा 'अहमहमिकया' अपने कार्य करने की ओर ओर अग्रसर होते हुए। सम्प्रति कौन सी वृत्ति काम कर रही है ? मेरा अवसर कब आयेगा ? इत्यादि के ऊहापोह को ही आकूत कहेंगे। गौडपाद ने इसी को 'आदरसंभ्रम' कहा है। कॉलब्रुक ने इसे (incited by mutual invitation) 'परस्पर के आमन्त्रण से उत्तेजित' कहा है तो विल्सन ने इसकी व्युत्पत्ति आ+कूङ् (गतौ) से क्त प्रत्यय के अनुसार इसका अर्थ 'क्रिया के लिए होने वाली उत्तेजना' किया है।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि करण तो स्वतः जड़ हैं। आलोचन, संकल्प, अभिमान एवं अध्यवसाय की क्रियाएँ इनसे कैसे सम्पादित की जाती हैं। न्याय-दर्शन ईश्वर को इनका प्रेरक मानता है और ईश्वर की इच्छा के अनुसार ही इनकी अपनी अपनी क्रियाओं में प्रवृत्ति होती है। वेदांती इन करणों की क्रियाशीलता का प्रवर्तक तत्त्व जीव को ही मानता है। इन दोनों पक्षों का निराकरण करने के लिए ही यहाँ कारिका में 'न केनचित् कार्यते करणम्' का अभिधान हुआ है जिसका अभिप्राय यह है कि करणों की अपनी अपनी क्रियाओं में

---

१. परस्परस्य यदाकूतं स्ववृत्तिभोगस्तदेव हेतुः। तत्प्रसूतां परस्पराकूतहैतुकीं वृत्तिं चत्वारि करणानि प्रतिपद्यन्ते। जयमङ्गला।

२. तथान्यतमस्य करणस्य आकूतात् स्वकार्यकरणाभिमुख्यात् अन्यतमं करणं प्रवर्तते ॥ तत्त्वकौमुदी।

प्रवृत्ति का कारक ईश्वर या जीव कोई नहीं है। अपितु पुरुष के भोग एवं अपवर्ग नामक प्रयोजन की सिद्धि के लिए ये करण स्वतः प्रवृत्त हो जाते हैं। आलोचन आदि क्रियाएँ करना इनका स्वभाव है। जहाँ तक स्वभाव का संबंध है वह कोई पदार्थ नहीं होता।[1] अतएव जयमङ्गलाकार ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि प्रधान अर्थात् मूलप्रकृति से भिन्न कोई अन्य शक्ति बुद्धि आदि करणों को उनकी क्रियाओं में प्रवृत्त नहीं करती।[2] पुरुष इन क्रियाओं का कर्त्ता नहीं अपितु प्रकृति का अधिष्ठाता है।

वाचस्पति मिश्र 'केनचित्' की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि अचेतन-करण स्वयं किसी क्रिया में प्रवृत्त नहीं हो सकते। इनका कोई अधिष्ठाता ऐसा होना चाहिए जो इनके काम करने की सामर्थ्य एवं विधि को समझकर इनका उपयोग करे। इसी आशंका के समाधान के लिए कहा है—कि पुरुषार्थ ही इनकी प्रवृत्ति का हेतु एवं प्रयोजन दोनों हैं। अनागत रूप में वही इन्हें आलोचनादि क्रियाओं में प्रवृत्त कराता है।[3] आगे ५७वीं कारिका 'वत्स-विवृद्धिनिमित्तम्' में इसकी व्याख्या विस्तारपूर्वक की जायेगी।

इस प्रकार सांख्य-सूत्र 'स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता' तथा 'ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा'[4] में प्रतिपादित ईश्वर की सत्ता एवं उसके कर्तृत्व के सिद्धांत का यहाँ खण्डन हो जाता है। इसीलिए सांख्यकारिका को निरीश्वर सांख्य का प्रतिनिधि ग्रन्थ माना जाता है ॥३१॥

---

१. यदप्युक्तम्—अचेतनानि करणानि कथं प्रवर्तन्ते इति अत्र ब्रूमः न केनचित् नेश्वरेण नापिपुरुषेण। स्वभावो नाम कश्चित्पदार्थो नास्ति। यस्मात्स्वयमेव च त्रयोदशविधं करणं स्वे स्वे विषये प्रवर्तते इति। माठरवृत्ति।

२. नन्वीश्वरः कर्त्ता जगतः, स एव बुद्ध्यादिकलापः सृष्टवान् येन पुरुषार्थः सम्पद्यते। तथा चोक्तम्—ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा इति। तत्राह—न केनचित् कार्यते करणम् इति। प्रधानव्यतिरेकेण न कश्चिद्बुद्ध्यादिकरणं स्वां स्वां वृत्तिं कारयतीत्यर्थः। जयमङ्गला।

३. भोगापवर्गलक्षणः पुरुषार्थ एव अनागतावस्थः प्रवर्तयति करणानि, कृतमत्र तत्स्वरूपाभिज्ञेन कर्त्रा। तत्त्वकौमुदी॥

४. सांख्य-सूत्र ३।५६।५७

पूर्व कारिका में जिनकरणों की स्वतः प्रवृत्ति का उल्लेख हुआ है उनके भेद, प्रयोजन तथा सम्पाद्य कार्यों का विवरण प्रस्तुत करते हैं—

करणं त्रयोदशविधं तदाहरणधारणप्रकाशकरम् ।
कार्यं च तस्य दशधा, हार्यं धार्यं प्रकाश्यं च ॥३२॥

क्रियते अनेन इति करणम् तच्च त्रयोदशविधम् एकादशेन्द्रियाणि बुद्धि-रहंकारश्चेति योगात् त्रयोदशप्रकारकं भवतीति शेषः, तत् त्रयोदशविधं करणं, आहरणम् वागादिकर्मेन्द्रियाणां कर्म, धारणम् बुद्धयहंकारमनसां व्यापारः; स च स्ववृत्तिप्राणादिपञ्चद्वारादेहधारणात्, प्रकाशो ज्ञानेन्द्रियाणां व्यापारः तस्य त्रयोदशविधकरणस्य च आहार्यं धार्यं प्रकाश्यं चेति दशधा दशप्रकारकं कार्यं विषयः अस्ति इति शेषः ।

करण तेरह प्रकार के होते हैं जो बाह्य विषयों का आहरण, धारण और प्रकाशन करते हैं । ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा प्रकाश्य, कर्मेन्द्रियों के द्वारा आहार्य तथा मन, बुद्धि एवं अहंकार रूप अन्तःकरण के द्वारा धारण किये जाने वाले इनके विषय दस प्रकार के होते हैं ।

भोगापवर्ग रूपी पुरुषार्थ-क्रिया की सिद्धि में अत्यन्त उपकारक होने से पंचज्ञानेन्द्रियों, पंचकर्मेन्द्रियों तथा मन, अहंकार एवं बुद्धि की 'करण' यह अन्वर्थ संज्ञा है । ये उक्त प्रकार से तेरह हैं । चूंकि बिना व्यापार के कारकत्व ही नहीं बनता, करणत्व तो दूर की बात है अतः करण पद से व्यापार का बोध स्वतः हो जाता है । जिसमें से एक व्यापार है—आहरण, जिसका अर्थ है अपने विषय का उपादान । यह व्यापार कर्मेन्द्रियों के द्वारा सम्पन्न होता है । ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा विषय का बोध होने पर कर्मेन्द्रियाँ अपने व्यापार से उस विषय वस्तु को प्राप्त करती हैं । चाहे वह उपलब्धि वचन से हो, आदान से हो, विहरण से हो, उत्सर्ग से हो या आनन्द की उत्पत्ति से हो । बुद्धि, अहंकार और मन अपनी अपनी अध्यवसाय, अभिमान एवं संकल्प-वृत्ति से प्राणादि के द्वारा शरीर को धारण करते हैं । इस प्रकार धारण व्यापार सम्पन्न होता है । बाह्य वस्तु के सन्निकर्ष में आने पर ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा उसके प्रकाशन का व्यापार सम्पन्न होता है । इस प्रकार 'आहरणकारिता कर्मेन्द्रियों में, धारणकारिता बुद्धि आदि में तथा प्रकाशकारिता ज्ञानेन्द्रियों में

है', यह मत वाचस्पति मिश्र का है।[1]

गौडपाद के अनुसार विषयों का आहरण (ग्रहण) एवं धारण दोनों कार्य कर्मेन्द्रियाँ ही कर लेती हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ उनका प्रकाशनमात्र करती हैं। अतः ज्ञानेन्द्रियों से प्रकाशित कार्य का ही कर्मेन्द्रियों से आहरण एवं धारण होता है।[2] यहाँ अन्तःकरण के कार्य का विवरण नहीं दिया है। सम्भवतः उनका अभिमत है कि अन्तःकरण के क्रियाकलाप का निरूपण अग्रिम कारिका में किया जायेगा। माठरवृत्ति में ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय तथा मन इन ग्यारह इन्द्रियों को बाह्य विषयों का आहरक, अहंकार को धारक तथा बुद्धि को प्रकाशक माना है।[3] यह व्याख्या युक्त इसलिए प्रतीत होती है कि आगे कारिका में ही इनके आहार्य, धार्य एवं प्रकाश्य कार्य को दशधा कहा है। शब्द स्पर्श रूपरस और गन्ध ज्ञानेन्द्रियों के ग्रहण के विषय हैं तो वचन, आदान, विहरण उत्सर्ग एवं आनन्द कर्मेन्द्रियों के। मन का योग दोनों वर्ग के लिए अपेक्षित होता है। इन्द्रियों से गृहीत इन्हीं विषयों का धारण अहंकार से तथा प्रकाशन बुद्धि से होना सर्वथा उपयुक्त एवं युक्तियुक्त है। किन्तु माठरवृत्ति में ही आगे चलकर कहा है कि बुद्धीन्द्रियों से प्रकाशित विषय का ही कर्मेन्द्रियाँ आहरण (ग्रहण) एवं धारण करती है। दृष्टान्त देकर भी यही समझाया है कि जैसे अंधकार में स्थित घट का प्रदीप की सहायता से ज्ञानेन्द्रिय चक्षु प्रकाशन करती है तथा कर्मेन्द्रियों में से हाथ उसका ग्रहण कर धारण करता है।[4] जयमङ्गलाकार का पक्ष वही है जिसका उल्लेख ऊपर वाचस्पति मिश्र के नाम

---

१. कारकविशेषः करणम्। तत्र कर्मेन्द्रियाणि वागादीन्याहरन्ति, यथास्वमुपाददते, स्वव्यापारेण प्राप्नुवन्तीति यावत्। बुद्ध्यहंकार मनांसि तु स्ववृत्त्या प्राणादिलक्षणया धारयन्ति। बुद्धीन्द्रियाणि प्रकाशयन्ति। तत्त्वकौमुदी।

२. तत्राहरणं धारणञ्च कर्मेन्द्रियाणि कुर्वन्ति, प्रकाशं बुद्धीन्द्रियाणि। ... शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाख्यं, वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दमेतद्दशविधं कार्यं बुद्धीन्द्रियैः प्रकाशितं कर्मेन्द्रियाण्याहरन्ति धारयन्ति चेति॥

।गौडपादभाष्य।

३. तत्राहारकमिन्द्रियलक्षणम्। धारकमभिमानलक्षणम्। प्रकाशकं बुद्धिलक्षणम्। माठरवृत्ति।

४. तं दशविधं विषयं बुद्धीन्द्रियैः प्रकाशितमर्थं कर्मेन्द्रियाण्याहरन्ति धरन्ति च॥ वही।

से किया जा चुका है। अर्थात् ज्ञानेन्द्रियाँ विषय का प्रकाशन करती हैं। कर्मेन्द्रियाँ आहरण (ग्रहण) तथा मन बुद्धि अहंकार तीनों अन्तःकरण मिलकर उसका धारण करते हैं।[1]

आहरण धारण और प्रकाशन क्रियाएँ सकर्मक हैं अतः यहाँ इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक है कि इन क्रियाओं का कर्म क्या है? तथा वह कितने प्रकार का होता है? इसी के उत्तर में कारिका में कहा है—'कार्यं च तस्य दशधा'। आहार्य का अर्थ होता है व्याप्य अर्थात् 'विशेषेण प्राप्य'। वचन, आदान, विहरण, उत्सर्ग और आनन्द संज्ञक विषय कर्मेन्द्रियों के द्वारा विशेष रूप से प्राप्य अर्थात् सम्पादनीय है। ये पाँचों विषय दिव्य और अदिव्य अर्थात् अलौकिक और लौकिक दस प्रकार के होते हैं। दिव्य वचन, दिव्य आदान, दिव्य विहार, दिव्य उत्सर्ग और दिव्य आनन्द--ये देवताओं के योग्य हैं। सांसारिक प्राणी को लौकिक वचन, आदान, विहार, उत्सर्ग एवं आनन्द की ही प्राप्ति होती है। माठर, गौडपाद एवं जयमङ्गलाकार तीनों ने ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय दोनों के विषयों को जोड़कर दशधा माना है। जबकि वाचस्पति मिश्र ने केवल कर्मेन्द्रियों के विषयों को ही दिव्यादिव्य भेद से दस प्रकार का कहा है।

बुद्धि अहंकार मन रूपी तीनों अन्तःकरण ही प्राण, अपान, समान, उदान एवं व्यान रूप वृत्ति से शरीर को धारण करते हैं। ये पाँचों प्राण भी दिव्य और अदिव्य भेद से दस प्रकार के होते हैं। अदिव्य अर्थात् लौकिक प्राणों की वृत्तियों से जिस शरीर का धारण होता है, वह पाँचभौतिक है। दिव्य प्राणादि से देवताओं के दिव्य शरीर का ही धारण होता है। यहाँ पर एक बात विशेष ध्यान देने की है कि भौतिक शरीर भी पाँच प्रकार का होता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध—पाँचों तन्मात्राओं के समवाय से जो शरीर निर्मित हुआ है वह पार्थिव शरीर कहा जाएगा जो दिव्य और लौकिक भेद से दो प्रकार का होता है। इसी प्रकार दिव्य अदिव्य गन्धमय दिव्य-अदिव्य जलमय, दिव्य अदिव्य तेजोमय, दिव्य अदिव्य वायुमय तथा दिव्य अदिव्य शब्दमय भेद से दस प्रकार के शरीरों का धारण होता है।

तीसरा कर्म प्रकाशन है जो ज्ञानेन्द्रियों से सम्पन्न होता है। ज्ञानेन्द्रियाँ

---

१. तत्र कर्मेन्द्रियाण्याहरणं कुर्वन्ति बुद्ध्यहंकारमनांसि धारणं बुद्धीन्द्रियाणि प्रकाशमिति। जयमङ्गला।

के द्वारा प्रकाश्य विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध हैं जो दिव्य और अदिव्य भेद से दस प्रकार के होते हैं। इस प्रकार करण, उनके द्वारा सम्पाद्यमान व्यापार तथा व्यापारों के विषय का निरूपण इस कारिका में किया गया है। माठर आदि के अनुसार यहाँ दिव्यादिव्य भेद की अपेक्षा नहीं। दसों इन्द्रियों के विषय ही प्रकाश्य, आहार्य एवं धार्य होते हैं ॥३२॥

पूर्वकारिका में अन्तः और बाह्य उभयविध त्रयोदश प्रकार के करणों के द्वारा सम्पाद्य क्रिया-कलापों का निरूपण किया गया है। इन्हीं करणों के अवान्तर विभाग का निरूपण तथा उनमें रहने वाले अन्य धर्मों का विवेचन अगली कारिका में करते हैं—

अन्तःकरणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम् ।
साम्प्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम् ॥३३॥

अन्तःकरणं मनोबुद्ध्यहङ्कारभेदात् त्रिविधं तथा बाह्यं करणं पंचज्ञानेन्द्रियपञ्चकर्मेन्द्रियभेदात् दशविधं दशप्रकारकं भवतीति शेषः। तत्र बाह्यं दशविध करणं, त्रयस्य त्रिविधस्य अन्तःकरणस्य, विषयाख्यं व्यापारजनकं भवति। अन्यच्च बाह्य करणं साम्प्रतकालं वर्तमानमात्रविषयकं, आभ्यन्तरं करणं मनोबुद्ध्यहङ्काराख्यं, त्रिकालम् अतीतानागतवर्तमानविषयकमस्ति इति शेषः।

बुद्धि, अहंकार और मन के नाम से अन्तःकरण तीन प्रकार का होता है। पाँच ज्ञान और पाँच कर्म को मिलाकार दस इन्द्रियाँ ही बाह्यकरण हैं जो उक्त अन्तःकरण के विषयों का प्रकाशन करती हैं। बाह्य करणों की प्रवृत्ति का विषय मात्र-वर्तमानकाल है किन्तु आभ्यन्तर करण (मन, बुद्धि, अहंकार) भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान तीनों काल के विषयों में प्रवृत्त होते रहते हैं।

'क्रियते अनेन इति करणम्' इस व्युत्पत्ति से पुरुष के भोगापवर्ग के साधकतम तत्त्वों को करण कहा गया है। इनके मुख्य दो विभाग हैं—बाह्य करण और अन्तःकरण। बाह्यकरण में चक्षु, श्रोत्र, त्वक्, रसना और घ्राण नामक पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ संज्ञक पाँच पाँच कर्मेन्द्रियाँ आती हैं अन्तः करण तीन होते हैं जिनके नाम बुद्धि, अहंकार और मन हैं। यहाँ पर विशेष बात यह है कि मन को एकादश इन्द्रियों के समूह से हटाकर अन्तःकरणत्रय की ओर रखा गया है। करण के उक्त दोनों प्रकारों में मौलिक भेद भी कई प्रकार से हैं। या इसे यों भी कहा जा सकता है कि त्रयोदश करणों के बाह्य और आभ्यन्तर भेद का आधार स्पष्ट और

सुदृढ़ है। इन दोनों में से तीनों अन्तःकरण विषयी तथा बाह्यकरण उनके विषयों के प्रतिपादक हैं—'विषयम् आख्याति इति विषयाख्यम्' की व्युत्पत्ति से उभयप्रकार की इन्द्रियाँ* जिनको यहाँ बाह्यकरण कहा गया है, तीनों प्रकार के अन्तःकरणों के विषय संकल्प, अभिमान और अध्यवसाय के सम्पन्न होने में सहायक हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ अन्तःकरण को बाह्यविषयों की सूचना देती हैं तथा कर्मेन्द्रियाँ अन्तःकरण के निश्चय को कार्य रूप में परिणत करती हैं। इस प्रकार ये अन्तःकरण के व्यापार के उपाय अर्थात् साधक तत्त्व हैं।

अन्तः और बाह्य करणों में भेद का दूसरा आधार यह है कि बाह्यकरणों की प्रवृत्ति उनके तत्तद् विषयों के सामने उपस्थित रहने पर ही होती है। अतः ये वर्तमानकालिक हैं। भूत या भविष्यत् काल के रूप रस आदि विषयों का ग्रहण इन इन्द्रियों से नहीं हो सकता। वर्तमान के समीप के भूत तथा अनागत समीप का भी वर्तमान से यहाँ ग्रहण हो जाता है। तभी वाक् की भी वर्तमानकाल विषयता बन सकेगी। यह निरूपण मात्रलौकिक प्रत्यक्ष पर ही घटित होता है, यौगिक प्रत्यक्ष पर नहीं। क्योंकि योगी अतीत और अनागत विषयों का भी वर्तमान के समान ही साक्षात्कार कर लेता है। इनके विपरीत अन्तःकरण हैं जो त्रिकालव्यापी हैं। नदी के प्रवाह के भिन्न होने से कहीं अवश्य जलवृष्टि हुई है, तथा पर्वत पर धूम देखकर वहाँ अग्नि है एवं चीटियों के झुण्ड के संचरण से वृष्टि होनेवाली है इन सबका निश्चय अन्तःकरण से ही होता है। यह सब अन्तःकरण की त्रैकालिकता सिद्ध करते हैं।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि सांख्य-सिद्धांत में जिन २५ तत्त्वों का निरूपण पहले किया जा चुका है उनमें काल के लिये कोई स्थान नहीं है। फिर इस कारिका में 'साम्प्रत्कालं' और 'त्रिकालं' शब्दों से किस तत्त्व का ग्रहण होता है? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि काल नाम का कोई तत्त्व सांख्य-सिद्धांत के अनुसार नहीं है, तथापि जैसे वैशेषिक के अनुसार काल एक होते हुए भी अतीत अनागत, वर्ष, मास, दिवस आदि उपाधियों से भिन्न रूप में उच्चरित होता है।[1] ठीक उसी प्रकार यहाँ भी काल की वास्तविक सत्ता न होते हुए अतीत अनागत आदि उपाधियों से उसकी व्यावहारिक सत्ता मानकर ही 'साम्प्रत' और 'त्रिकालम्' पदों का यहाँ प्रयोग हुआ है। जहाँ काल की की सत्ता को मानते हैं, वहाँ भी वस्तु के प्रागभाव से जो काल युक्त होता है

१. अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति लिङ्गानि। वै० सू० २।२।६

वह अनागत अर्थात् भविष्य तथा स्थितवस्तु से युक्त काल को ही वर्तमान एवं प्रध्वंस से युक्त काल को अतीत कहा गया है। यहाँ आरम्भ स्थिति तथा निरोधक क्रियाओं से ही अनागत आदि व्यवहार की सिद्धि हो जाती है, काल में भेद की कल्पना करना व्यर्थ है। उसी प्रकार सूर्य आदि की क्रिया ही काल है चूंकि उनका परिगणन अन्य तत्त्वों में हुआ है इसलिए उनके लिए एक अन्य पदार्थ काल की कल्पना करना निरर्थक है। इसलिए सांख्य को काल नामक भिन्न तत्त्व मानने की कोई आवश्यकता नहीं है योग भाष्य की टीका में भी वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि वह तथाकथित काल वस्तुतः वस्तु या तत्त्व न होते हुए भी खपुष्प या बन्ध्यापुत्र की तरह लोकव्यवहार में प्रचलित एवं बौद्धिक प्रत्यय मात्र है।[1] ३३॥

पूर्वकारिका में बताया गया है कि बाह्यकरण अर्थात् ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ वर्तमान कालिक विषयों का ग्रहण करती हैं। उन्हीं विषयों का निरूपण इस प्रकृत कारिका में करते हैं—

बुद्धीन्द्रियाणि तेषां पञ्च विशेषाविशेषविषयाणि।
वाग्भवति शब्दविषया शेषाणि तु पञ्चविषयाणि ॥३४॥

तेषां दशानामिन्द्रियाणां मध्ये यानि पञ्चबुद्धीन्द्रियाणि पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि सन्ति तानि विशेषाविशेषविषयाणि विशेषाः स्थूलाः शब्दादयः पृथिव्यादिरूपाः, अविशेषाः तन्मात्राणि सूक्ष्माः, त एव विषयाः येषां तानि स्थूलसूक्ष्मशब्दादि-विषयवन्ति भवन्ति इति शेषः। एवं कर्मेन्द्रियेषु वाक् वाणी शब्दविषया स्थूलः शब्दः विषयः यस्याः सा शब्दरूपविषयवती भवति, शेषाणि पाणिपादपायूपस्थ-संज्ञकानि अन्यानि कर्मेन्द्रियाणि, पञ्चविषयाणि रूपरसगन्धस्पर्शशब्दात्मकाः पञ्चसंख्याकाः विषयाः येषां तानि रूपादिपञ्चविषयवन्ति भवन्ति इत्यन्वयः।

दश बाह्यकरणों में से पाँच (चक्षु, श्रोत्र, त्वक्, रसना एवं घ्राण) ज्ञानेन्द्रियाँ कही जाती हैं। इनका विषय स्थूल पृथिव्यादि तथा स्थूल तन्मात्राएँ दोनों हैं। पाँच कर्मेन्द्रियों में से एक वाक् इन्द्रिय का विषय स्थूल शब्द हैं, शेष पाणि, पाद, पायु और उपस्थ नामक चार कर्मेन्द्रियों के विषय रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द पांचों होते हैं।

---

१. स खल्वयं कालो वस्तुशून्योऽपि बुद्धिनिर्माणः शब्दज्ञानानुपाती लौकिकानां व्युत्पत्तिदर्शनानां वस्तुरूप इवाभासते। योगभाष्य ३।५२

कारिका में उक्त 'तेषां' सर्वनाम पद से किसका परामर्श होता है ? यह एक विचारणीय विषय है। अव्यवहित पूर्वकारिका में 'दशधा बाह्यम्' अथवा उससे भी पूर्व की कारिका में 'करणं त्रयोदशविधम्' इन दोनों में से ही किसी एक का परामर्श यहाँ होनां चाहिए। किन्तु उभयत्र एक वचन का प्रयोग होने से उनमें से किसी का भी परामर्श यहाँ के तेषां' से कैसे हो सकता है ? जो कि बहुवचन का निर्देश देता है। किन्तु वहाँ वचन-विपरिणाम करके 'त्रयोदशकरणानाम्' अथवा दशानाम् इन्द्रियाणाम्' की कल्पना करने पर ही 'तेषाम्' से उनके परामर्श की बात बनती है।

'तेषाम्' ये षष्ठी निर्धारण अर्थ में है तथा जिनका निर्धारण होता है उन पाँचों के लिए 'बुद्धीन्द्रियाणि' पद का प्रयोग इस कारिका में हुआ है। इसलिए 'तेषां' से अव्यवहित पूर्व कारिका में उक्त बाह्यकरणभूत दश इन्द्रियों का ही परामर्श होता है न कि उसकी भी पूर्वकारिका में पठित त्रयोदश प्रकार के करणों का। इस प्रकार इसका अर्थ होता है कि उक्त दश इन्द्रियों में से पांच ज्ञानेन्द्रियां कही जाती हैं।

'विशेषाविशेषविषयाणि,' यह पद बुद्धीन्द्रियाणि का ही विशेषण है जिसका अर्थ है—'विशेषा: अविशेषाश्च विषया: येषां तानि'। जिनके विषय विशेष और अविशेष दोनों हैं। विशेष पद यहां कार्यवाची है। अतः उससे यहां पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, रूप स्थूल-तत्त्वों का ग्रहण होता है। अविशेष शब्दआदि पंचतन्मात्राएं हैं जो सूक्ष्म हैं। इनकी यह सूक्ष्मता ही 'मात्र' पद से द्योतित होती हैं। यह विधान सामान्य व्यक्ति और योगी दोनों को दृष्टि में रख कर किया गया है।[1] क्योंकि तन्मात्राओं का इन्द्रियों से साक्षात्कार योगी ही कर पाते हैं। यद्यपि चित्त में स्थूल या सूक्ष्म हर प्रकार के विषय के साक्षात्कार की शक्ति विद्यमान है तथापि प्रत्येक व्यक्ति का चित्त सूक्ष्म-विषय तन्मात्राओं का साक्षात्कार इसलिये नहीं कर पाता कि उनका चित्त विषयान्तर में होनेवाली वासना से अवरुद्ध रहता है। योग से उस प्रतिबन्ध का निराकरण हो जाता है और योगी स्थूल की तरह ही सूक्ष्म विषयों का भी साक्षात्कार इन्हीं इन्द्रियों से करने लगता है। इसीलिए कूर्म-पुराण में तीन प्रकार के योगियों का विधान है जिनमें से प्रथम प्रकार के

---

१. तत्रोर्ध्वस्रोतसां योगिनां च श्रोत्रं शब्दतन्मात्रविषयं स्थूलशब्दविषयं च, अस्मदादीनां तु स्थूलशब्दविषयमेव। तत्त्वकौमुदी।

योगी वे होते हैं जो स्थूल-सूक्ष्म सभी प्रकार के भौतिक विषयों का निरन्तर साक्षात्कार करते रहते हैं। इन्हें भौतिक योगी कहते हैं। दूसरे प्रकार के योगी ज्ञानयोगी हैं जिन्हें अशेषज्ञान निरन्तर होता रहता है। योगियों की ये दोनों कोटियां चार आश्रमों के भीतर ही सम्भव हैं। तीसरी कोटि उन योगियों की है जो आश्रमों का अतिक्रमण कर निर्विकल्पक समाधि में ब्रह्मसाक्षात्कार कर लेते हैं।[1]

माठरवृत्ति में विशेषाविशेषविषयाणि, पद का कुछ विलक्षण ही अर्थ किया है। शान्त, घोर और मूढभाव ही विशेष है उनसे युक्त होने से स्थूल भूत को सविशेष तथा उनसे रहित होने से ही सूक्ष्मभूत को निर्विशेष अथवा 'अशेष' पद से अभिहित किया है। तन्मात्रायें ही सूक्ष्मभूत हैं। वे अशेष या निर्विशेष इसलिये कही जाती हैं कि इनकी अनुभूति दुःख एवं मोह से सर्वथा रहित होती है। देवताओं की ज्ञानेन्द्रियों के विषय यही तन्मात्रायें ही होती हैं। अतएव उन्हें जो केवल सुख का ही अनुभव होता है दुःख एवं मोह का नहीं उसका यही रहस्य है।[2] साधारण व्यक्ति की ज्ञानेन्द्रियों से स्थूल विषयों का ही ग्रहण संभव है जो शान्त, घोर और मढात्मक होते हैं। अतः लौकिक प्राणि मात्र को प्रायः दुःख एवं मोह की ही अनुभूति होती है। उक्त विवेचन का सम्बन्ध केवल इन्द्रियों से है। जहां तक वागिन्द्रिय का प्रश्न है उसके विषय की अनुभूति देव और मनुष्य को समान रूप से होती है।[3]

---

१. योगी च त्रिविधो ज्ञेयो भौतिकः सांख्य एव च।
तृतीयोऽत्याश्रमी प्रोक्तो योगमुत्तममाश्रित.॥ ॥कूर्म पुराण॥

२. अत्राह कस्य सविशेषं गृह्णन्ति कस्य निर्विशेषमिति अत्रोच्यते शब्दस्पर्शरसरूपगन्धाः। पञ्च देवानां तन्मात्रसंज्ञिताः निर्विशेषाः केवलसुखलक्षत्वात्। यस्मात्तत्र दुःखमोहौ न स्तः तस्मात् निर्विशेषास्त इति। तथाहि विशिष्यन्ते शान्तघोरमूढत्यादिनेति विशेषाः तैः सह स विशेषाः। केवलाः निर्विशे। इति तात्पर्यम्। एवं शब्दादयो मनुष्याणां सविशेषाः सुखदुःखमोहयुक्ताः। देवानां तु बुद्धीन्द्रियाणि निर्विशेषं सुखात्मक प्रकाशवृत्ति। माठरवृत्ति।

३. तत्र देवानां वाक् पादं, पादार्धं श्लोकमुच्चारयति। अस्माकमपि तथैव। अतो देवानामस्माकं वागिन्द्रियं तुल्यमित्यर्थः। वही।

कर्मेन्द्रियों में से वाक् इन्द्रिय का विषय शब्द कहा है। यहाँ शब्द से शब्दतन्मात्र का ग्रहण नहीं मानना चाहिए क्योंकि वाक् जिस शब्द की उत्पादिका है वही शब्द उसका विषय हो सकता है और वह है ध्वन्यात्मक स्थूल शब्द, शब्द-तन्मात्र नहीं। क्योंकि वाक् शब्द-तन्मात्र का उत्पादक या हेतु नहीं हो सकती। इसमें विरोध दूसरे प्रकार से भी है कि वागिन्द्रिय का जो कारण है अहंकार—वही तन्मात्राओं का भी कारण है।[1] अतः वागिन्द्रिय तन्मात्राओं का उत्पादक हेतु नहीं हो सकता। इसलिए शब्द-तन्मात्रा वाक् इन्द्रिय का विषय नहीं हो सकती। क्योंकि एक ही वस्तु से उत्पन्न दो वस्तुओं में परस्पर कार्यकारणभाव सम्भव नहीं। 'शेषाणि' से पाणि, पाद, पायु, तथा उपस्थ नामक उन चार कर्मेन्द्रियों का ग्रहण होता है जो वाक् से अतिरिक्त है। इनके विषय उक्त शब्द आदि पांचों हैं। उदाहरणतः हाथ से जिस घट का ग्रहण किया जाता है उसमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, पांचों विषय वर्तमान होते हैं। तथा शब्दादि पंचतत्वों से समन्वित भूमि पर ही चरण विहार करते हैं। शब्दादि पंचतत्त्वों से युक्त मल एवं मूत्र का विसर्जन पायु इन्द्रिय से होता है। उसी प्रकार शब्दादि पंच-तत्त्वों से युक्त वीर्य के द्वारा उपस्थ आनन्दोपभोग करता हुआ सन्तान की उत्पत्ति करता है। ॥३४॥

उक्त तेरह प्रकार के कारणों में कुछ प्रधान, तो कुछ गौण भी होते हैं। इसी प्रधान-गुण-भाव का विवेचन अगली कारिका में किया गया है :—

सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात् ।
तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि, द्वाराणि शेषाणि ॥३५॥

यस्मात् अन्तःकरणेन अहंकारमनोभ्यां सहिता बुद्धिः सर्वं विषयं अवगाहते विषयीकरोति तस्मात् त्रिविधं करणं मनोबुद्ध्यहंकाररूपं द्वारि अर्थात् द्वाराणि सन्ति अस्य इति 'द्वारि' गृहं भवति। शेषाणि पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि पंच कर्मेन्द्रियाणि इति दशबाह्यकरणानि द्वाराणि अप्रधानानि मार्गाणि भवन्ति इति शेषः।

चूंकि मन एवं अहंकार नामक अन्तःकरणों से युक्त होकर ही बुद्धि

---

१. एवं कर्मेन्द्रियेषु मध्ये वाग्भवति शब्दविषया स्थूलशब्द विषया, तद्धेतुत्वात् न तु शब्दतन्मात्रस्य हेतुस्तस्याहंकारिस्त्वेन वागिन्द्रियेण सहैककारणकत्वात्। तत्त्वकौमुदी।

इन्द्रियों के द्वारा अलग उपस्थापित सभी प्रकार की सूचनाओं को अपना विषय बनाती है अतः मन, बुद्धि और अहंकार तीनों अन्तःकरण कक्ष के समान प्रधान होते हैं और शेष दशों इन्द्रियां द्वारभूत गौण हैं।

बाह्यकरण किसी गृह के द्वार सदृश हैं जिनके माध्यम से बाह्य-विषयों की सूचना अन्तःकरण में पहुंचती है। और अन्तःकरण गृह के समान है जिसमें सभी सूचनाएं आकर एकत्र होती हैं। तभी अहंकार और मन के साथ, बुद्धि इनको अपने अध्यवसायात्मक व्यापार का विषय बनाती है। इसीलिए वह द्वारवती अर्थात् ऐसे गृह के समान है जिसमें इन्द्रियरूप अनेक द्वार हैं। गृह और द्वार में जिस प्रकार गृह ही प्रधान होता है क्योंकि वहीं उद्देश्य स्थल है, उसी प्रकार इन्द्रियों और अन्तःकरण में इन्द्रियों का स्थान गौण है और अन्तः-करण सहित बुद्धि का मुख्य। चूंकि बुद्धि की अपेक्षा मन और अहंकार भी गौण ही है इसलिए इन्द्रियों की अपेक्षा मन और अहंकार प्रधान हैं तथा मन और अहंकार की अपेक्षा बुद्धि प्रधान है। बुद्धि की प्रधानता सबकी अपेक्षा है इस बात की सिद्धि इस कारिका से हो जाती है ॥३५॥

बुद्धि तत्त्व, मन और अहंकार की अपेक्षा भी प्रधान है, इसका निरू-पण अगली कारिका में हुआ है—

एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः ।
कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥३६॥

गुणविशेषाः सत्त्वादिगुणानां विकाररूपा एते बाह्येन्द्रियमनोऽहंकाराः, परस्पर-विलक्षणाः मिथो विरोधशीला अपि, प्रदीपकल्पाः दीपक-समानाः सन्ति। अतः पुरुषस्य कृत्स्नं निखिल मर्थं विषयं प्रकाश्य बुद्धौ महत्तत्त्वे प्रयच्छन्ति अर्पयन्ति।

सत्वादिगुणों के विकाररूप पंचज्ञानेन्द्रियां, पंचकर्मेन्द्रियां तथा मन और अहंकार ये द्वादश तत्त्व परस्पर विरोधशील होते हुए भी दीपक के समान पुरुष के निखिल विषयों का प्रकाशन कर उन्हें बुद्धि को समर्पित कर देते हैं।

गुणविशेषाः—गुणों से यहां सत्व, रज और तम का ग्रहण होता है। उनके विकार ही विशेष हैं।[1] सत्व, रज और तम तो उनका सामान्य रूप है।

---

१. त्रय एव गुणा अन्योन्याभिभवद्वारेण परिणताः श्रोत्रादि व्यपदेश भाज इत्यर्थः। जयमङ्गला।

परस्पर विरोध चूंकि गुणों में ही है, अतः उनके इन विकारों में भी उसका होना सर्वथा स्वाभाविक है। बाह्य-वस्तु-विषयक सारी सूचना जो इन्द्रियों के द्वारा दी जाती है, मन और अहंकार के माध्यम से बुद्धि में ही पहुंचती है। जिस प्रकार बत्ती, तेल और अग्नि परस्पर विरोधी होते हुए भी अन्धकार का अपनयन करते हैं, उसी प्रकार परस्पर विरोधी ये अन्तः और बाह्यकरण मिल करके पुरुष के भोगापवर्ग रूप विषय का प्रकाशन बुद्धि में करते हैं। वहीं से पुरुष उनका उपभोग करता है। न्याय-सिद्धान्त के अनुसार सभी पदार्थों का ज्ञान साक्षात् सम्बन्ध से आत्मा में ही होता है।[1] इन्द्रियां ही जिनमें मन, बुद्धि, अहंकार भी हैं, उस ज्ञान के साधक हैं। किन्तु आत्मा ही अध्यक्ष होता है। सांख्य-मत से वह अध्यक्षता बुद्धि करती है, इसलिए सभी ज्ञान बुद्धि में ही होता है। पुरुष पर उसकी छाया मात्र पड़ती है। इन्द्रियों से साक्षात् जो सूचना मिलती है, वह भ्रांत होती है। उस पर निर्भर नहीं हुआ जा सकता। किन्तु बुद्धि में आकर उसके यथार्थ स्वरूप का विनिश्चय हो जाता है। जिसका आत्मा के ऊपर स्पष्ट प्रतिबिम्ब पड़ता है।[2] इसलिए सांख्य का सिद्धान्त कि 'बुद्धि ही बाह्याभ्यन्तर उभयविध करणों की अध्यक्ष है', श्रेयस्कर है ॥३६॥

सभी अन्तः एवं बाह्यकरण अपने अपने विषय-सम्बन्धी बोध को बुद्धि को ही क्यों अर्पित कर देते हैं ? क्यों नहीं इन्द्रियों से प्राप्त सूचना को बुद्धि, अहंकार या मन को दे देती है ? इसका उत्तर अगली कारिका में देते हैं—

सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात्पुरुषस्य साधयति बुद्धिः ।
सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम् ॥३७॥

यस्मात् कारणात् पुरुषस्य शब्दादिकं प्रति यः उपभोगः सर्वंच तं बुद्धिः साधयति उपस्थापयति। सैव च बुद्धिः पुनः सूक्ष्मं दुर्लक्ष्यमपि प्रधानपुरुषयोः अन्तरं भेदं विशिनष्टि सम्पादयति। अतः सा एव प्रधानास्ति इति शेषः।

---

१. ज्ञानाधिकरणमात्मा। तर्क संग्रह
२. त्रैलोक्यगतं पुरुषस्यार्थं स्थूलसूक्ष्मविषयलक्षणं प्रकाश्याभिव्यक्तिं नीत्वा पश्चादहंकारादयो द्वादश बुद्धौ प्रयच्छन्ति। तस्यां च विषयोपधानोपरक्तायां बुद्धौ पुरुष उपलभते। तत्रमेदमुच्यते बुद्ध्याध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयत इति। जयमङ्गला।

चूँकि बुद्धि ही तत्तद् इन्द्रियों के द्वारा पुरुष के उपभोग की सामग्री जुटाती है अतः वही प्रकृति और पुरुष के अत्यन्त सूक्ष्म भेद को भी प्रकट कर देती है, अतः वही प्रधान है।

सुख दुःख का अनुभव ही भोग है। वह बुद्धि में ही होता है। बुद्धि पुरुषरूपा ही है। फलतः बुद्धि में होने वाला सुखदुःखात्मक विषयों का उपभोग पुरुष को स्वतः हो जाता है। यही, बुद्धि का पुरुष के उपभोग की सामग्री जुटाना' है। इस प्रकार पुरुषार्थ का प्रयोजक जो साधन साक्षात् है, वही प्रधान है और वह बुद्धि ही है। इसलिए वही बाह्याभ्यन्तर उभयविध अन्तःकरणों की अध्यक्षा है। दूसरे करण गांव के अध्यक्ष के समान हैं तो बुद्धि समूचे राज्य की अध्यक्षा की तरह है। इस पर यह शंका हो सकती है कि यदि बुद्धि ही पुरुष के सभी विषयों के भोग की सम्पादिका है तो मोक्ष तो हो चुका जिसके लिये शास्त्र का समारम्भ किया गया है। इस शंका के निवारण के लिए ही कारिका के उत्तरार्ध में कहा है कि वह बुद्धि ही भोग-साधन के अनन्तर पुरुष में प्रकृति और पुरुष के सर्वथा भिन्न होने से अत्यन्त सूक्ष्म सिद्धान्त का विवेक भी करा देती है। इस पर यदि यह कहें कि चूंकि प्रधान और पुरुष का अन्तर बुद्धि का एक कार्य है और जो भी कार्य होता है, वह अनित्य होता है, अतः प्रकृतिपुरुषान्यताख्यातिरूप कार्य क्या अनित्य है? इसका उत्तर यह है कि बुद्धि पुरुष में यह विवेक जगा देती है कि 'मैं भिन्न हूं'। यह सारा जगत् प्रकृति का विकार मात्र है इस प्रकार का जो विवेक है, वह वस्तुतः किसी का कार्य नहीं है अपितु यथार्थ यही है। बुद्धि इसका ज्ञान मात्र कराती है। अतः प्रकृतिपुरुषान्यताख्यातिरूप ज्ञान कार्य नहीं है जिससे उसमें अनित्यत्व की संभावना की जाय।[1]

माठरवृत्ति में 'पुनः' के स्थान पर 'ततः' पाठ उपलब्ध होता है। जिसका विशेष अर्थ यह है कि बुद्धि प्रकृति और पुरुष के बीच के अन्तर को प्रकाशित करने के पूर्व उसके उपभोग की प्राप्ति अनिवार्य रूप से कराती है। अर्थात् भोग के अनन्तर ही विवेक संभव है। 'पुनः' का पाठ इस भाव की अभिव्यक्ति करता है कि जो बुद्धि पुरुष के भोग की साधिका है वही उसको

---

१. सूक्ष्मं दुर्लक्ष्यं तदन्तरमित्यर्थः। प्रधानं सविकारमन्यद् अहमन्य इति विद्यमानमेवान्तरमविवेकेनाविद्यमानमिव बुद्धिर्बोधयति न तु करोति येनानित्यत्वमित्यर्थः। तत्त्वकौमुदी।

अपवर्ग का विवेक भी कराती है। अनन्तर वहीं (माठरवृत्ति में ही) एक संवाद प्रस्तुत किया गया है जिसमें अहंकार बुद्धि से कहता है कि पुरुष भोग में निर्लिप्त है यह अच्छी बात है इसे इस अवस्था से जगाओ नहीं। क्योंकि इसके विवेक के जागृत होने पर यह परमानन्द को जान जायेगा और तब न हम होंगे न तुम, न यह सकल संसार। मुझ अहंकार के रहते हुए पच्चीसवां तत्त्व यह पुरुष विषयों को छोड़कर मुक्ति कैसे चाह सकता है! जो तत्त्व सर्वव्यापी एवं सबका स्वामी है उसको देही कहकर मैंने सचमुच अपने को ही छोटा बना लिया।[1] यहां प्रयुक्त सर्वेश्वर, देव एवं सर्वव्यापी विशेषण सांख्य सिद्धांत के अनुरूप नहीं है।

कारिका के पूर्वार्द्ध में भोग का प्रदर्शन कर उत्तरार्ध में अपवर्ग के साधक तत्त्व विवेक का विवेचन किया गया है जिसका अभिप्राय यह है कि अपवर्ग के लिये भोग नहीं अपितु विवेकज्ञान अपेक्षित है। ३७।

३४वीं कारिका में इन्द्रियों के विशेष और अविशेष दो प्रकार के विषयों का निरूपण हुआ है। वे क्या हैं? इसका विवेचन प्रकृत कारिका में करते हैं—

तन्मात्राण्यविशेषाः तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः।
एते स्मृता विशेषाः, शान्ता घोराश्च मूढाश्च ॥३८॥

सूक्ष्मशब्दादीनि पञ्चतन्मात्राणि अविशेषाः कथ्यन्ते। पञ्चभ्यः तेभ्यः शब्द-स्पर्शरूपरसमात्रेभ्यः पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशनामकानि पञ्चमहाभूतानि जायन्ते इति शेषः। एते महाभूतपदवाच्याः पृथिव्यादयः विशेषाः स्मृताः कथिताः। यतः एषु केचिच्छान्ताः सुखाः, केचितघोराः दुःखाः, केचित्पुनः मूढाः विषण्णाः सन्ति इति शेषः।

---

१. अहंकारो धियं ब्रूते मैनं सुप्तं प्रबोधय।
प्रबुद्धे परमानन्दे न त्वं नाहं न तज्जगत् ॥
मयि तिष्ठत्यहंकारे पुरुषःपञ्चविंशकः।
तत्त्ववृन्दं परित्यज्य स कथं मोक्षमिच्छति।
योऽसौ सर्वेश्वरो देवः सर्वव्यापी जगद्गुरुः।
देहीतिपदमुच्चार्य हा मयात्मा लघुः कृतः ॥

पंचतन्मात्राएँ ही अविशेष हैं। इन्हीं से क्रमशः पंचमहाभूतों की उत्पत्ति होती है। ये पंचमहाभूत चूंकि शान्त, घोर और मूढ़ होते हैं, अतः इन्हे विशेष कहा गया है।

विशेषाः—जो सुखदुःखमोहात्मक अनुभवयोग्यधर्म से युक्त हैं, वे ही विशेष हैं। चूंकि तन्मात्राएं अनुभव योग्य सुखदुःखमोहात्मक धर्म से युक्त नहीं हैं, इसलिए अविशेष कहा गया है। क्योंकि ये अत्यन्त सूक्ष्म हैं। इसीलिए इन्हें तन्मात्रा कहा गया है।[१] शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—यही तन्मात्राओं के विशेष हैं जो स्थूलभाव को प्राप्त हो जाते हैं।[२] इन तन्मात्राओं से ही पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश नामक पांच महाभूतों की उत्पत्ति होती है। चूंकि ये महाभूत अनुभवयोग्य सुखदुःखमोहात्मक धर्मों से युक्त होते हैं, अतः इन्हें विशेष कहा गया है। ये तन्मात्राओं के उत्तरोत्तर योग से उत्पन्न होते हैं अर्थात् शब्द-तन्मात्रा से आकाश, शब्द एवं स्पर्श तन्मात्रा से वायु; शब्द, स्पर्श एवं रूप तन्मात्रा से वह्नि; शब्द, स्पर्श, रूप और रस तन्मात्राओं से जल तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध[३] पाँचों तन्मात्राओं से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। इसीलिए पृथ्वी का पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से; जल का घ्राण रहित चार से; अग्नि का घ्राण और रसना रहित तीन से; वायु का घ्राण रसना और चक्षु रहित दो से; तथा आकाश का मात्र श्रोत्रेन्द्रिय से साक्षात्कार होता है।

इन स्थूल भूतों को विशेष इसलिए कहते हैं कि ये शान्त, घोर और मूढ़ हैं।[४] इसमें से आकाश आदि स्थूलभूतों में सत्त्व की प्रधानता होने से वे शान्त अर्थात् सुखास्पद, प्रसन्न एवं लघु होते हैं। कुछ दूसरे वायु आदि में रजोगुण की प्रधानता होने से वे घोर अर्थात् दुःखद एवं अनवस्थित होते हैं। इनमें एक तीसरा प्रकार भी है जिसमें तमोगुण की प्रधानता रहती है। अतः वे मूढ़ अर्थात् विषण्ण एवं भारी होते हैं। ये परस्पर एक दूसरे से भिन्न होने के

---

१. सा सा मात्रा यस्मिन तत्तन्मात्रम्।

२. शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तत्क्रमात्।
तन्मात्राणां विशेषाः स्युः स्थूलभावमुपागताः॥

३. शब्दाः सुखदुःखमूढाः विपञ्चीसिंहध्वाङ्क्षमेघादिशब्दाः। एवं स्पर्शाः वात्यानिलविषादिषु। रूपाणि कामिनीविद्युत्तिमिरादिषु। रसाश्च इक्षु-राजसर्षपनिम्बपत्रेषु। गन्धाः कर्पूरचम्पककुसुमलशुनादिषु। इति विवेक्तव्यम्।

४. शान्तं सुखात्मकम्, घोरं दुःखात्मकम्, मूढं मोहात्मकमिति द्रष्टव्यम्।

कारण विशेष तथा स्थूल भी कहे जाते हैं। तन्मात्राओं के परस्पर के भेद का अनुभव चूंकि हम[1] नहीं कर पाते, इसलिए उनको अविशेष एवं सूक्ष्म पद से अभिहित किया गया है। माठर एवं गौडपाद ने तन्मात्राओं को दुःखमोहरहित एवं मात्र सुखात्मक माना है तथा इन्हें देवताओं के अनुभव का विषय कहा है।[2] जो इसलिये यथार्थ नहीं प्रतीत होता कि तीनों गुणों के योग से उत्पन्न इन तन्मात्राओं में दुःख एवं मोह का अभाव किस प्रकार संभव है? इसलिये वाचस्पति मिश्र की व्याख्या ही कि इनमें उपभोग के योग्य शान्तत्व, घोरत्व, एवं मूढ़ता धर्म नहीं रहते जिन्हें विशेष कहते हैं, यही मात्र शब्द का अर्थ है, सर्वथा उपयुक्त है।[3]

विशेष एवं अविशेषों के स्वरूप एवं उनकी संख्या का पूर्वकारिका में निरूपण करने के अनन्तर प्रकृतकारिका में विशेषों के अवान्तर भेदों का निरूपण करते हुए यह बताना चाहते हैं कि विशेष इतने ही हैं या और हैं।

सूक्ष्मा मातापितृजाः सह प्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः स्युः।
सूक्ष्मास्तेषां नियता, मातापितृजा निवर्तन्ते ॥३९॥

प्रभूतैः महाभूतैः सह सूक्ष्माः तन्मात्रलक्षणाः मातापितृजाः स्थूलदेहाः इति विशेषाः त्रिधा त्रिप्रकाराः; स्युः भवन्ति। एवं सूक्ष्मशरीरं एक विशेषः, मातापितृजः स्थूलदेहो द्वितीयः, महाभूतानि च तृतीय इत्येवं त्रिविधाः विशेषाः तेषां विशेषाणां मध्ये ये सूक्ष्माः तन्मात्रलक्षणाः विशेषाः ते नियताः नित्याः आमोक्षावस्थायिनः इत्यर्थः। ये मातापितृजा स्थूलदेहाः ते निवर्तन्ते पतन्ति नश्यन्ति इति यावत्।

सूक्ष्म तथा माता-पिता से उत्पन्न स्थूल शरीर के साथ महाभूतों को मिला कार तीन प्रकार के विशेष होते हैं। इनमें से सूक्ष्म, नियत अर्थात् मोक्ष-पर्यन्त स्थायी रहते हैं तथा माता-पिता से उत्पन्न स्थूल शरीर ही बनते बिगड़ते रहते हैं।

प्रकृति से उत्पन्न चौबीस तत्त्वों में से अनेकानेक तत्त्वों के मेल से तीन प्रकार की विशेष वस्तुएं होती हैं जिनके द्वारा पुरुष का उपभोग सम्पादित

---

१. ऊर्ध्वरेतसां भोगहेतवोऽप्यस्मदादीनां नानुभवपथमारोहन्तीति सर्वार्थः।
२. देवानामेते सुखलक्षणा विषया दुःखमोहरहिताः। गौडपाद भाष्य।
३. नचैषां शान्तत्वादिरस्त्युपभोग योग्यो विशेष इति मात्र शब्दार्थः। तत्त्वकौमुदी

होता है। इन तीनों में से एक है सूक्ष्म शरीर जो १८ तत्त्वों से संगृहीत होता होता है तथा तन्मात्र रूप मे अवस्थित वह अनुमानगम्य होता है। दूसरा विशेष स्थूल शरीर है जो माता-पिता से उत्पन्न होता है। तीसरा विशेष पंच-महाभूत है।

सूक्ष्मशरीर—सांख्य-सिद्धांत के अनुसार भी प्रत्यक्ष परिदृश्यमान प्रत्येक व्यक्ति के स्थूलशरीर के अतिरिक्त उसका एक सूक्ष्मशरीर भी होता है जिसे सांख्य-शास्त्र में लिंग शरीर के नाम से अभिहित किया गया है।[1] यह महत्तत्त्व, अहंकार, मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा पाँच तन्मात्राओं को मिलाकर अठारह तत्त्वों के योग से सम्पन्न होता है और सृष्टि के आरम्भ से लेकर प्रलयपर्यन्त बना रहता है। इस सूक्ष्मशरीर की गति कहीं भी अवरुद्ध नहीं होती। यहाँ तक कि यह शिला में भी प्रवेश कर सकता है। अधिक क्या कहा जाय इस संसार में कोई भी ऐसा प्रदेश नहीं है जहाँ इसकी गति अबाध न हो। यही लिंगशरीर पूर्व पूर्व स्थूल शरीरों को छोड़ता तथा उत्तरोत्तर नये नये स्थूलशरीर धारण करता है। लिंगशरीर के बिना स्थूलशरीर का भोग सम्भव नहीं है। यह लिंगशरीर ही जन्ममरणरूप संसार को प्राप्त करता है। इसी लिंगशरीर के द्वारा पुरुष संसार में आता है। इसका विवेचन भूमिका में विस्तार-पूर्वक किया गया है।

स्थूलशरीर—माता-पिता के रज-वीर्य के योग से जो शरीर मिलता है उसको स्थूलशरीर कहते हैं।[2] माता के रज से त्वचा, रक्त और मांस बनते हैं तथा स्नायुमण्डल, हड्डियां और मज्जा ये पिता से प्राप्त होते हैं। इन छहों (तीन माता और तीन पिता) के बने होने से इसे षाट्कौषिक शरीर भी कहते हैं।[3] चूंकि रज और शुक्र स्त्री और पुरुष के शारीरिक तत्त्वों में अन्तिम सार-

---

१. लिङ्गशरीरनिमित्तिक इति सनन्दनाचार्यः सां० सू० ६।६९

२. मातृपितृजं स्थूलं प्रायश इतरन्न तथा। सां० सू० ३।७

३. एतत्षाट्कौषिकं शरीरं त्रीणि पितृतः त्रीणि मातृतः।
　अस्थिस्नायुमज्जानः पितृतः त्वङ्मांसरुधिराणि मातृतः।
　मज्जास्थिस्नायवः शुक्राद्रक्तात् त्वङ् मांसशोणितम्।
　इति षाट्कौशिको नाम देहो भवति देहिनाम्॥ गर्भोपनिषद्।

भूत हैं। अतः इनमें शरीर के सभी अवयवों और तत्त्वों के उत्पादन की क्षमता विद्यमान है।[१]

'प्रकृष्टानि महान्ति भूतानि इति प्रभूतानि, तैः प्रभूतैः महाभूतैरित्यर्थः' की व्युत्पत्ति से प्रभूत शब्द का अर्थ महाभूत होता है। 'प्रभूतैः' में बहुवचन विभक्ति से पंचमहाभूतों के साथ साथ इनके द्वारा निर्मित घट आदि सभी पदार्थों का ग्रहण हो जाता है। ये पंच महाभूत भी अनुभवयोग्य सुखदुःखमोह-रूपधर्म से युक्त हैं, इसलिए इनको भी विशेष कहा गया है। और इस प्रकार सूक्ष्मशरीर, स्थूलशरीर और पंचमहाभूत — ये तीन विशेषों के प्रकार हैं। इनमें से लिंगभूत सूक्ष्मशरीर को नित्य माना गया है जिसका आशय यह है कि ये सृष्टि के आदि से प्रलयपर्यन्त बने रहते हैं और ये जन्मजन्मान्तर को प्राप्त होते हैं। इस लोक में जिनका जन्म और यहीं जिनका मरण होता है वे स्थूलशरीर हैं जो इसी लोक में निवृत्त हो जाते हैं। इनकी निवृत्ति कई प्रकार से होती है—या तो ये पृथ्वीभाव को प्राप्त हो जाते हैं या दग्ध होकर भस्म हो जाते हैं अथवा पशु-पक्षियों के द्वारा भक्षित होकर विष्ठा के रूप में परिणत हो जाते हैं।

मनुष्यों के स्थूलशरीरों का अन्त कई प्रकार से होता है। छोटे बालक मर जाते हैं तो उनके शरीर को गड्ढा खोदकर गाड़ दिया जाता है और वह उसी में गलपच जाता है। बड़ों के शरीर को सामान्य रूप से चित्ता में जला दिया जाता है और वह शरीर राख बन जाता है। मृत शरीर को नदियों में प्रवाहित कर देने की भी प्रथा है तथा कुछ जगहों में पशुओं के समान ही मनुष्य के मृत शरीर को भी बाहर जंगल में फेंक देते हैं जहाँ गीदड़ आदि पशु और गीध आदि पक्षी उसे खा जाते हैं और वह शरीर विष्ठा बनकर बाहर निकल जाता है। किन्तु कुल मिलाकर हर प्रकार से अन्त में मृत स्थूल-शरीर पंचतत्त्वों में ही मिल जाता है ॥३९॥

पूर्वकारिका में निरूपित तीन प्रकार के विशेषों में से सूक्ष्म-शरीर का विस्तारपूर्वक विवेचन करते हैं :—

१. रसाद्धि शोणितं जातं शोणितान्मांस सम्भवः। मांसात्तु मेदोजन्म, मेदसो स्थिसमुद्भवः॥ अस्थ्नोः मज्जा समभवत् मज्जातः शुक्रसम्भवः। शुक्रात्संजायते गर्भः, ...॥

पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतम्महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् ।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ॥ ४० ॥

लिंगम् सूक्ष्मशरीरं पूर्वोत्पन्नं पूर्वस्मिन्नादिसर्गे प्रधानेन प्रति पुरुष पृथक्-पृथक् उत्पादितम्, असक्तम् अव्याहतम्, शिलायामपि प्रवेशं कर्त्तुं शक्नोति इत्यर्थः । नियतम् नित्यं ज्ञानोत्पत्तेः प्राक् अथवा महाप्रलयपर्यन्तं स्थायि, महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् महत् बुद्धि आदिर्यस्य तत्, सूक्ष्मविषयाः तन्मात्रलक्षणाः पर्यन्तं यस्य तत् सूक्ष्मपर्यन्तम्, महत्तत्वाहंकारमनःपञ्चज्ञानेन्द्रिय पञ्चकर्मेन्द्रिय पञ्चतन्मात्रेत्यष्टादशतत्त्वानां समूहरूपम् । निरुपभोगम् स्थूलशरीरेण विकलत्वात् विषयभोगासमर्थम्, भावैः धर्माधर्मादिभिरष्टाभिः अधिवासितं उपसक्तं सत्, संसरति पूर्वपूर्वस्थूलशरीरं त्यक्त्वा उत्तरोत्तरं नवं नवं शरीरं धारयति ।

सूक्ष्म शरीर आदि सर्ग से ही उत्पन्न होता है, इसकी गति सर्वत्र अव्याहत होती है, यह प्रतिशरीर नियत होता है तथा विवेक, ज्ञान अथवा प्रलयपर्यन्त बना रहता है । महत्तत्व बुद्धि से लेकर सूक्ष्मभूत पंचतन्मात्राओं तक (महत्ततत्व, अहंकार, मन, पंचज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ, पंच तन्मात्राएं) के अठारह तत्त्वों का यह संग्रह अर्थात् परिणाम होता है ।[1] इसमें विषयों में उपभोग करने की क्षमता नहीं होती । तथा यह धर्म, ज्ञान, विराग, ऐश्वर्य, अधर्म अज्ञान, अविराग, अनैश्वर्य नामक बुद्धि के आठ भावों की वासना से युक्त होकर (नये नये शरीर धारण करता हुआ) तीनों लोक में विचरण करता है ।

लिङ्गम् लिङ्गपद से यहाँ तात्पर्य सूक्ष्मशरीर से है । 'लयं गच्छतीति लिङ्गम् की व्युत्पत्ति से चूंकि यह प्रलयकाल में विलीन हो जाता है। अतः इसक नाम लिंग रखा गया है । अथवा 'जो वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं उनका विनाश भी अवश्यम्भावी है, इस व्याप्ति के अनुसार यह सूक्ष्म शरीर अपने ही विनाश का द्योतक होने से लिंग कहा गया है । सूक्ष्म शरीर का यह लिंगत्व उसे प्रधान से पृथक् करता है क्योंकि प्रधान (मूल-प्रकृति) किसी से भी उत्पन्न नहीं होता । 'लिंगपद में एक वचन के प्रयोग के आधार पर कुछ टीकाकारों ने सृष्टि के आरम्भ में समष्टि रूप से एक ही लिंग शरीर की सत्ता मानी है ।[2] फिर ये सूक्ष्मशरीर अलग अलग क्यों कर होते हैं ? इसका उत्तर भी सांख्य-सूत्रों में

---

१. सप्तदशैकं लिङ्गम् । सां० सू० ३।६

२. लिङ्गम् शरीरं, तच्च स्वर्गादौ समष्टिरूपमेकमेव भवति इत्यथः ।
विज्ञानभिक्षु सा० सू० ३।६

समुचित रूप से दिया गया है कि व्यक्ति-भेद कर्मविशेष से होता है।[1] विज्ञान भिक्षु का कहना है कि यद्यपि सृष्टि के आरम्भ में हिरण्यगर्भ नाम का एक ही सूक्ष्मशरीर होता है तथापि बाद में तो वह व्यक्ति-भेद से अनेक भी हो जाता है।[2] किन्तु हिरण्यगर्भ की कल्पना सांख्य के लिये सर्वथा नवीन है।

पूर्वोत्पन्नः -- यह पद 'लिंगम्' का विशेषण है। सूक्ष्मशरीर कब से है ? इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि वह अनादि काल से है। 'अनादि' पद से यहां केवल इतना ही समझना चाहिए कि, महाप्रलय के अनन्तर जब प्रथम बार सृष्टि होती है, तो उस समय ही सूक्ष्मशरीर उत्पन्न होते हैं। इनकी भी उत्पत्ति प्रधान के द्वारा ही सम्पन्न होती है। प्रकृति आदि सर्ग में ही प्रत्येक पुरुष के लिए एक-एक सूक्ष्मशरीर बना देती है। इस सूक्ष्मशरीर की गति अबाध होती है। यह आकाश में उड़ सकता है, जल में डूबा रह सकता है, यहाँ तक कि शिला में भी प्रवेश कर सकता है; यही नहीं, इसकी गति लोक-लोकान्तर में भी बाधित नहीं होती। उसी के सहारे पुरुष का नाना प्रकार के लोकों में विचरण सम्भव होता है। इसीलिए इसको 'असक्त' कहा है। सक्त उसको कहते हैं जो कहीं रुक जाय। उसका अभाव होने से ही इसे असक्त कहा गया है। कहीं-कहीं 'अशक्त' पाठ भी मिलता है जो यद्यपि शुद्ध नहीं है, तथापि 'नास्ति शक्तं समर्थं 'यस्मात् तत्' की व्युत्पत्ति से 'जो सर्वकर्मसमर्थ है, वही अशक्त है, अर्थ ठीक बैठ जाता है।

नियतम् — यह सूक्ष्म शरीर आदि सर्ग से लेकर महाप्रलय-पर्यन्त बना रहता है। इसलिए परमार्थतः नित्य नहीं होते हुए भी इसे नियत कहा गया है। जयमङ्गलाकार सूक्ष्मशरीर की स्थिति ज्ञानोत्पत्ति के पूर्व तक ही मानते हैं।[3] यहां प्रश्न यह उठता है कि विवेक-ज्ञान होने के अनन्तर सूक्ष्मशरीर नहीं रहता ? यदि नहीं रहता तो मन, बुद्धि, अहंकार एवं तत्तद् इन्द्रियों की ये चेष्टाएँ कैसे होती रहती हैं ? और यदि विवेकख्याति के अनन्तर सूक्ष्मशरीर निवृत्त नहीं हो जाता तो पुरुष की मुक्ति किससे होती है ? इसका समाधान

---

१. व्यक्तिभेदः कर्मविशेषात्। सां० सू० ३।१०

२. यद्यपि सर्गादौ हिरण्यगर्भोपाधिरूपमेकमेव लिङ्गं तथापि तस्य पश्चाद्व्यक्ति-भेदो व्यक्तिरूपेणांशतो नानात्वमपि भवति। विज्ञानभिक्षु

३. नियतंनित्यं, ज्ञानोत्पत्ते प्रागित्यर्थः। जयमङ्गला।

यही है कि विवेकख्याति के अनन्तर सूक्ष्मशरीर बना तो रहता है, किन्तु स्थूल-शरीर के द्वारा विषयों के उपभोग की उसकी क्षमता नष्ट हो जाती है और भुने हुए बीज की तरह नये स्थूलशरीर के रूप में पुनः उत्पन्न होने के योग्य वह नहीं रह जाता। स्थूलशीरर का संचालन भी उसके द्वारा नहीं होता, अपितु संस्कारवश स्थूलशरीर अपने क्रिया-कलाप करता रहता है। यह सूक्ष्म-शरीर महत्, अहंकार, एकादश इन्द्रियां तथा पंचतन्मात्राओं का समुदाय होता है। वाचस्पति मिश्र महदादिसूक्ष्मपर्यन्त का अर्थ इन सबका समुदाय करते हैं,[1] किन्तु जयमंगलाकार ने सूक्ष्मशरीर को इनका परिणाम माना है।[2]

निरुपभोगम्—सूक्ष्मशरीर से विषयों का भोग साक्षात् सम्भवः नहीं होता; अपितु स्थूलशरीर के द्वारा ही वह विषयों का उपभोग करता है। चूंकि भोग स्थूलशरीर से होता है अतः जब तक वह स्थूलशरीर नहीं प्राप्त करता, तब तक बिना भोग किये ही इधर उधर तीनों लोक में विचरण करता रहता है। यहां 'निरुपभोगं यथा स्यात् तथा' अथवा 'यतः निरुपभोगं भवति तस्मात्' की व्युत्पत्ति से 'निरुपभोगं' संसरति के हेतु के रूप में प्रयुक्त हुआ है जिसका अभिप्राय यह है कि सूक्ष्मशरीर के लोक-लोकान्तर एवं नानायोनियों में संसरण करते रहने का कारण जन्मजन्मान्तर के कर्मों का भोग न हो पाना है। जब तक कर्मों का भोग पूर्ण नहीं हो जाता सूक्ष्मशरीर बना रहता है और नाना योनियों में स्थूलशरीरर धारण करता है।

भावैरधिवासितम्:—सूक्ष्मशरीर की स्थिति और उसके क्रिया-कलापों के सम्बन्ध में एक प्रश्न यह उठता है कि जिन धर्म और अधर्म से शरीर का धारण होता है उनका सम्बन्ध आत्मा से होता है और जिस आत्मा के धर्मा-धर्म होते हैं उसी से शरीर का सम्बन्ध जोड़ते हैं।[3] यह सिद्धांत न्याय, वैशेषिक

---

१. महदहंकारः एकादशेन्द्रियपञ्चतन्मात्रपर्यन्तम्, एषां समुदायः सूक्ष्मशरीम्। तत्त्वकौमुदी।

२. बुद्धिरहंकार एकादशेन्द्रियाणि पञ्चतन्मात्रणीत्येतत् इत्यर्थः। जयमङ्गला।

३. योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्ये तु संयान्ति यथाकर्म यथा श्रुतम्॥
मानसं मनसैवायमुपयुङ्क्ते शुभाशुभम्। वाचा वाचा कृतं कर्म कायेनैव तु कायिकम्॥ शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः। वाचिकैः पक्षि-मृगतां मानसैरन्त्यजातिताम्॥

एवं मीमांसा सबको मान्य है। चूंकि सूक्ष्मशरीर का धर्माधर्म से कोई सम्बन्ध नहीं होता, अतः आत्मा के धर्माधर्म सूक्ष्मशरीर का सम्बन्ध स्थूलशरीर से कैसे स्थापित कर सकते हैं। यह संसार धर्म और अधर्म से ही मिलता है जो सूक्ष्मशरीर में नहीं होते, अतः यह सूक्ष्मशरीर किस आधार पर लोक-परलोक में विचरण करता है? इसके समाधान के लिए ही कारिका में 'भावैरधिवासितम्' कहा गया है। भाव पद से धर्म-अधर्म, ज्ञान-अज्ञान, विराग-राग, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य का बोध होता है। चूंकि ये बुद्धि के ही धर्म हैं, अतः बुद्धि इनके साथ सूक्ष्मशरीर से युक्त होती है। अर्थात् धर्मज्ञानादि आठों भाव बुद्धि में होते हैं और बुद्धि सूक्ष्मशरीर में होती है। इस प्रकार लिंग अर्थात् सूक्ष्मशरीर उक्त आठों भावों से उसी प्रकार अधिवासित अर्थात् उपरक्त होता है जैसे सुगंधित चम्पा के फूलों से वस्त्र भी गंधवासित हो जाते हैं। इसीलिए सूक्ष्म-शरीर लोक-परलोक में संचरण करता है। यही सूक्ष्मशरीर का भावों से अधिवासित होना है।[1] ॥४०॥

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि जब बुद्धि ही धर्म-ज्ञान आदि से समन्वित होकर सूक्ष्मशरीर के इतस्ततः संचरण का कारण होती है तो लिंग शरीर की सत्ता मानने की क्या आवश्यकता है? बुद्धि ही अहंकार और इन्द्रियों से युक्त होकर इतस्ततः संचरण करती है, यही क्यों नहीं मानते? अथवा बाह्याभ्यन्तर त्रयोदश करण ही संचरण करते हैं अप्रामाणिक सूक्ष्म-शरीर के मानने की क्या आवश्यकता है? क्योंकि सूक्ष्म शरीर की गणना सांख्य के २५ तत्त्वों में कहीं नहीं हुई है। इसके समाधान के लिए ही अगली कारिका की अवतारणा करते हैं।

चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथाच्छाया।
तद्वद्विनाऽविशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम् ॥ ४१ ॥

यथा आश्रयम् पटमित्यादिकं, ऋते बिना, शिल्पिनिर्मितं चित्रं आलेख्यं, न तिष्ठति, यथा वा स्थाण्वादिभ्यः विना छाया न तिष्ठति, तद्वत् अविशेषैः सूक्ष्मतन्मात्रादिभिः विना निराश्रयं निराधारं लिङ्गम् बुद्ध्यादिकं न तिष्ठति स्थातुं न शक्नोतीत्यर्थः।

---

१. भावैः उक्तैः धर्माद्यैः अधिवासिता बुद्धिः तदन्वितं लिङ्गं सूक्ष्मशरीरं देहिनः तादृशलिङ्गशरीरावच्छिन्नं भवति इत्यर्थः ॥

जैसे बिना आधार के कोई चित्र अथवा बिना वृक्षादि के छाया नहीं हो सकती, उसी प्रकार 'अविशेष' अर्थात् तन्मात्राओं के बिना लिंग अर्थात् बुद्ध्यादि करण नहीं रह सकते।

यहाँ पर लिंग पद से आत्मा के ज्ञापक बुद्धि आदि त्रयोदश करणों का ग्रहण होता है, न कि सूक्ष्मशरीर का। ये बुद्ध्यादि करण किस पर आश्रित होते हैं? यह एक समस्या है। बिना किसी आश्रय के ये काम नहीं कर सकते। जन्म और मरण के बीच तो ये स्थूलशरीर में आश्रित होकर रहते हैं, यह कहा जा सकता है। किन्तु मृत्यु के बाद और पुनः जन्म-ग्रहण के पूर्व इनकी स्थिति कहाँ होती है? चूंकि बुद्ध्यादि बिना आश्रय के नहीं रह सकते, इसलिये इनके आश्रयभूत एक ऐसे शरीर की कल्पना निराधार नहीं है, वही लिंग अर्थात् सूक्ष्म शरीर है। इसके लिए चित्र और छाया का दृष्टान्त इस कारिका में उदाहरण दिया है। जिस प्रकार बिना फलक के कोई चित्र नहीं बन सकता तथा बिना किसी वृक्ष आदि के छाया नहीं हो सकती, उसी प्रकार बुद्धि आदि बाह्यकरणों का कोई न कोई आश्रय अवश्य होना चाहिए। जो आश्रय है, वही सूक्ष्मशरीर है। केवल बुद्ध्यादि करण इतस्ततः संसरण करने में समर्थ नहीं होते। इसके लिए आगम-प्रमाण भी है कि यम ने अंगुष्ठमात्र पुरुष को शरीर से हठात् निकाल दिया।[1] अंगुष्ठमात्र शब्द औपचारिक प्रयोग है जिसका तात्पर्य उसके सूक्ष्म होने से है। चूंकि आत्मा का निकलना (कर्षण) सम्भव नहीं है, इसलिए ऐसी युक्तियों में सूक्ष्मशरीर को ही पुरुष अर्थात् आत्मा कहा गया है। क्योंकि 'पुरि स्थूलशरीरे शेते तिष्ठति' की व्युत्पत्ति से वह भी पुरुष पद के प्रयोग का भागी है। इस प्रकार इस कारिका की व्याख्या से यह सिद्ध हो गया कि सूक्ष्मशरीर की सत्ता है और जन्म-जन्मान्तर होने तथा लोकपरलोक में गमन करनेवाला शरीर सूक्ष्म ही है।

यहाँ पर 'विनाविशेषैः' इस पद का अर्थ कई प्रकार से किया गया है। गौडपाद और माठर ने अकार के प्रश्लेषसहित 'विना अविशेषैः' ऐसा पाठ माना है। गौडपाद का कहना है कि अविशेष अर्थात् पंचतन्मात्राओं के बिना करण नहीं रह सकते।[2] वाचस्पति मिश्र इसको 'विशेषैः विना' मानते हैं और

---

१. अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्।

२. तद्वदेतेन दृष्टान्तेन न्यायेन विनाविशेषैः=अविशेषैः=तन्मात्रैः विना लिङ्गं (करणं) न तिष्ठति। गौडपाद

'विशेष' पद से सूक्ष्मशरीर का ग्रहण करते हैं। चन्द्रिकाकार ने भी 'विशेषैः विना, इसी विग्रह का समर्थन किया है। किन्तु 'विशेष' पद से सूक्ष्मशरीर का ग्रहण न कर स्थूलशरीर लिया है।[1] यहां पर लिंग से सूक्ष्मशरीर एवं विशेष पद से स्थूलशरीर का ग्रहण हुआ है ॥ ४१ ॥

पूर्वकारिका में सूक्ष्मशरीर के अस्तित्व को सिद्ध किया गया है और साथ ही यह भी बताया गया है कि वह जब स्थूलशरीर से रहित होता है तो लोकलोकान्तर में विचरण करता रहता है। किन्तु उसकी इस संसरण क्रिया का क्या कारण है ? तथा किस प्रकार वह एक स्थूलशरीर से दूसरे स्थूलशरीर को प्राप्त करता है ? इसका निरूपण ही अगली कारिका का विषय है :

पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन ।
प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम् ॥४२॥

भोगापवर्गलक्षणः पुरुषार्थः हेतुः प्रयोजकः यस्य तत्तादृशम् इदं लिङ्गं सूक्ष्मशरीरं, निमित्तं धर्मादि, नैमित्तिकं धर्मादिकारणकं स्थूलदेहादि ऊर्ध्वाधोगमनादि वा तयोः प्रसङ्गेन सम्बन्धेन, प्रकृतिः प्रधानं तस्याः विभुत्वम् जगत्कर्तृत्वं, तद्योगात् तत्सम्बन्धात् सर्वगतत्वधर्मसम्बन्धात् वा तदधिवासितं सत्, नटवत् अभिनेतृवत्, व्यवतिष्ठते विविधानि रूपाणि गृहीत्वा व्यवहरति ।

पुरुष के भोग एवं अपवर्ग रूप प्रयोजन का साधक यह सूक्ष्मशरीर धर्म-अधर्म आदि बुद्धि-गुणों (निमित्त) एवं उनके स्थूलदेह आदि कार्यों (नैमित्तिक) के सम्बन्ध से प्रकृति की जगत् को उत्पन्न करने अथवा सर्वगत होने की शक्ति से अभिनेता के समान नाना प्रकार के रूप धारण करता हुआ पाया जाता है।

सूक्ष्मशरीर की प्रवृत्ति का प्रयोजन पुरुष का भोग एवं अपवर्ग रूप कार्य है। पुरुष के भोग एवं अपवर्ग की सिद्धि के लिए ही सूक्ष्मशरीर बनता है जो स्थूल देह रूप कार्य एवं धर्म अधर्म आदि उसके कारणों के द्वारा सम्पन्न

---

1. केचित्तु स्थूलशरीरावश्यकत्वाभिप्रायकमिदमिति वर्णयन्ति । तथाहि लिङ्गसमुदायात्मकं लिङ्गशरीरं विशेषैः स्थूलदेहैर्विना निराश्रयं सद् न तिष्ठति किन्तु स्थूलशरीरमाश्रित्यैव तिष्ठति, अतो न लिङ्गशरीरेण स्थूलशरीरस्यान्यथासिद्धिरितिभावः । चन्द्रिका ।

होता है। लिंग अर्थात् सूक्ष्मशरीर प्रकृति की सर्वव्यापकता के योग से ही नाटक के अभिनेता के समान (शूकर, कूकर, कीट, पतंग, दानव, मानव आदि) नाना प्रकार के रूप धारण करता फिरता हैं।

सूक्ष्मशरीर की प्रवृत्ति का कारण पुरुषार्थ है जो दो प्रकार का होता है भोग और अपवर्ग। उसी की सिद्धि के लिए वह विविध योनियों में षाट्कौषिक (स्थूल) शरीर धारण करता रहता है। इस प्रकार भोगापवर्ग रूप पुरुषार्थ स्थूलशरीर का उद्देश्य है तथा धर्म, ज्ञान, विराग, ऐश्वर्य आदि उसकी प्रवृत्ति के कारण हैं जिनका अव्यवहित फल स्थूलशरीर का धारण करना है। धर्मादि से स्थूलशरीर का ग्रहण और स्थूलशरीर के द्वारा धर्मज्ञानादि में प्रवृत्ति, यही सूक्ष्मशरीर का संसरण है जो विवेक होने तक चलता रहता है। इस क्रम के अनादि होने से बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज के समान ही यहां पर भी अन्योन्याश्रय दोष का निवारण हो जाता है। 'पुरुषार्थहेतुकम्' में 'क' प्रत्यय समासांत है।

'निमित्तनैमित्तिकप्रसंगेन' में प्रयुक्त 'निमित्त' पद से बुद्धि के धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, विराग, अविराग, ऐश्वर्य एवं अनैश्वर्य नामक आठ गुणों का ग्रहण होता है तथा नैमित्तिक पद स्थूलशरीर का बोधक है जो उक्त धर्मादि निमित्तों का कार्य है। इन दोनों में प्रसंग तद्विषयक अनुरक्ति है।[1] जयमंगलाकार तथा गौडपाद दोनों ने 'नैमितिक' का अर्थ ऊर्ध्वगमन आदि किया है। निमित्तनैमित्तिक-प्रसंग का अभिप्राय यह है कि सत्त्वबहुल, रजोबहुल तथा तमोबहुल धर्म आदि से भिन्न-भिन्न प्रकार की जो योनियां प्राप्त होती है, उनमें जैसे उसके धर्मादि हैं, उनके अनुरूप ही स्थूलशरीर मिलता है। अनेक पुरुषों के सूक्ष्मशरीर भी अनेक ही होते हैं किन्तु उनके स्वरूप में भी किसी प्रकार का भेद होता है या नहीं? इसका निरूपण यहाँ नहीं किया गया है। सम्भवतः उनमें कोई अन्तर नहीं होता। स्थूलशरीरों का अन्तर तो स्पष्ट है। वह देव, मनुष्य, पशु या वनस्पति, कोई भी हो सकता है। सूक्ष्मशरीर को भी इसी ओर संकेत करता है। आगे ४४वीं कारिका में धर्म से ऊर्ध्व तथा अधर्म से अधोगमन का विधान किया जाएगा। ऊर्ध्वगमन से तात्पर्य देवलोक, तथा अधोगमन से मृत्यु एवं पाताललोकों का ग्रहण होता है।[2]

---

१. निमित्तं च नैमित्तिकं च तत्र यः प्रसङ्गः=प्रसक्तिः=तद्विषये अनुरक्तिः तेन। तत्त्वकौमुदी।

२. धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण। सां० का० ४४

सूक्ष्मशरीर की ऊर्ध्व एवं अधोगमन आदि क्रियाएं बड़ी विलक्षण हैं यह शक्ति उसे कहां से प्राप्त होती है। इसी के उत्तर में कहा है—'प्रकृते-विभुत्वयोगाद्' इसका तात्पर्य यह है कि यह प्रकृति की महिमा ही है कि वह विश्व के रग-रग में व्याप्त है। उसी की शक्ति से सूक्ष्मशरीर भी नाना योनियों में विचरण करता रहता है। 'विभुत्व' का अर्थ वाचस्पति ने विश्व-रूपता किया है तथा अपने समर्थन में पुराण का वचन भी उद्धृत किया है कि प्रकृति की विश्वरूपता का ही यह विलक्षण परिणाम है।[1] जयमंगलाकार ने विभुत्व का अर्थ 'जगत्कर्तृत्व' किया है और इसका अन्वय 'नटवद् व्यवतिष्ठते' से किया है। प्रकृति की इस महिमा से ही लिंगशरीर के लिए शूकर, कूकर, कीट, पतंग, दानव, मानव आदि योनियों में विलक्षण शरीर धारण करना सहज हो जाता है।

नटवद्व्यवतिष्ठते' का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार नाटक का अभिनेता अनेक भूमिकाओं में अनेक प्रकार की वेशरचना करके कभी अजात-शत्रु, कभी युधिष्ठिर तो कभी वत्सराज उदयन आदि के रूप में प्रेक्षकों के सामने आता है और ऐसा अभिनय करता है मानो वह वही हो, उसी प्रकार एक ही सूक्ष्मशरीर नाना प्रकार की योनियों में विचरण करता हुआ नाना प्रकार के शरीर धारण करता है और उनके अपना होने का अभिमान करता है। जयमंगलाकार ने प्रकृति के विभुत्व के योग को सूक्ष्मशरीर के नटवद्-व्यवहार का कारण बताया है जिसका अभिप्राय यह निकाला कि सूक्ष्मशरीर के द्वारा नाना प्रकार की योनियों एवं तत्तद् स्थूलशरीरों की प्राप्ति न तो स्वभाव से अनायास होती है और न ईश्वर के द्वारा, अपितु वह व्यक्ति के अपने ही धर्माधर्म का परिणाम है[2]॥ ४२॥

पूर्वकारिका में 'निमित्तनैमित्तिकप्रसंगेन' से जिनका उल्लेख किया है उनमें से कौन निमित्त अर्थात् कारण और कौन नैमित्तिक अर्थात् कार्य हैं तथा उनका आश्रय क्या है? इसका विवरण प्रकृत कारिका में प्रस्तुत करते हैं—

---

१. वैश्वरूप्यात्प्रधानस्य परिणामोऽयमद्भुतः। तत्त्वकौमुदी।

२. प्रकृतिः प्रधानं, तस्या विभुत्वं जगत्कर्तृत्वं तद्योगात् नटवद्व्यवतिष्ठते। प्रधानेनैव हि पुरुषस्यार्थः कर्तव्य इति महदादिसूक्ष्मपर्यन्तं लिङ्गमुत्पाद्य धर्मादिभिरधिवासयति। तदधिवासितं च नटवद्व्यवतिष्ठते। जयमङ्गला।

सांसिद्धिकाश्च भावाः प्राकृतिका वैकृतिकाश्च धर्माद्याः ।
दृष्टाः करणाश्रयिणः कार्याश्रयिणश्च कललाद्याः ॥४३॥

ये धर्माद्याः अष्टौ प्राकृतिकाः स्वाभाविकाः भावाः त एव सांसिद्धिकाः सहजाः, ये पुनः वैकृताः नैमित्तिकाः, ते असांसिद्धिकाः अर्जिताः उपायानुष्ठानोत्पन्नाः भवन्तीत्यर्थः । ते द्विविधाः करणाश्रयिणः त्रयोदशविधकरणमाश्रित्य प्रवर्तन्ते, कार्याश्रयिणः कार्यं शरीरं तदाश्रित्य प्रवर्तन्ते इति ते च कललाद्याः अष्टौ दृष्टाः ।

धर्म अधर्म आदि आठों भाव प्राकृतिक (स्वाभाविक) तथा वैकृतिक (अस्वाभाविक) दो प्रकार के होते हैं । इनमें से जो स्वाभाविक हैं वे जन्मजात होते हैं किन्तु जो अस्वाभाविक हैं वे असांसिद्धिक अर्थात् स्वतः सिद्ध न होकर अर्जित होते हैं । ये दोनों ही प्रकार के भाव तेरह करणों के आश्रय से तथा कार्य शरीर के आश्रय से देखे गये हैं । शरीर रूपी कार्य का आश्रय करके होने वाले (धर्म आदि) कलल आदि हैं ।

४०वीं कारिका में कहा गया है कि लिंग अर्थात् सूक्ष्मशरीर भावों से अधिवासित होता है । उन्हीं भावों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते हुए कहा है—'भावाः', जिसका विशेषण 'धर्माद्याः' है । 'आदि' पद से ज्ञान, विराग, ऐश्वर्य तथा इनके विपरीत अधर्म, अज्ञान, अविराग और अनैश्वर्य का ग्रहण होता है । धर्मादि ये भाव दो प्रकार के होते हैं—सांसिद्धिक अर्थात् सहज या जन्मजात तथा असांसिद्धिक अर्थात् उपाय और अनुष्ठान आदि से अर्जित । उदाहरणतः सांख्यपरम्परा के अनुसार भगवान् कपिल इस सृष्टि के प्रथम विद्वान् हुए जिन्हें ये धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य नामक भाव जन्मजात उपलब्ध थे । या इसे यों कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी कि भगवान् कपिल इन धर्मादिभावों से सम्पन्न ही उत्पन्न हुए थे । इसके विपरीत वाल्मीकि ऋषि में धर्म, ज्ञान, विराग, ऐश्वर्य आदि भाव तप से अर्जित हुए, जन्मतः विद्यमान नहीं थे । अतः ये ही भाव कहीं जन्मजात होते हैं तो कहीं तप एवं अनुष्ठान से प्राप्य प्रयासजन्य हैं । वस्तुतः भावों के जो भेद हैं वे प्राकृत एवं वैकृत नाम से अभिहित हुए हैं । प्राकृतिक का अर्थ होता है स्वाभाविक तथा वैकृत का अर्थ होता है कृत्रिम अथवा किसी निमित्त से उत्पन्न । जो भाव सांसिद्धिक कहे गये हैं वे ही प्राकृतिक हैं अथवा प्राकृतिक (स्वाभाविक) भाव जन्मजात होते हैं तथा कृत्रिम भाव अर्जित ।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि ये भाव इसी रूप में हैं इसमें क्या प्रमाण है ? इसके निरूपण के लिए ही कारिका का उत्तरार्द्ध प्रस्तुत है कि ये भाव करण अर्थात् त्रयोदश अन्तर्बाह्यकरण का आश्रयण करते हैं तथा अन्यभाव कार्य अर्थात् शरीर का आश्रयण करते हैं। दूसरे प्रकार के अर्थात् शरीर का आश्रयण करने वाले भावों में कलल, बुद्बुद, मांसपेशीकरण, अंग-प्रत्यंग, व्यूह आदि गर्भस्थ तथा उससे निकलने पर बाल्य, कौमार, यौवन तथा वार्धक्य आदि भाव स्पष्टतया देखे जाते हैं। वीर्य-रज के मिश्रण के चार रात के अनन्तर ही चर्माकार जो गर्भ का आवरण बनता है उसे ही कलल कहते हैं। गौडपाद ने कारिका की व्याख्या भिन्न क्रम से की है। इनका कहना है कि जिन भावों से अधिवासित होकर सूक्ष्मशरीर लोक-लोकान्तर में संसरण करता है, वे तीन प्रकार के होते हैं—'सांसिद्धिक, प्राकृत एवं वैकृत। इनमें से सांसिद्धिक वह हैं जो जन्म के साथ ही स्वतःसिद्ध होते है। प्राकृत का निरूपण करते हुए वह कहते हैं कि ब्रह्मा के सनक, सनन्दन आदि चार पुत्र हुए। उन्हें उनके पूर्वजन्म में सम्पादित कर्मों के कारण सोलह वर्ष की अवस्था में ही धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं ऐश्वर्य की प्राप्ति हो गई थी। तीसरा स्थान वैकृत भावों का है जैसे आचार्य की स्मृति से ही कुछ मनुष्यों को ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। ज्ञान से वैराग्य, वैराग्य से धर्म, धर्म से ऐश्वर्य की भी प्राप्ति हो जाती है। आचार्य की मूर्ति भी विकृति ही है। इसलिए उससे होने वाले भाव वैकृत कहे जाएँगे जिनसे उपरक्त होकर लिंग शरीर संसरण करता है। ये चारों भाव सात्त्विक हैं। तामस भाव इनसे विपरीत होते हैं।

ये भाव करणाश्रयी और कार्याश्रयी होते हैं। करण बुद्धि को कहते हैं क्योंकि वह त्रयोदश करणों में से एक है। उसमें सन्निहित होने के कारण इन भावों को करणाश्रयी कहा गया है। ये धर्म, ज्ञान, विराग, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अविराग, अनैश्वर्य आठ ही हैं। कार्याश्रयी भाव कलल आदि हैं जो इनसे भिन्न होते हैं तथा उनका आश्रय स्थूल शरीर होता है। शरीर (देह) को ही यहाँ कार्य कहा गया है। कलल चमड़े के आकार का एक थैला होता है जो गर्भ को आवेष्टित किए रहता है। कलल के अतिरिक्त बुद्बुद, मांसपेशी, करण्ड, अंग, प्रत्यंग हैं इनकी कई प्रकार से व्याख्याएं की गई हैं। जैसे कलल वीर्य और रज के मिश्रण को कहते हैं। बुद्बुद् उनका वर्तुलाकार होना है। मांस उसका घनीभाव है। पेशी मांसकोश के रूप में होता है। उससे भी कठोर होना करण्ड कहा जाता है और शिर, कर, चरण आदि अंगों तथा अंगुली आदि प्रत्यगों

की पूर्णता को ही अंग-प्रत्यंग-व्यूह शब्द से अभिहित किया जाता है। इसके बाद गर्भ से बाहर आने पर देह की बाल्य, कौमार्य, यौवन तथा वार्धक्य चार अवस्थाएं होती हैं। स्पष्ट शब्दोच्चारण की शक्ति आने के पूर्व की अवस्था बाल्य कही जाती है। उसके बाद और दाढ़ी-मूंछ आने तक की अवस्था को कौमार्य कहते हैं। किसी किसी के अनुसार षोडश वर्ष की अवस्था तक व्यक्ति बाल कहा जाता है तदनन्तर तरुण। सत्तर वर्ष की आयु के बाद वृद्ध संज्ञा को प्राप्त होता है[1]। कौमार्य और वार्धक्य के बीच की अवस्था को यौवन कहते हैं ॥ ४३ ॥

कारण-कार्य रूप निमित्त और नैमित्तिकों के विषय में पर्याप्त कहा गया है। अब अगली कारिका में यह बताना चाहते हैं कि किस निमित्त से कौन सा नैमित्तिक (कार्य) सम्पन्न होता है—

धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण ।
ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः ॥ ४४॥

धर्मेण यमनियमलक्षणेन (सूक्ष्मशरीरस्य) ऊर्ध्वं ब्राह्म-प्राजापत्यैन्द्रगान्धर्वयाक्षपैत्रादि लोकेषु गमनं देवादिव्यवस्थितिर्भवतीत्यर्थः । अधर्मेण शास्त्रनिषिद्धाचरणेन परपीडादिना अधस्तात् रौरवादिनरकेषु तिर्यग्योनिषु वा स्थितिर्भवति । धर्माधर्ममिश्रणात् मनुष्यलोके स्थितिरिति निष्कर्षः । एवमेव ज्ञानेन आत्मसाक्षात्काररूपेण अपवर्गः मोक्षः, विपर्ययात् अज्ञानात् बन्धः बन्धनम् इष्यते मतः सांख्याचार्यैः इति शेषः ।

धर्म से देवादि ऊर्ध्व लोक में गमन होता है तथा अधर्म से पाताल लोक अथवा पशु-पक्षी, कीट, पतंग आदि योनियों में अधोगमन (पतन) होता है। ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है तथा इसके विपरीत अज्ञान से जीव पुनः बन्धन में आता है।

धर्म से जयमंगलाकार ने यमनियम का ग्रहण किया है किन्तु वाचस्पतिमिश्र ने अभ्युदय और निश्रेयस के साधक यज्ञ, दान आदि अनुष्ठान तथा अष्टांगयोग को निरूपित किया है। मीमांसा-सूत्रकार ने वैदिक कृत्याकृत्य के

---

1. आषोडशाद्भवेद्बालस्तरुणस्तत उच्यते ।
वृद्धस्तु, सप्ततेरूर्ध्वं वर्षीयान्नवतेःपरः ॥

विधान को ही धर्म माना है।[1] ऊर्ध्वगमन से तात्पर्य देवादिलोकों की प्राप्ति है। इन लोकों में ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, गान्धर्व, याज्ञ तथा पितृ आदि मुख्य हैं। इनकी प्राप्ति ही सूक्ष्म शरीर का ऊर्ध्वगमन है।[2] ऊर्ध्व का शाब्दिक अर्थ यद्यपि 'ऊपर' होता है किन्तु यहाँ ऊर्ध्व का अर्थ उत्तम लेना चाहिए। इसी प्रकार 'अधः' का अर्थ अधम अर्थात् निम्न कोटि का ही अभीष्ट है। क्योंकि निखिल ब्रह्माण्ड में न कोई ऊपर है न कोई नीचे। अधोगमन में रौरव आदि नरक का ग्रहण होता है तथा धर्म और अधर्म दोनों के मिश्रण से मनुष्यत्व ही बना रहता है।[3] यह बात कारिका के मूल में नहीं कही गई है किन्तु स्वतः समझ लेनी चाहिए। ज्ञान से प्रकृति पुरुषान्यताख्याति विवेक ही अभीष्ट है जिसका परिणाम अपवर्ग अर्थात् मोक्ष है। यह मोक्ष भी तीन प्रकार का होता है अथवा उसकी तीन अवस्थाएं हैं। पहली ज्ञानावस्था, दूसरी वह अवस्था जिसमें विषयों के प्रति राग की भी निवृत्ति हो जाती है; तृतीय मोक्षावस्था शरीर के छूटने पर पुनः सूक्ष्म शरीर का न मिलना है।[4] इनमें से प्रथम दो जीवनमुक्ति की अवस्थाएं हैं। तृतीय विदेह कैवल्य की अवस्था है। कृच्छ्रक्षय से अभिप्राय जन्मजन्मांतरों के संचित कर्मों का विनाश है। इसी को गीता में कहा है कि ज्ञान की अग्नि सभी कर्मों को जलाकर राख कर देती है।[5] तथा उस परब्रह्म के साक्षात्कार से जीव के कर्म नष्ट हो जाते हैं।[6] यहाँ पर कुछ लोग अपवर्ग से मात्रविदेह-मुक्ति का ही ग्रहण होता है ऐसा मानते हैं। जयमंगलाकार का कथन है कि प्रकृति और पुरुष के भेद का ज्ञान हो जाने से लिंग अर्थात् सूक्ष्म-शरीर की निवृत्ति हो जाती है और इस समय केवल पुरुष ही रह जाता है। यही कैवल्य उसका अपवर्ग है।

---

१. चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः। मीमांसा सूत्र।

२. ऊर्ध्वमित्यष्टौ स्थानानि गृह्यन्ते। तद्यथा ब्राह्मं, प्राजापत्यं, सौम्यम्, ऐन्द्रं, राक्षसं, पैशाचमिति। तत्सूक्ष्मशरीरं गच्छति।

३. शुभैराप्नोति देवत्वं निषिद्धैर्नारकीं गतिम्।
उभाभ्यां पुण्यपापाभ्यां मानुष्यं लभतेऽवशः॥

४. आदौ तु मोक्षो ज्ञानेन द्वितीयो रागसंक्षयात्।
कृच्छ्रक्षयात् तृतीयस्तु व्याख्यातं मोक्षलक्षणम्॥

५. ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन। गी० ४।३७

६. क्षीयन्ते चास्यकर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

'विपर्ययात्' से ज्ञान के विपरीत अज्ञान-भाव का ग्रहण होता है और वह कैवल्य रूप मोक्ष के ठीक विपरीत बन्धन का कारण है। यह बन्धन भी ठीक तीन प्रकार का ही होता है—प्राकृतिक, वैकृतिक और दाक्षिणक। प्रकृति को ही आत्मा समझ कर जो उसकी उपासना करते हैं, उनके सूक्ष्मशरीर का लय प्रकृति में ही हो जाता है और वे सहस्रों वर्ष तक अव्यक्त में विलीन रहते हैं। इसी को प्राकृतिक बन्धन कहते हैं। यहां ध्यान देने की बात यह है कि सूक्ष्म शरीर के प्रकृति में लीन होने से उसकी निवृत्ति नहीं होती किन्तु वह बना रहता है और प्रकृति की उपासना के फलस्वरूप प्राप्त उस विशेष अवस्था की अवधि को समाप्त कर उसे पुनः जन्म-मृत्यु के चक्र में आना पड़ता है। वैकृतिक बन्धन उनको होता है जो पंचमहाभूत, इन्द्रिय, अहंकार, या बुद्धि को ही पुरुष समझ कर उसकी उपासना करते हैं और मूलप्रकृति के विकारोंको ही अज्ञान से आत्मा समझ लेते हैं इसीलिए उनको बन्धन में जाना पड़ता है।

इनमें से जो इन्द्रियों के उपासक हैं वे दस मन्वन्तर[1] तक इन्द्रियों में ही लीन रहते हैं तथा जो भौतिक तत्वों की उपासना उन्हें आत्मा समझकर करते हैं वे पूरे सौ मन्वन्तरों तक अपने उपास्य भूत-विशेष में लीन रहते हैं। अहंकार की उपासना करनेवाले एक सहस्र मन्वन्तर तक अहंकार में तथा बुद्धि की ही आत्मबुद्धि से उपासना करनेवाले दस हजार मन्वंतर तक महत्तत्त्व में लीन रहते हैं।[2] इन अवस्थाओं की विशेषता यह होती है कि इनमें दुःख का अनुभव नहीं होता। तीसरा दाक्षिणक नामक बन्धन उसे होता है जो यज्ञ और शास्त्रविहित आतिथ्य आदि कृत्यों के सम्पादन से दक्षिण मार्ग के द्वारा चन्द्रलोक आदि की प्राप्ति करते हैं। इनके अतिरिक्त वे भी दाक्षिणक ही हैं जो यज्ञ की समाप्ति पर दान के रूप में मिलने वाली दक्षिणा में ही आस्था रखते हैं और आजीवन उसी के लोभ से यज्ञ यागादि कर्म कराते रहते हैं।[3] ये सभी पुरुष के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान नहीं कर पाते अपितु अन्य तत्वों में मोहासक्त होते हैं, इसलिए बन्धन को प्राप्त होते हैं ॥४४॥

---

१. एवं चतुर्युगाख्यानां साधिका ह्येकसप्ततिः। कृतत्रेतादियुक्तानां मनोरन्तरमुच्यते।
२. दशमन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः। भौतिकास्तु शतं पूर्णं सहस्रं त्वाभिमानिकाः॥ बौद्धा दशसहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः॥
३. अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते, धूममभिसम्भवन्ति।

—छान्दो० उ० ५।१०।३

इसके पहले धर्म, अधर्म, ज्ञान और अज्ञान नामक भावों के फल का निरूपण किया गया है। अब विराग, राग तथा ऐश्वर्य और अनैश्वर्य शेष चार भावों के फल का निरूपण अगली कारिका में करते हैं—

वैराग्यात् प्रकृतिलयः संसारो भवति राजसाद्रागात्।
ऐश्वर्यादविघातो विपर्ययात्तद्विपर्यासः ॥ ४५ ॥

वैराग्यात् दृष्टानुश्रविकविषयेषु अलं बुद्धिर्विरागस्तस्मात् तन्मात्रात्, प्रकृतिलयः प्रकृतौ तत्कार्येषु महदादिषु वा लयो भवति। राजसात् रजोगुणकार्यात्, रागात् कर्मफलाभिलाषात्, संसारः लोकलोकान्तरेषु तत्तद् स्थूलशरीरपरिग्रहाय संचरणं भवति। ऐश्वर्यात् अणिमादिशक्तिलक्षणात् अविघातः इच्छायाः अप्रतिबन्धः, विपर्ययात् अनैश्वर्यात् तद्विपर्यासः तस्य अविघातस्य विपर्यासः वैपरीत्यं विघातो भवति इति शेषः ॥४५॥

पुरुष के ज्ञान के विना जीव (सूक्ष्मशरीर) प्रकृति में विलीन होकर रहता है। रजोगुण के आधिक्य के परिणामभूत विषयों में राग अर्थात् उनके कर्म के फल को भोगने की इच्छा होने से संसार मिलता है। ऐश्वर्य कही जानेवाली अणिमा आदि सिद्धियों से व्यक्ति की इच्छा का विघात नहीं होता। वह जो चाहता है प्राप्त कर लेता है। उसके विपरीत अनैश्वर्यभाव का फल ऐश्वर्य के फल के ठीक विपरीत इच्छा का विघात अर्थात् पूर्ण न होना है।

लौकिक एवं स्वर्गीय उभयविध विषयों के उपभोग के विषय में अलंबुद्धि का ही नाम वैराग्य है। योगशास्त्र भी कहता है कि दृष्ट एवं आनुश्रविक विषयों के प्रति तृष्णा हट जाने पर चित्त का वश में होना ही वैराग्य है।[1] यह यदि पुरुषतत्व के ज्ञान पूर्वक है तब तो उससे मोक्ष की प्राप्ति होती है और यदि पुरुषतत्व के ज्ञान के बिना ही यम नियमों में प्रवृत्त व्यक्ति को विषय-भोग के प्रति अरुचि हो जाती है, कोई तृष्णा नहीं होती तो उसका फल मोक्ष न होकर प्रकृति में लय होता है। अर्थात् व्यक्ति प्रकृति-भावापन्न हो जाता है। प्रकृति से यहाँ उसके कार्य महत्, अहंकार, महाभूत, इन्द्रियाँ आदि सबका ग्रहण होना है। इसका कारण यह है कि यम नियम आदि निरुद्देश्य नहीं होते, न किये जा सकते हैं। उनके करने का उद्देश्य यदि पुरुष तत्व का ज्ञान नहीं है तो प्रकृति के उक्त विकारों में से ही कोई न कोई उद्देश्य

---

१. दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्। यो० सू० १।१५

होगा और प्रकृति के विकारों की उपासना करने पर प्रकृति के उसी तत्त्व में लिंगशरीर का लय होगा जो उसका उपास्य रहा है। उक्त तत्त्वों में सूक्ष्म-शरीर के लय होने की अवधि का निरूपण किया जा चुका है। अतः यहाँ अनपेक्षित है। इस प्रकार विषयों के प्रति वैराग्यमात्र की भावना से प्रकृतिलय प्राप्त होता है। मोक्ष या उसका कारण विवेक नहीं। वैराग्य का विपरीत भाव राग है जो फल-प्राप्ति की इच्छा से कर्म करने से स्वतः उत्पन्न होता है। योगशास्त्र का कहना है कि विषयों के उपभोग-सुख का आस्वाद पाए हुए व्यक्ति का सुख या उसके साधन के प्रति जो तृष्णाभाव (लगाव) है, वही राग है।[1] राग रजोगुण का कार्य है इसलिये वह सर्वदा राजस ही होता है सात्त्विक या तामस नहीं। अतः 'उष्णोऽग्निः' में प्रयुक्त अग्नि के विशेषण उष्ण के समान यहाँ पर भी राग के विशेषण राजस का प्रयोग व्यर्थ लगता है। चूँकि रजोगुण दुःख का हेतु है इसीलिए रजोगुण के कार्य राग से उत्पन्न संसार भी दुःखमय ही होता है, इस बात को सूचित करने के लिये ही यहाँ 'राजस' विशेषण पद का प्रयोग हुआ है। राग से संसार होता है इसका अर्थ यह है कि विषयों में राग के कारण ही व्यक्ति पुनः पुनः जन्म लेता है और नाना प्रकार की योनियों तथा लोकलोकान्तर में नये नये स्थूल देह ग्रहण करता है।

कुछ टीकाकारों ने राग का अर्थ काम क्रोध आदि किया है और उनकी प्राप्ति दो प्रकार से सम्भव मानी है—यज्ञादि के द्वारा तथा लौकिक वस्तुओं के अर्जन आदि से। यज्ञादि के द्वारा स्वर्ग आदि लोकों की प्राप्ति होती है तथा स्त्री आदि विषयक राग से लौकिक भोग होता है।

ऐश्वर्य अणिमादि शक्तियों की प्राप्ति है। उनका फल इच्छा का विघात न होना है। व्यक्ति जब जो चाहता है उक्त शक्तियों के बल से प्राप्त कर लेता है। जो जितनी मात्रा में इन शक्तियों को प्राप्त करता है, उतनी ही मात्रा में वह ईश्वर है। किसी भी पुरुष के लिए सभी शक्तियों को प्राप्त कर ईश्वर होना दुष्कर अवश्य है पर असम्भव नहीं। लोक में जो विवशता व्याप्त है कि हम जो जो चाहते हैं नहीं प्राप्त कर पाते, हमारी इच्छाएँ सदा भंग होती रहती हैं, इसका कारण यही है कि हममें ऐश्वर्य का अभाव है। यथा-भिलषित वस्तु या विषय की अनायास प्राप्ति हो जाना केवल योगियों के लिए ही नहीं, उन व्यक्तियों के लिए भी स्वाभाविक है जिनमें जन्मजन्मान्तर

१. सुखानुशयी रागः। योगसूत्र २.७

में अर्जित उत्तम कर्मों के फल के रूप में ईश्वरत्व विद्यमान होता है। अतएव उनकी बहुत सी इच्छाओं की पूर्ति बिना किसी विशेष प्रयास के ही हो जाती है। इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकला कि इस जगत् में जो वैषम्य है जिसका अनुभव हमें प्रत्येक व्यक्ति को समझने और काम करने की शक्तियों के न्यूनाधिक्य के रूप में होता है, उसका कारण बुद्धितत्त्व के उक्त आठ भावों का विभिन्न अनुपात में समन्वित होना है। सांख्य-सिद्धांत के अनुसार जगत् में व्याप्त योनिगत, जातिगत एवं गुणगत वैषम्य की यही व्याख्या है ॥ ४५ ॥

निमित्त रूप आठ प्रकार के भावों तथा उनके आठ ही प्रकार के नैमित्तिक रूप कार्यों का निरूपण हो जाने पर मुमुक्षुओं के लिए इनमें से कौन ग्राह्य एवं कौन त्याज्य है ? इसका समस्त रूप से विवेचन अगली कारिका में करते हैं। इन आठों भावों में से एक ज्ञान से मोक्ष होता है तथा शेष सात अन्ततोगत्वा बन्धनकारी ही होते हैं। इसका निरूपण करने के लिए आठ निमित्त और आठ उनके नैमित्तिक रूप जिन सोलह तत्त्वों का विवेचन उपर्युक्त कई कारिकाओं में हुआ है उन्हीं का संक्षेप में चार विभागों में विभक्त कर विशेष विवेचन प्रकृत कारिका में किया जा रहा है—

एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः ।
गुणवैषम्यविमर्दात् तस्य च भेदास्तु पञ्चाशत् ॥ ४६ ॥

विपर्ययः अज्ञानम् अशक्तिर्ज्ञानाधिगमासामर्थ्यम् तुष्टिः मोक्षोपायेषु विमुखता, सिद्धिः ज्ञानप्राप्तिः, आख्याः नामानि यस्य तादृशः एष षोडशविधो निमित्तिनैमित्तिकभेदः प्रत्ययो बुद्धिः तस्य सर्गः सृष्टिरित्युक्तः। तस्य पुनः बुद्धिसर्गस्य गुणानां सत्त्वरजस्तमसां यद्वैषम्यं न्यूनाधिकबलता तेन यः विमर्दः परस्परक्षोभः गुणस्य गुणयोर्वाभिभवः तस्मात् पञ्चाशत् भेदाश्चास्य भवन्ति

आठ प्रकार के निमित्त (कारण) तथा आठ ही प्रकार के नैमित्तिकों (कार्यों) को मिलाकर यह जो सोलह तत्त्वों का समूह है इसे बुद्धि की सृष्टि कहते हैं। संक्षेप में विपर्यय (अज्ञान), अशक्ति, सिद्धि और तुष्टि इनकी संज्ञाएं हैं विषमावस्था में अवस्थित गुणों के परस्पर के संघर्ष से इस (बुद्धि-सर्ग) के पचास भेद होते हैं।

प्रत्ययसर्ग चूंकि प्रत्यक्ष और अनुमानजन्य सभी प्रकार की प्रतीतियाँ बुद्धि में होती हैं, इसलिए 'प्रतीयते अनेन इति प्रत्ययः,की व्युत्पत्ति से प्रत्यय बुद्धि को ही कहते हैं। क्योंकि कोई भी प्रतीति अध्यवसायात्मक बुद्धि-व्यापार के बिना पूर्ण

नहीं हो पाती। पूर्वोक्त निमित्त-नैमित्तिक रूप सोलह तत्त्व सांख्य-सिद्धांत के अनुसार बुद्धिकृत माने जाते हैं। सृष्टि दो प्रकार की है—भौतिक तथा भावमयी। घट, नदी पर्वतादि की सृष्टि भौतिक है। धर्माधर्मादि भाव तथा सूक्ष्म एवं स्थूल शरीर बौद्धिक सृष्टि की कोटि में आते हैं क्योंकि इनकी उत्पत्ति एवं स्थिति का असाधारण कारण महत्तत्व अर्थात् बुद्धि ही है। इसमें अन्तर्हित तत्वों को यहाँ चार भागों में विभक्त कर रखा गया है

विपर्यय—इस शब्द का अर्थ विपरीत होता है। अज्ञान ज्ञान का अत्यन्ताभाव नहीं है अपितु वह भी ज्ञान ही की तरह पर ज्ञान से भिन्न एक भावात्मक तत्त्व है। अज्ञान' में पर्युदास नञ् का प्रयोग है जो 'तद्भिन्न तत्सदृश' का बोध कराता है। भगवान् पतंजलि ने भी कहा है कि ज्ञान से भिन्न रूप में प्रतिष्ठित मिथ्या ज्ञान को ही विपर्यय कहते हैं।[1] वेदान्त में इसे अविद्या कहा है जो अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नामक भेदों से पाँच प्रकार की होती है। विष्णुपुराण में इन्हीं को पंचपर्वा अविद्या के नाम से कहा गया है।[2] यह अविद्या बुद्धि का धर्म है जो उस पर तमोगुण के प्रभाव का परिणाम है। अतः विपर्यय अज्ञान ही है।[3]

अशक्ति—अशक्ति ज्ञान की प्राप्ति के असामर्थ्य को कहते हैं।[4] किसी विषय के निश्चय तथा उसे क्रियात्मक रूप देने की अक्षमता को ही अशक्ति कहा गया है जो अन्तः और बाह्य उभयविध त्रयोदश करणों में से एक या अनेक की विकलता के कारण उसके द्वारा अपने विषय का ग्रहण न कर पाना ही है। उदाहरणतः ज्ञानेन्द्रियों के विकल होने पर उनसे विषय का ग्रहण ही नहीं हो सकता। मन, अहंकार या बुद्धि की विकलता से संकल्प, अभिमान और अध्यवसाय कैसे सम्भव होंगे? यही नहीं, मन के विकल हो जाने पर इन्द्रियों से गृहीत विषय की सम्यक् कल्पना नहीं हो सकती। फलतः अहंकार और बुद्धि के व्यापार, अभिमान तथा अध्यवसाय भी नहीं हो सकते। इसलिए यह कथन कि करणों में से किसी एक के भी विकल होने से बुद्धि अपना काम ठीक ठीक नहीं कर सकती सर्वथा युक्तिसंगत है। करणों की इसी विकलता को अशक्ति कहते हैं।

---

१. विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्॥ यो० सू० १।८
२. अविद्या पञ्चपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः। विष्णुपुराण।
३. तत्र विपर्ययमज्ञानम्। जयमङ्गला।
४. अशक्तिर्ज्ञानाधिगमासामर्थ्यं सत्यामधिजिगांसायाम्। वही।

तुष्टि—प्रकृति से भिन्न पुरुष तत्त्व है, इस बात को जानकर भी श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा उसके विवेकरूपी साक्षात्कार के लिए किसी असत् उपदेश के कारण प्रवृत्त न होना ही तुष्टि का लक्षण है।[1] ऐसा व्यक्ति पुरुष से भिन्न किसी अन्यतत्त्व के बोध या उसकी प्राप्ति से सन्तुष्ट होकर ही रह जाता है और आत्मतत्त्व के बोध के लिए प्रवृत्त नहीं होता। तुष्टियों के नव प्रकारों का विवेचन आगे पचासवीं कारिका में विस्तार पूर्वक करेंगे।

सिद्धि— परम पुरुषार्थ की निष्पत्ति ही सिद्धि है। पुरुष का प्रयोजन ही पुरुषार्थ है जो इच्छा का विषय है। इनमें दुःख का विघात मुख्य है, शेष गौण। जयमंगलाकार के अनुसार ज्ञान की प्राप्ति ही सिद्धि है।[2] उसके भिन्न भिन्न उपाय होने के कारण सिद्धियों के भी आठ प्रकार होते हैं। अध्ययन, शब्द, ऊह, सुहृत्प्राप्ति, दान तथा तीनों प्रकार के दुःखों का विनाश ये सिद्धियों के आठ नाम हैं। इसके पूर्व के विपर्यय, अशक्ति तथा तुष्टि नामक तीनों प्रत्यय-सर्ग सिद्धि के विघातक हैं। अतः इन्हें अंकुश कहा जाता है। गौडपाद ने संशय-ज्ञान को ही विपर्यय कहा है। जैसे किसी ठूंठे पेड़ को देखकर 'यह कोई व्यक्ति है या ठूंठा पेड़, यह संशय' विपर्यय है। उसी स्थान को अच्छी तरह देखकर संशय दूर न कर सकना ही अशक्ति है। उसी स्थान के विषय में यह सोचकर कि मुझे इससे क्या मतलब, जानने की चेष्टा न करना ही तुष्टि है। स्थाणु पर चढ़ी हुई लता या उस पर बैठे हुए पक्षी को देखकर प्रसन्न मन से स्थाणु को जान लेना ही सिद्धि है।

चतुर्विध इस प्रत्ययसर्ग के कुल पचास उपभेद होते हैं जिनका आधार विषयरूप से अवस्थित सत्त्व, रज, तम नामक गुणों का परस्पर अभिमर्दन है। गुण जब विषमावस्था में होते हैं तो एक दूसरे को दबा कर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहते हैं। कभी एक ही शेष दो को दबाने में समर्थ हो जाता है तथा कभी दो मिल कर किसी एक को दबा देते हैं। इनके पचास भेदों में से पाच विपर्यय के, अट्ठाइस अशक्ति के, नव तुष्टि के तथा आठ सिद्धि के हैं ॥४६॥

पूर्वकारिका में बुद्धि की सृष्टि के जिन ५० भेदों का उल्लेख हुआ है, उनका विवरण प्रकृत कारिका में प्रस्तुत करते हैं—

---

१. तुष्टिर्मोक्षोपायेषु वैमुख्यम्। जयमङ्गला

२. सिद्धिर्ज्ञानप्राप्तिः। वही।

पञ्चविपर्ययभेदा भवन्त्यशक्तिश्च करणवैकल्यात् ।
अष्टाविंशतिभेदा, तुष्टिर्नवधाऽष्टधा सिद्धिः ॥४७॥

विपर्ययस्य अविद्यायाः (तमः मोहः महामोहः तामिस्रः अन्धतामिस्रः इति) **पञ्चभेदा भवन्ति । करणानां** बुद्धयहंकारैकादशेन्द्रियाणां यत् वैकल्यं हीनता तस्मात् या अशक्तिः सा, अष्टाविंशति भेदाः प्रकाराः यस्याः एवंभूता, अष्टाविंशतिधा भवति । तुष्टिः नवधा नवप्रकारा सिद्धिश्च अष्टप्रकारा भवति । सर्वे मिलित्वा बुद्धिसर्गस्य पञ्चाशद् भेदाः जायन्ते ।

तम, मोह, महामोह, तामिस्र तथा अन्धतामिस्र—विपर्यय के ये पांच भेद होते हैं । अन्तः और बाह्य करणों की विकलता से होने वाली अशक्ति अट्ठाइस प्रकार की होती है । इसी प्रकार तुष्टि के नव तथा सिद्धि के आठ भेद होते हैं ।

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ही क्रम से तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र हैं जिन्हें योगशास्त्र में पंचक्लेश कहा है ।[1] वहीं पर योगभाष्यकार ने इन्हें स्पष्ट रूप से विपर्यय कहा है ।[2] अनित्य में नित्यता, अपवित्र में पवित्रता, दुःख में सुख तथा अनात्मा में आत्मा का बोध ही अविद्या है ।[3] द्रष्टा पुरुष और दर्शन शक्ति बुद्धि का अभिन्न रूप में प्रतीत होना अस्मिता है ।[4] सुख का अनुभव करने के बाद उसके या उसकी प्राप्ति के साधन के प्रति तृष्णा ही राग है ।[5] दुःख की अनुभूति के अनन्तर उसको याद कर दुःख या उसके कारक के प्रति क्रोध की भावना ही द्वेष है ।[6] प्रतिदिन अनेक प्राणी मृत्यु को प्राप्त हो रहे हैं किन्तु स्वयं को उससे बचाने की तत्परता ही अभिनिवेश है ।[7] अशक्ति के २८ भेदों में से १७ प्रकार के बुद्धि-दोषों के साथ ११ इन्द्रियों के वध अर्थात् उनकी विगुणता ही अशक्ति कही गई है । तुष्टियां नव हैं जिनमें से प्रकृति, उपादान, काल और भाग संज्ञक चार

---

१. अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः । यो० सू० २।३
२. क्लेशा इति पञ्चविपर्यया इति अर्थः । योगभाष्य २।३
३. अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या । योगसूत्र २।५
४. दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता । यो० सू० २।६
५. सुखानुशयी रागः । वही २।७
६. दुःखानुशयी द्वेषः । वही । २।८
७. स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः । वही २।९

आध्यात्मिक हैं शेष पांच शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध नामक विषयों में उपरति रूप हैं। इनका विस्तृत विवेचन ५० वीं कारिका में किया जायगा। सिद्धियां आठ हैं। इनमें से मुख्य तीन हैं जो तीनों प्रकार के दुःखों के उच्छेदस्वरूप हैं। शेष पांच अध्ययन, शब्द, ऊह, सुहृत्प्राप्ति तथा दान हैं जिनका विवेचन आगे ५१वीं कारिका में किया जायगा ॥४७॥

पूर्व कारिका में विपर्यय के जिन पाँच भेदों के होने का उल्लेख किया गया था उनका तथा उनके अवान्तर भेदों का विवरण प्रकृत कारिका में प्रस्तुत किया जाता है—

भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च, दशविधो महामोहः ।
तामिस्रोऽष्टादशधा, तथा भवत्यन्धतामिस्रः॥ ४८ ॥

तमसः अविद्यायाः, मोहस्य अस्मितायाश्च अष्टविधः अष्टप्रकारकः भेदः भवति। महामोहोः रागः दशविधः भवति, तामिस्रः द्वेषः अष्टादशप्रकारकः अन्धतामिस्रः अपि तथा अष्टादशधा भवति, तदेवं द्वाषष्टिः विपर्ययभेदाः भवन्ति।

विपर्यय के भेदों में से तम और मोह संज्ञक प्रथम एवं द्वितीय भेद अठारह अठारह प्रकार के होते हैं। तृतीय महामोह दस प्रकार का होता है। चतुर्थ तामिस्र तथा पंचम अन्धतामिस्र में से प्रत्येक अठारह प्रकार का होता है।

विपर्यय के पाँच भेद होते हैं, यह बात पूर्वकारिका में कही गई थी। उन पांचों की गणना इसी कारिका में की गई है—वे हैं तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र। इनमें से प्रथम भेद तम, अविद्या ही है जो योग-शास्त्र के अनुसार अन्य चारों भेदों का मूल है। तम या अविद्या की परिभाषा सांख्यकारिका में उपलब्ध नहीं होती। योगशास्त्र के अनुसार अनित्य, अशुचि, दुःख तथा अनात्मा को क्रम से नित्य, शुचि, सुख एवं आत्मा समझना ही अविद्या है।[1]

प्रकृति के तत्त्वों का सम्यक्-ज्ञान रखनेवालों को वैराग्य होने पर भी उक्त प्रकार के अज्ञान से अपवर्ग नहीं हो सकता किन्तु प्रकृति के आठ भेदों में ही उनका विलय हो जाता है। वे हैं शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध नामक पांच तन्मात्राएं तथा मूलप्रकृति, महत् एवं अहंकार। ये वस्तुतः पुरुष नहीं हैं तथापि इन्हीं में से किसी को पुरुष समझ लेना आठ प्रकार की अविद्या है।

---

१. योगसूत्र २।५

मोह अस्मिता है जिसका लक्षण करते हुए योगशास्त्र में कहा गया है कि दृक्शक्ति पुरुष तथा दर्शनशक्ति बुद्धि दोनों की एकात्मता ही अस्मिता है।[1] अस्मिता में ही पुरुष यह समझता है कि 'मैं हूं' 'तथा सुखी, दुःखी, कर्ता और भोक्ता हूं'। बुद्धि और पुरुष की एकात्मता वास्तविक नहीं होती किन्तु अविद्या के कारण ही होती है। क्योंकि जड़ और चैतन्य का एक होना सर्वथा असम्भव है। 'ये अणिमा आदि भौतिक सिद्धियां हमारा ऐश्वर्य हैं,' देवताओं की इस प्रकार की भ्रान्ति ही अस्मिता है जो अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व भेद से आठ प्रकार की होती है।

महामोह राग है क्योंकि विषय-सुखों का आस्वाद पा लेने पर उन्हें प्राप्त करने की अभिलाषा निरन्तर बनी रहती है जो उसे कष्ट भी देती है। अनुभूत विषय-सुख को पुनः प्राप्त करने की अभिलाषा ही राग है जिसकी समाप्ति बहुत कठिन है। इसीलिए इसे महामोह कहा है। यह शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध नामक विषयों के सम्बन्ध में ही होता है। चूंकि इनमें से प्रत्येक दिव्य और अदिव्य दो प्रकार के होते हैं इसलिए रागात्मक महामोह को दस प्रकार का कहा गया है। इनमें से पांच सूक्ष्म तन्मात्राएं ही दिव्य हैं क्योंकि उनका स्वरूप एकमात्र सुखात्मक होता है। पृथ्वी आदि स्थूल-भूत सुखदुःखमोहात्मक होने से अदिव्य हैं।

तामिस्र द्वेष को ही कहते हैं। दुःख को समझने वाले का दुःख या उसके कारक के प्रति क्रोध ही द्वेष है। जब जब जिस जिस प्रकार के दुःख का अनुभव होता है, तब-तब चित्त पर उसका संस्कार पड़ता है तथा उससे सम्बन्धित कारण के संस्कार का उदय होता है। उस संस्कार से उस विशेष प्रकार के दुःख एवं उसके कारण की स्मृति हो उठती है। उससे उस दुःख तथा उसके कारण के विनाश की इच्छा पैदा होती है। वही द्वेष है। उसी को यहां 'तामिस्र' की संज्ञा दी गई है। दिव्यादिव्य दस प्रकार के शब्दादि विषय परस्पर प्रपीड़ित होकर द्वेष के विषय हो जाते हैं तथा अणिमा आदि आठ सिद्धियां भी स्वतः कोप के विषय हैं। इस प्रकार दस शब्दादि तथा आठ अणिमा आदि क्रोध के अठारह विषय होने से तामिस्र संज्ञक द्वेष भी अठारह प्रकार का कहा गया है।

अन्धतामिस्र अभिनिवेश नामक पंचम क्लेश को ही अन्धतामिस्र की संज्ञा दी गई है। जन्मजन्मान्तर में हुई मृत्युओं के अनुभव, संस्कार रूप से प्राणी में विद्यमान रहते हैं। अतएव प्राणी मरने से त्रस्त रहता है। मृत्युजन्य इस दुःख से सम्भाव्यमान त्रास को ही यहां अन्धतामिस्र या अभिनिवेश नाम

---

१. योगसूत्र २।६

से कहा गया है। व्यक्ति चाहता है कि मेरा नाश कभी न हो, इसीलिए मृत्यु से डरता है। पूर्ववत् शब्द आदि विषयों तथा अणिमा आदि ऐश्वर्यों के दिव्यादिव्य भेद से उनके जो अठारह प्रभेद हो जाते हैं उनमें से प्रत्येक के छिन जाने के भय से जो त्रास है उसकी परिणति अन्ततोगत्वा मृत्यु में ही सम्भावित है। अतः ये अठारह प्रकार के अभिनिवेश ही अन्धतामिस्र के अठारह भेद हैं।।४८।।

पांच प्रकार के विपर्ययों के बासठ अवान्तर भेदों का निरूपण करने के बाद द्वितीय प्रत्यय-सर्ग अशक्ति के भेदों का निरूपण प्रकृत कारिका में करते हैं—

एकादशेन्द्रियबधाः सह बुद्धिबधैरशक्तिरुद्दिष्टा ।
सप्तदश बधा बुद्धेर्विपर्ययात्तुष्टिसिद्धीनाम् ।।४६।।

सप्तदशभिः बुद्धिबधैः बुद्धिदोषैः सह एकादशेन्द्रियबधाः एकादशेन्द्रियाणां श्रोत्रत्वगक्षिरसनघ्राणवाक्पाणिपादपायूपस्थमनसां बधाः वैगुण्यानि, अशक्तिः उद्दिष्टा कथिता । तुष्टिसिद्धीनां विपर्ययात् विपरीतरूपेण नवानाम् अतुष्टीनाम् अष्टानां चासिद्धीनां रूपेण बुद्धेः सप्तदशबधाः भवन्ति । समेषां योगात् बधानामेतेषां योगसंख्या सप्तदश संजायते । एते घ्नन्ति इति बधाः एकादशेन्द्रियाणां बधाः तन्नाशकाः इन्द्रियदोषाः भवन्तीत्यर्थः ।

सत्रह बुद्धि-दोषों के साथ ग्यारह प्रकार के इन्द्रियों की विगुणतायें अशक्ति कही गई हैं । नौ प्रकार की तुष्टि तथा आठ प्रकार की सिद्धियों का उल्टा ही बुद्धि की सत्रह प्रकार की अशक्तियां सम्पन्न होती हैं ।

'घ्नन्तीति बधाः' की व्युत्पत्ति से बध शब्द का अर्थ नाशक होता है । व्यक्ति की स्वतः प्राप्त इन्द्रियादि शक्तियों की क्षति से होने वाली असमर्थता ही अशक्ति हैं यह असमर्थता दो प्रकार की होती है—इन्द्रियों की तथा बुद्धि की । इसी असमर्थता को यहाँ 'बध' शब्द से व्यवहृत किया गया है । मन को लेकर इन्द्रियों की संख्या ग्यारह है । इनमें से किसी एक या अनेक की क्षति से होने वाली असमर्थता ग्यारह प्रकार की होती है । नौ प्रकार की तुष्टि और आठ प्रकार की सिद्धियों का अभाव, बुद्धिबध अर्थात् बौद्धिक अशक्ति है । क्योंकि तुष्टियाँ और सिद्धियां शक्तियां हैं । इस प्रकार ग्यारह इन्द्रिय-बध तथा सत्रह-बुद्धिबधों को मिलाकर अशक्ति के अट्ठाईस भेद निष्पन्न होते हैं ।

इन्द्रियां ग्यारह हैं जो ज्ञान के निमित्त हैं । इनमें दोष उत्पन्न होने पर इनकी सहायता से काम करने वाली बुद्धि भी अशक्त हो जाती है और पुरुष को अभिलषित अर्थ का समर्पण नहीं कर पाती ।[1] यद्यपि इन्द्रियों में

---

१. बाधिर्यादिदोषदुष्टेन्द्रियद्वारभूतैरनुपस्थिते, तत्तद् विषये द्वारिणी बुद्धिरशक्ता पुरुषार्थं न समर्पयतीत्यर्थः ।। सारबोधिनी ।

उत्पन्न दोष अशक्ति का कारण है जिसे बुद्धि की सृष्टि माना जाता है तथापि हेतु और हेतुमान् में अभेद[1] के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए 'वधाः अशक्तिः' की सामानाधिकरण्य की उक्ति से इन्द्रियों के दोषों को भी यहां अशक्ति के रूप में परिगणित किया गया है। वे हैं—बाधिर्य, कुण्ठिता, अन्धता, जड़ता, अजिघ्रता, मूकता, कौण्ड्य, पंगुत्व, क्लैब्य, उदावर्त और मन्दता।[2]

१. बाधिर्य—यह श्रोत्रेन्द्रिय का दोष, है जिससे शब्द का यथावत ग्रहण नहीं हो पाता। अतः शब्द के ग्रहण में शिथिलता या असमर्थता ही बाधिर्य है।

२. कुण्ठता—त्वगिन्द्रिय का दोष है जिससे स्पर्श का यथावत् बोध नहीं होता।

३. अन्धत्व—यह नेत्रेन्द्रिय का दोष है जिससे रूप का ग्रहण बाधित होता है।

४. जड़ता—रसनेन्द्रिय का दोष है जिससे जिह्वा रस का ग्रहण नहीं कर पाती तथा जिसके फलस्वरूप आस्वाद का विघात होता है।

५. अजिघ्रता—घ्राण इन्द्रिय का दोष है जिससे गन्ध ग्रहण करने की शक्ति नष्ट हो जाती है। ये पांच ज्ञानेन्द्रियों के दोष हैं। कर्मेन्द्रियों के दोषों में—

६. मूकता—वाग्दोष है जिससे व्यक्ति बोल नहीं पाता।

७. कौण्ड्य—हस्त-दोष है जिसके कारण व्यक्ति किसी वस्तु को पकड़ नहीं पाता।

८. पंगुत्व—पाद दोष है जो गमनागमन का बाधक है।

९. उदावर्त—उस रोग को कहते हैं जो मल-मूत्र को निकालने वाले वायु के निस्सरण को रोकता है।

---

१. तथा चैकादशहेतुकत्वादेकादशधा बुद्धेरशक्तिरुच्यते। हेतुहेतुमतोरभेदविवक्षया च सामानाधिकरण्यम्। तत्त्वकौमुदी।

२. जयमंगला में इसका दूसरा पाठ दिया है—
बाधिर्यमान्ध्यघ्रातृत्वे मूकता जडता तथा
उन्मादकौण्ड्यकुष्ठानि क्लैब्योदावर्तपङ्गुता॥

१०. क्लैब्य—उपस्थ इन्द्रिय का दोष है जिससे व्यक्ति मैथुन क्रिया में समर्थ नहीं हो पाता।

११. मन्दता—मन इन्द्रिय का दोष है जो उभयात्मक होता है। इसके उत्पन्न हो जाने से व्यक्ति किसी भी विषय का ग्रहण नहीं कर पाता।

बुद्धि की अशक्तियां दो प्रकार की होती हैं—कारणगत एवं स्वरूपगत। एकादश इन्द्रियों की हीनता से जिन अशक्तियों का विवेचन ऊपर किया गया है वे बुद्धि के करण इन्द्रियों से सम्बद्ध होने से करणगत है। स्वरूपतः जो अशक्तियां हैं वे साक्षाद् बुद्धि से सम्बद्ध हैं। तुष्टियाँ और सिद्धियां भी बुद्धि का ही प्रपंच हैं। इनकी असफलता भी अशक्ति ही है। क्योंकि इनकी सफलता का साक्षात् सम्बन्ध बौद्धिक शक्ति से ही है। जिसकी बौद्धिक क्षमता जितनी अधिक होती है उसे उतनी ही अधिक तुष्टियां और सिद्धियां स्वतः उपलब्ध होती हैं। तुष्टियों की सख्या नौ और सिद्धियों की संख्या आठ है जिनका निरूपण अगली कारिकाओं में किया जायगा। इन दोनों के अभाव से जो अशक्तियां उत्पन्न होती हैं उनकी संख्या इन दोनों की संख्या के योग के बराबर ही सत्रह मानी गई है। नौ प्रकार की तुष्टियों के विपरीत नौ प्रकार की अतुष्टियों का निरूपण भी मिलता है। जैसे 'प्रधान (मूल प्रकृति) नहीं है'—इस प्रकार की प्रतीति का नाम असुवर्णा अतुष्टि है। महत्तत्त्व की सत्ता को अस्वीकार करने वाली अतुष्टि को अनिला या अज्ञानसलिना कहा गया है। अहंकार के अभाव की प्रतीति का नाम मनोज्ञा है। तन्मात्राएं तथा आकाशादि महाभूत भी वस्तुतः होते नहीं, इस प्रतीति को अदृष्टि की संज्ञा दी गई है। इसी प्रकार धनार्जन में प्रवृत्ति अपरा, रक्षण में सुपरा, तथा उसके विनाश में किसी प्रकार का दोष न समझना असुनेत्रा, भोग में आसक्ति वसुनाडिका, हिंसादि दोष को न देखते हुए भोग में प्रवृत्ति अनुतमाम्भसिका नामक ये नौ अतुष्टियां जो नौ प्रकार की बौद्धिक अशक्तियों में परिणत हो जाती हैं। आठ सिद्धियों के ठीक विपरीत उल्टा आठ असिद्धियां होती हैं। जैसे बिना अध्ययन के ही जिस किसी तत्त्व का आविर्भाव अप्रतार, शास्त्र का यथावत् अध्ययन न करने पर अन्यार्थवाचक शब्द का अन्य अर्थ करना असुतार, आगम के ठीक ठीक ऊहापोह किये बिना उत्पन्न होने वाला ज्ञान अतारतार, विरोधी व्यक्ति की सलाह के बिना ही होने वाला विपरीत ज्ञान अरम्यक, दक्षिणा न देने से असन्तुष्ट गुरु से उत्पन्न वासनादि का उच्छेद न होना असदामुदित, आध्यात्मिक दुःख से प्रपीड़ित होने पर भी संसार से उद्विग्न न,

होने से विवेक की जिज्ञासा न होना अप्रमोद, आधिभौतिक दुःख से प्रपीड़ित होने पर भी उसके निवारण की जिज्ञासा न होना अमुदित तथा राक्षस पिशाच एवं ग्रह आदि कृत आधिदैविक दुःख से संत्रस्त का भी कामिनी आदि में आसक्त होने से संसार से उद्वेग-जन्य जिज्ञासा का न होना आमोदमान नामक आठ असिद्धियां कही गई हैं। इनका विस्तृत विवेचन यथावसर आगे किया जायगा। इस प्रकार ग्यारह इन्द्रियवध, नौ अतुष्टियां एवं आठ असिद्धियों को मिलाकर अट्ठाईस प्रकार की अशक्तियां होती हैं॥ ४९॥

'एष प्रत्यय सर्गो' इस ४६वीं कारिका में उल्लिखित बुद्धि-सर्गों में से प्रथम दो 'विपर्यय' और 'अशक्ति' का सम्यक् निरूपण पूर्वकारिकाओं में किया

जा चुका है। अब क्रम प्राप्त तुष्टि के भेदोपभेदों का परिगणन अगली कारिका में करते हैं।

आध्यात्मिक्यश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभागाख्याः।

बाह्या विषयोपरमात् पञ्च, च नव तुष्टयोऽभिमताः ॥५०॥

प्रकृतिः, उपादानं, कालः, भागश्च, आख्याः संज्ञाः यासां ताः प्रकृत्युपादानकालभागनामवत्यः चतस्रः आत्मन्यधिकृत्य जायमानाः आध्यात्मिक्यः आभ्यन्तराः तुष्टयः सन्ति। बाह्याश्च तुष्टय शब्दादिविषयतः उपरमात् वैराग्यात् पञ्च सन्ति। इत्थं चतस्रः आध्यात्मिक्यः बाह्याः च पञ्च मिलित्वा तुष्टयः नव संख्याकाः अभिमताः इष्टाः इत्यन्वयः।

तुष्टियों में से चार आभ्यन्तर (आध्यात्मिक) हैं जिनके नाम प्रकृति, उपादान, काल और भाग हैं। शब्द स्पर्श आदि विषयों के प्रति वैराग्य से होने वाली बाह्य तुष्टियां पांच प्रकार की होती हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर तुष्टि के नौ प्रकार अभीष्ट हैं।

'प्रकृति से व्यतिरिक्त आत्मा है'—इस तथ्य को स्वीकार करते हुए भी या तो यह समझते हुए कि उसके ज्ञान की आवश्यकता नहीं है अथवा प्रकृति के नियमानुसार एक दिन वह स्वतः ज्ञात हो जायगा, अतः उसके ज्ञान के लिए आयास न करना तथा तत्वों में से किसी एक या अनेक की प्राप्ति में संलग्न रहना ही तुष्टि है। यह तुष्टि दो प्रकार की होती है आभ्यन्तर अर्थात् मन, बुद्धि, अहंकार आदि तत्वों में तथा बाह्य अर्थात् स्थूल जगत् तथा तन्मात्राओं में। पहले प्रकार की तुष्टि 'आत्मानम् अधिकृत्यजायमाना' की व्युत्पत्ति से आध्यात्मिक है। इसे ही आभ्यन्तर भी कहते हैं। प्रकृति, उपादान, काल और भाग इसके प्रभेद हैं। प्रकृति-पुरुषान्यताख्यातिरूप विवेक को भी प्रकृति का ही परिणाम मानना और यह सोचना कि अपने विकास के क्रम में प्रकृति स्वतः विवेक ज्ञान करा देगी और इसीलिए पुरुष के ज्ञान की चेष्टा न करना, यह प्रकृति नामक तुष्टि है। इसी को अम्भ[2] भी कहा गया है। क्योंकि यह तुष्टि जल के समान निर्मल तथा शब्द से होने वाले उपदेश के समान ही होती है।

---

१. गौडपादमाठरौ आध्यात्मिक्यः पठतः। जयमङ्गलायां तत्त्वकौमुद्यां च आध्यात्मिकाः इत्येव पाठः प्रमाणितः। स चापाणिनीयः, अध्यात्मादेष्ठञिष्यते इति वार्तिकेन. ठञिकृते टिड्ढादित्वात् ङीपः प्रसक्तेष्टापोऽप्रसङ्गात्।

२. अस्याश्च तुष्टेः अम्भसः जलस्य इव प्रसन्नत्वादुपदेशरूपशब्दहेतुत्वाच्च अम्भस्त्वम्। सुबोधिनी।

एक दूसरे प्रकार के व्यक्ति होते हैं जो कहते हैं कि विवेकख्याति स्वतः प्रकृति के परिणामस्वरूप यदि नहीं होती तो न सही, संन्यास ले लेने से तो वह हो हीजाती है। इसलिए संन्यास ग्रहण ही पर्याप्त है। पुरुष तत्त्व के ध्यान एवं उसके लिए अभ्यास की क्या आवश्यकता है? इस उपदेश से होनेवाली तुष्टि को उपादान कहते हैं। जिसका अर्थ ग्रहण अर्थात् प्रवज्याग्रहण है। इसको उपादान इसलिए भी कहते हैं कि इसका ग्रहण आत्मसाक्षात्कार के लिए प्रवृत्त साधक भी करते हैं। इसी का खण्डन करते हुए गीता में भगवान् ने कहा है कि कर्म का आरम्भ न करने से नैष्कर्म्य तथ सन्यास-ग्रहण मात्र से सिद्धि नहीं मिलती।[1] इसी का दूसरा नाम सलिल भी है। क्योंकि जिस प्रकार अंकुर की उत्पत्ति में जल सहकारी होता है उसी प्रकार साक्षात्कार के प्रति प्रवज्या भी सहायिका होती है।

काल - दूसरे प्रकार के व्यक्तियों का विश्वास है कि विवेकख्याति प्रवज्या-ग्रहण मात्र से नहीं होती। किन्तु समय आने पर सिद्धि स्वतः प्राप्त हो जाती है। अतः व्यक्ति को उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा करनी चाहिए। इस प्रकार के उपदेश से होनेवाली तुष्टि को काल की संज्ञा दी गई है, क्योंकि जिस प्रकार उपयुक्त समय पर हुई वृष्टि के योग से खेती फलवती होती है, उसी प्रकार प्रत्येक सिद्धि समय आने पर ही प्राप्त होती है असमय में नहीं।[2] इसी काल नामक तुष्टि को ओघ भी कहते हैं।[3]

भाग—भाग का अभिप्राय भाग्य से है। कुछ लोगों का विश्वास है कि मोक्ष न तो प्राकृतिक परिणामरूप स्वतः सम्भव है और न प्रवज्या-ग्रहण से प्राप्य है। उसके लिए उचित अवसर नाम की भी कोई वस्तु नहीं। ऐसा सम्भव है कि कल्प-कल्पान्तर बीत जाय और विवेक-ख्याति न हो। क्योंकि ऐसा होने पर सृष्टि के अन्त तक सबको यह अवसर प्राप्त होना चाहिए। किन्तु

---

१. न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
   न च सन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।। गीता ३।४

२. कृषेर्वृष्टिसमायोगाद् दृश्यन्ते फलसिद्धयः।
   तास्तु काले प्रदृश्यन्ते नैवाकाले कथञ्चन।।

३. कल्पते इति कालः। महदादिसूक्ष्मपर्यन्तेन लिङ्गेन संसरता अपरेण मोक्षो न प्रकृत्युपादानमात्रादिहैव जन्मनीति तस्मात्तृतीयादुपदेशात्तुष्टो यः कालापेक्षी स्थितस्तस्य तृतीया कालाख्या तुष्टिः ओघ इति उच्यते। जयमङ्गला।

ऐसा होता नहीं है । किसी भी सिद्धान्त के अनुसार यह आवश्यक नहीं कि कल्प या सृष्टि के अंत तक सभी जीवों या प्राणियों की मुक्ति हो जाय । विवेक-ख्याति होना तो भाग्य की बात है जो सहस्रों में से किसी को ही हो पाती है। वहां न तो विद्या काम करती है और न पौरुष ।[1] भाग्य की स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष सत्ता का प्रतिपादन अनेकत्र हुआ है । गीता में भगवान् ने कहा है कि मनुष्य शरीर, मन और वाणी से जो भी उचित अनुचित कर्म करता है, उसके पांच कारण होते हैं—

सुखदु:खादि की अभिव्यक्ति का आश्रय शरीर; कर्तारूप भोक्ता जीव; भोग के साधन त्रयोदश करण; तथा श्वासप्रश्वास आदि नाना प्रकार की वायुसम्बन्धी क्रियाएं; एवं पांचवां दैव ।[2]

लोक में इसके अनेक उदाहरण भी मिल जाते हैं इसलिए किसी के इस उपदेश से कि भाग्य में होगा तो सिद्धि मिल ही जायगी, जो तुष्टि होती है, उसे भाग कहते हैं जिसकी व्युत्पत्ति 'भज्यते इति भाग:' है जो कर्म में घञ् प्रत्यय होकर व्युत्पन्न होता है । भाग्य क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में निष्कर्ष रूप में यही कहा जाता है कि जन्मजन्मान्तर में किये हुए कर्मों से उत्पन्न अदृष्ट ही जब प्रकृत जन्म में फलोन्मुख होता है तो उसे भाग्य कहते हैं ।[3] इसी का दूसरा नाम वृष्टि है । जिस प्रकार वृष्टि के कारण का ठीक ठीक परिज्ञान नहीं हो सकता, उसी प्रकार भाग्य से प्राप्त होनेवाले फल के कारण का भी आभास हमें पूर्वत: नहीं होता । तथा जिस प्रकार वृष्टि के होने से आवश्यकता-नुसार हम प्रसन्न या अप्रसन्न हुआ करते हैं, उसी प्रकार भाग्य के फल से भी हम प्रसन्न एवं खिन्न होते रहते हैं । यही वृष्टि और भाग नामक तुष्टि में साम्य है।

जिन चार प्रकार की तुष्टियों का निरूपण ऊपर किया गया है, वे आध्यात्मिक अर्थात् आन्तरिक हैं, क्योंकि ये चारों प्रकार की तुष्टियां प्रकृति से

---

१. भाग्यं फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषम् ।। प्रकीर्ण ।।

२. अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ।।
शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नर: ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतव: ।। गीता । १८।१४,१५

३. पूर्वजन्मकृतं कर्म तद्दैवमितिकथ्यते ।। प्रकीर्ण ।

भिन्न आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए सम्भव होती हैं। इनके अतिरिक्त पांच तुष्टियां और हैं जिनका सम्बन्ध बाह्य विषयों से है। अतएव इन्हें बाह्य कहा है। इनमें पुरुष के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार न करते हुए मूल-प्रकृति, महत् तथा अहंकार आदि को ही आत्मा मान कर संसार से विरक्ति हो जाती है। इसीलिए कारिका में कहा है 'विषयोपरमात्'। 'उपरम्यते अनेन' की व्युत्पत्ति से उपरम वैराग्य को कहते हैं। विषय से शब्द आदि भोग्य पदार्थों का ग्रहण होता है। ये विषय के अर्जन, रक्षण, क्षय, भोग तथा हिंसा दोष के होने से उत्पन्न होते हैं। जैसे सेवा आदि धनार्जन के उपाय हैं। किन्तु चाकरी सेवक को बहुत दुःखी करती है। ऐसी प्रकार अर्जन के अन्य उपाय भी दुःखद ही हैं। इसका दूसरा नाम 'पारम्' भी है। अर्जित धन के रक्षण में भी कम दुःख नहीं हैं। इससे होने वाली तुष्टि को 'सुपारम्' कहते हैं। बड़े पुरुषार्थ से जो धन अर्जित किया है। उसके विनाश के भय से धन के प्रति विराग उत्पन्न होना भी स्वाभामिक ही है जिसे यहां तुष्टि कहा गया है। इसका दूसरा नाम 'पारापारम्' है। शब्दादि विषयों के उपभोग से इच्छाएं बढ़ती हैं और फिर अभिलाषुक को दुःखित करती हैं। इस प्रकार भोग के दोष के ध्यान में आने पर जो विरक्ति होती है उस तुष्टि का नाम 'अनुत्तमाम्भ' है। प्राणियों को कष्ट दिये बिना विषय का उपभोग सम्भव न देख कर विषय भोग के प्रति जो विरक्ति उत्पन्न होती है, वह भी एक प्रकार की तुष्टि ही है जिसका नाम उत्तमाम्भ है। उक्त चार प्रकार की आध्यात्मिक तथा पांच प्रकार की वाह्य तुष्टियों को मिलाकर उसके नव भेद पूरे होते हैं ॥ ५० ॥
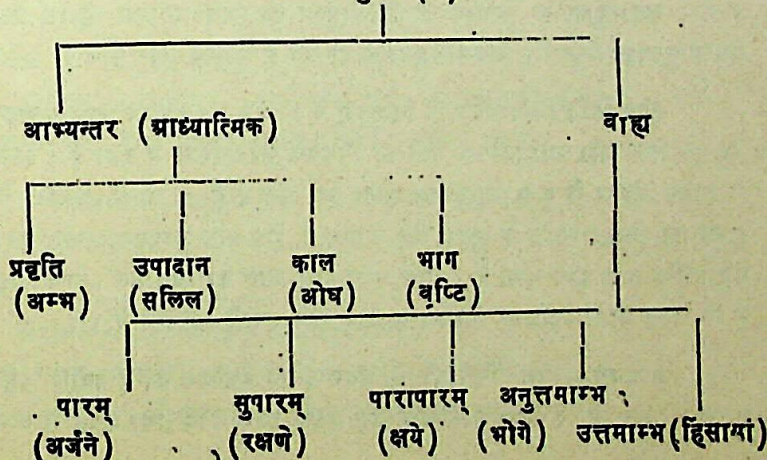
बुद्धि की चार प्रकार की सृष्टियों में से तीन विपर्यय, अशक्ति और तुष्टि, का सांगोपांग विवेचन पूर्वकारिकाओं में किया गया है। प्रकृत कारिका में एकमात्र अवशिष्ट 'सिद्धि' का गौण-मुख्यभेद से विभाग कर विवेचन करते हैं।

ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुखविधातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः ।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः ।। ५१ ।।

त्रयः त्रिप्रकारकाः दुःखविघाताः दुःखनाशाः, अध्ययनं विधिवद्गुरुमुखादध्यात्मविद्यानामक्षरस्वरूपग्रहणम् शब्दः शब्दजनितमर्थज्ञानम्, ऊहः तर्कः आगमाविरोधिन्यायेनागमार्थपरीक्षणम्, सुहृदां गुरुशिष्यब्रह्मचारिणां सम्वादकानां प्राप्तिः, दानं च विवेकज्ञानस्य शुद्धिः च इत्यष्टौ सिद्धयः सिद्धिज्ञान-प्राप्तिस्तस्याः भेदाः भवन्ति । पूर्वः पूर्वोक्तः विपर्ययाशक्तितुष्टिरूपः त्रिविधः प्रत्ययसर्गः तस्याः अष्टविधायाः सिद्धेः अंकुशः सिद्धिविरोधित्वादंकुश इव हेयो ज्ञेयः ।

आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक—तीनों प्रकार के दुःखों के अलग-अलग तीन उच्छेदक, अध्ययन, शब्द, ऊह, सुहृत्प्राप्ति तथा दान ये आठ सिद्धियां हैं। पूर्वोक्त विपर्यय, अशक्ति और तुष्टि नामक तीनों प्रत्ययसर्ग सिद्धि के बाधक हैं।

पुरुषार्थ की निष्पत्ति सिद्धि है। पुरुष का भोगापवर्गरूप प्रयोजन ही पुरुषार्थ है जो उसकी इच्छा का विषय है। प्रयोजन मुख्य वही होता है जो किसी अन्य की इच्छा के अधीन इच्छा का विषय न हो । 'मैं सुखी होऊं', 'मुझे दुख न हो' इस प्रकार की इच्छा किसी दूसरे की इच्छा के अधीन नहीं होती। अतः दुःख के उच्छेद की सिद्धि पुरुष का मुख्य प्रयोजन है । इस प्रकार पुरुषार्थ निष्पत्ति रूप सिद्धियों के दो वर्ग हैं—मुख्य और गौण।

मुख्य सिद्धि त्रिविधताप के निवारण में निहित है। दुःख के आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक भेदों का निरूपण पूर्वकारिका में हुआ है। इनमें से प्रत्येक प्रकार के दुःख का उच्छेद होना एक सिद्धि है । तीनों प्रकार के दुःखों का उच्छेद सिद्धि के मुख्य तीन प्रकार हैं, शेष पांच अध्ययन, शब्द, ऊह, सुहृत्प्राप्ति तथा दान गौण हैं। इनमें मुख्य-गौण-भाव का विधायक तत्त्व यह है कि उक्त तीनों सिद्धियां साध्य तथा शेष पांच उनकी साधिका हैं।

अध्ययन—गौण सिद्धियों में प्रथम स्थान अध्ययन का है क्योंकि यही एकमात्र हेतु है । शेष शब्द और ऊह आदि इसके कार्य तथा अपने से बाद

वाली सिद्धि के हेतु उभयात्मक है। आध्यात्म विद्याओं के परम प्रतिपाद्य पुरुष तत्त्व का गुरुमुख से विधिवत् ग्रहण ही अध्ययन है। यद्यपि मीमांसा भाष्यकार ने विशेष स्वर से युक्त अक्षर ग्रहणपूर्वक अर्थग्रहण को ही अध्ययन कहा है, तथापि यहां सिद्धि के प्रकारों में शब्द का भी ग्रहण होने से अध्ययन पद अक्षर-तत्त्व के ग्रहण का बोधक है। तथा शब्द पद अर्थज्ञान परक है। इसका दूसरा नाम 'तारम्' है क्योंकि संसार से पार होने का यह प्रथम हेतु है।[1]

शब्द—द्वितीया सिद्धि है जो अध्ययन का कार्य है। शब्द से यहां शब्द-जनित अर्थज्ञान उपलक्षित होता है। वहां अर्थ ज्ञान रूप कार्य में शब्दत्व रूप कारण का आरोप हुआ है। इसी का दूसरा नाम 'सुतारम्' है। क्योंकि अर्थज्ञान अज्ञान का निवर्तन करते हुए विवेक-ख्याति को प्राप्त कराता है। इसके होने पर संसार-समुद्र का तरण प्रायः निश्चित हो जाता है। अतः 'सुतरां संसारार्णवकत्वात् सुतारम्' की व्युत्पत्ति से इसकी सुतारम् संज्ञा अन्वर्थ ही है। 'तारम्' और 'सुतारम्' इन दोनों प्रकार की सिद्धियों का, जिनको यहां 'अध्ययन' और 'शब्द' पदों से कहा गया है, अन्तर्भाव उपनिषदों के 'श्रवण' नामक तत्त्व में हो जाता हैं।

ऊह—ऊह 'वितर्के' धातु से निष्पन्न होने से ऊह तर्क को कहते हैं। आगम के प्रतिपाद्य विषय की ऐसे न्याय से परीक्षा करना जो आगम विरोधी न हो, तर्क कहा जाता है।[2] संशय तथा पूर्वपक्ष का निराकरण करते हुए सिद्धान्त-पक्ष की व्यवस्था ही उसकी परीक्षा है इसी को उपनिषदों में मनन कहा गया है। इसकी दूसरी संज्ञा 'तारतारम्' है जिसमें 'तार' शब्द को प्रकार अर्थ में द्वित्व हुआ है तथा जिसका अर्थ है 'तरने का प्रकार' अथवा 'तारादपि अधिकं तारम्' की व्युत्पत्ति से इसे 'तारतारम्' इसलिए कहते हैं कि यह सिद्धि पूर्वोक्त 'तारम्' और 'सुतारम्' से बढ़कर है। ऊह अर्थात् तर्क अर्थज्ञानमूलक होता है। अतः यह अर्थज्ञानरूप शब्द नामक पूर्वोक्त सिद्धि का कार्य भी है।

सुहृत्प्राप्ति—मनन का ही एक दूसरा रूप सुहृत्प्राप्ति है, क्योंकि न्याय से परीक्षित होने पर भी शास्त्र के विवेच्य विषय में तब तक श्रद्धा नहीं होती

---

१. तारयति संसारार्णवादिति तस्यास्तारत्वम्।

२. आगमाविरोधिन्यायेनागमार्थपरीक्षणं तर्कः। सुबोधिनी।
अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः। न्याय सू० १।१।४०

जब तक गुरु, शिष्य ब्रह्मचारियों के साथ उसका अभ्यास न कर लिया जाय। न्याय-सूत्र में भी कहा है कि शास्त्र से गृहीत अर्थ का गुरु, शिष्य और उन ब्रह्मचारियों से जिन में 'असूया' न हो अभ्यास करना चाहिए।[१] सुहृद् पद का अर्थ गुरु, शिष्य तथा साथ में अध्ययन करनेवाले सहपाठियों से है। उनकी प्राप्ति भी एक सिद्धि है जो अव्यवहित पूर्व अध्ययन नामक सिद्धि का फल है। जो अध्येता है, उसी को यह सम्यक् सुलभ होता है। इस सिद्धि का दूसरा नाम रम्यक है। 'रमन्ते अत्र' की व्युत्पति से अधिकरण अर्थ में यत् तथा स्वार्थ में कर प्रत्यय होकर निष्पन्न शब्द का अर्थ शास्त्रार्थ सम्वाद की रमणीयता है।

दान—शोधनार्थक—'दै' धातु से ल्युट् प्रत्यय होकर निष्पन्न होने वाले दान शब्द का अर्थ विवेक ज्ञान की शुद्धि है न कि किसी वस्तु का वितरण। क्योंकि वितरणार्थक 'दान' पद डुदाञ्, (दाने) धातु से निष्पन्न होता है। भगवान् पतंजलि ने ही योगसूत्र में कहा है कि विवेक-ख्याति दुःखनिवृत्ति का अविप्लव उपाय है।[२] विप्लव शब्द का अर्थ मल तथा 'नास्ति विप्लवः मलं यस्याः' की व्युत्पत्ति से अविप्लव पद शुद्धि अर्थ का वाचक है। शुद्धि का अर्थ वासनासहित संशय और मिथयाज्ञान के परिहारपूर्वक विवेक-ज्ञान के स्वच्छ प्रवाह में स्थित होना ही है। जो दीर्घ काल तक निरन्तर अभ्यास से परिपक्व होती है। यह दान पंचमी सिद्धि है जिसका दूसरा नाम सदामुदित है। क्योंकि यह साधक को निरन्तर आमोद प्रदान करती रहती है। इनके अतिरिक्त तीन मुख्य सिद्धियां हैं जो इन पूर्वोक्त पांचों के कार्य हैं। इन तीनों में से 'प्रमोद' आध्यात्मिक दुःख के उच्छेदस्वरूप होती हैं। द्वितीय का नाम मुदित है जो आधिभौतिक दुःख के अभेद से सम्पन्न होती है। आधिदैविक दुःख के विघातरूप सिद्धि का नाम मोदमान है जिसकी व्युत्पत्ति 'मोदस्य मानं अर्थात् मानयत्र' है।

कुछ अन्य लोगों ने सिद्धियों की व्याख्या अन्य प्रकार से की है जैसे बिना किसी गुरु के उपदेश से जन्म-जन्मान्तर के संस्कारवश पुरुष-तत्त्व का

---

१. तं शिष्यगुरुब्रह्मचारिविशिष्टश्रेयोऽर्थिभिरनसूयुभिरभ्युपयात्।
—न्या० सू०, ४।२।४८

२. विवेकख्यातिरविप्लवाहानोपायः। यो० सू० २।२६।

बोध हो जाना या प्रकृतिपुरुषान्यताख्याति का उदय होना ऊह नामक सिद्धि है। दूसरे के द्वारा सम्पादित सांख्य-शास्त्र के पाठ को सुनकर जो किसी को ज्ञान हो जाता है, वही शब्द नामक सिद्धि है जो शब्द के पाठ के अनन्तर होती है। अध्ययन नामक सिद्धि वह है जो गुरु शिष्य-सम्बन्ध से सांख्यशास्त्रीय ग्रन्थों का विधि-पूर्वक अध्ययन से प्राप्त होती है। मित्र के मिलने से या उसकी प्रेरणा से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह ज्ञानरूप सिद्धि सुहृत्प्राप्ति कहलाती है। सिद्धि के लिए धन आदि दान को पाकर ज्ञानी जो किसी को ज्ञान देता है, वही दान नामक सिद्धि है। सिद्धियों की उपर्युक्त व्याख्या जयमंगलाकार ने की है। गौडपाद ने एक तीसरे ढंग से ही इस कारिका की व्याख्या की है। उनका कहना है कि जो कोई नित्य इस चिन्तन में लगा रहता है कि सत्य क्या है? सर्वोत्कृष्ट तत्त्व क्या है? और नैश्रेयस् क्या है? एव किस तथ्य को पाकर व्यक्ति कृतार्थ होता है? उसे यह ज्ञान रूपी सिद्धि हो जाती है कि पुरुष प्रधान से अन्य है। बुद्धि, अहंकार तथा उनके परिणाम ये सभी पुरुष-तत्त्व से भिन्न हैं। इस तरह की ज्ञानात्मक सिद्धि ही ऊह कहलाती है। शब्द के ज्ञान से प्रधान, पुरुष, बुद्धि, अहंकार, तन्मात्राएं, इन्द्रियां, पंचमहाभूत नामक विषयों का ज्ञान होता है अनन्तर मोक्ष की प्राप्ति होती है, इसलिए शब्द नामक सिद्धि दूसरी है। अध्ययन का अर्थ वेदादिशास्त्रों का अध्ययन है, उससे भी पच्चीस तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त होता है अनन्तर व्यक्ति मोक्ष को प्राप्त होता है। अतः अध्ययन तीसरे प्रकार की सिद्धि है। उसके बाद आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक तीनों प्रकार के दुःखों के नाश के लिए व्यक्ति जब समुचित गुरु के पास पहुंचता है तो उसके उपदेश से उसे मोक्ष होता है। यह चौथी सिद्धि है। यही दुःख-भेद से तीन प्रकार की होती है। सातवीं सिद्धि सुहृत्प्राप्ति का अर्थ है—किसी मित्र का ज्ञान पाकर मुक्त हो जाना। सन्त-महात्माओं को भोजन वस्त्र एवं अपेक्षित औषधि आदि की व्यवस्था के लिए धन-दान करके उनके आशीर्वाद स्वरूप विवेक-ज्ञान की प्राप्ति आठवीं सिद्धि है। इनका विपरीत भाव असिद्धि है जिसकी गणना बुद्धि-वध नामक अशक्ति के भेदों में की जा चुकी है।

बुद्धि-सर्ग के विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि एवं सिद्धि नामक चारों प्रकारों में प्रथम तीन--विपर्यय, अशक्ति एवं तुष्टि हेय तथा चतुर्थ सिद्धि उपादेय है। यही नहीं पूर्व के तीनों हेयतत्त्व सिद्धि रूप हस्तिनी के लिए अंकुश के समान हैं। अर्थात् वे सिद्धि-विरोधी हैं। अतएव मुमुक्षुओं के लिए वे हेय हैं। गौडपाद

ने त्रिविध अंकुश को तीसरे प्रकार से समझाया है। उनका कहना है कि जैसे हाथी अंकुश धारण करने वाले के वश में होता है उसी प्रकार विपर्यय, अशक्ति और तुष्टि के द्वारा वशीभूत व्यक्ति अज्ञान प्राप्त करता है। अतः इनके वश से निकल कर सिद्धियों का ही सेवन करना चाहिए। सिद्धि से ही तत्त्व-ज्ञान होकर मोक्ष प्राप्त होता है।[1] ॥५१॥
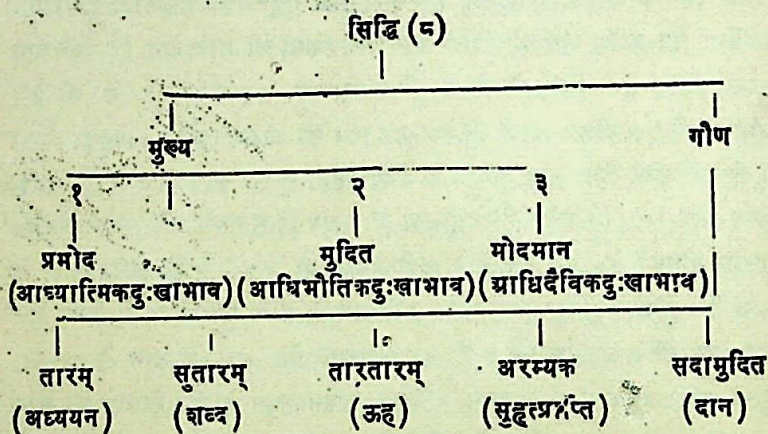
पहिले ४०वीं कारिका में कहा गया है कि लिंग भावों से अधिवासित होकर नानाप्रकार की योनियों एवं लोकलोकान्तर में संसरण करता है। यहां प्रश्न यह उठता है कि पहले लिंग उत्पन्न हुआ या भाव। क्योंकि बिना भाव के लिंग क्रियाशील नहीं होता था इसका अर्थ यह है कि वह पूर्वतः विद्यमान तो रहता है अनन्तर भावों से अधिवासित होता है अथवा इसके विपरीत भाव ही पूर्वतः विद्यमान होते हैं और लिंग के उत्पन्न होते ही उसपर आरूढ़ हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि सूक्ष्मतन्मात्राओं से रचित शरीर ही लिंग है जो अनादि काल से विद्यमान होता है एवं त्रयोदश प्रकार

---

१. सिद्धेः पूर्वात् या विपर्ययाशक्तितुष्टयस्ता एव सिद्धेरङ्कुशः, तद्भेदादेव त्रिविधः। यथा हस्ती गृहीताङ्कुशेनवशो भवति एवं विपर्ययाशक्तितुष्टिभिर्गृहीतो लोकः अज्ञानं प्राप्नोति। तस्मादेताः परित्यज्य सिद्धिः सेव्या। ससिद्धेस्तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते। तस्मात् मोक्ष इति। गौडपादभाष्य।

के करणों से संयुक्त तथा बुद्धि के धर्म आदि आठभावों से अधिवासित होकर संसरण करने लगता है। मन बुद्धि अहंकार एवं पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा पांच कर्मेन्द्रियां मिलकर त्रयोदश करण कहलाते हैं। इन्ही करणों के सहारे तान्मात्रिक सूक्ष्मशरीर संसरण करता रहता है। अतः तान्मात्रिक शरीर एवं करणों को मिलाकर इनकी लिंग संज्ञा है। भावों से तात्पर्य धर्म ज्ञान विराग ऐश्वर्य नामक सात्त्विक एवं अधर्म अज्ञान अविराग अनैश्वर्य नामक तामस बुद्धि धर्मों से है। वस्तुतः यहां सन्देह इस बात का होता है कि करणों सहित तान्मात्रिक सूक्ष्मशरीर रूपी लिंग एवं बुद्धि के धर्मादि भावों में से पहले कौन उत्पन्न होता है ? इसी शंका के निराकरण के लिए अगली कारिका की सृष्टि हुई इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि सृष्टि का प्रयोजन पुरुष को भोगापवर्ग रूप अर्थ की उपलब्धि कराना है जो विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि एवं सिद्धि नामक प्रत्ययसर्ग अथवा सूक्ष्मशरीर, स्थूल-शब्दादि एवं स्थूल महाभूत तथा उनसे बने हुए स्थूलशरीर रूप तन्मात्रसर्ग में से किसी एक से ही सम्पन्न हो सकती थी फिर दोनों प्रकार की सृष्टियों की आवश्यकता क्या थी। इसके समाधान के लिए कारिका प्रस्तुत है :—

न विना भावैर्लिङ्गं न विना लिङ्गेन भावनिर्वृत्तिः।
लिङ्गाख्यो भावाख्यस्तस्माद्द्विविधः प्रवर्तते सर्गः[2] ॥५२॥

भावैः प्रत्ययसर्गैः विना लिङ्गम् तन्मात्रसर्गो न भवति। लिङ्गेन तन्मात्रसर्गेण च विना भावनिर्वृत्तिः प्रत्ययसर्गनिष्पत्तिः नभवति। तस्मात् लिङ्गाख्यः लिङ्गनामा तन्मात्रसर्गः, भावाख्यः भावनामा प्रत्यय सर्गश्चेति द्विविधः सर्गः सृष्टिः (बुद्धितत्वात्) प्रवर्तते निर्मितो भवति।

भाव अर्थात् प्रत्ययसर्ग के बिना लिंग अर्थात् तन्मात्रसर्ग उत्पन्न नहीं होता। न ही लिंग सर्ग के बिना भाव की निष्पत्ति सम्भव है। अतः लिंग और भाव नाम की दो प्रकार की सृष्टियां एक ही बुद्धि से प्रवृत्त होती हैं।

सांख्यशास्त्र में यद्यपि लिंगपद का प्रयोग सूक्ष्म शरीर के लिए हुआ है,[1] तथापि उसके शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध नामक पंचतन्मात्राओं से

---

१. नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम्। कारिका।४२।
२. तस्माद्भवति द्विधा सर्गः। इति माठरवृत्तौ पाठभेदः।

घटित होने के कारण यहां प्रकृतकारिका में लिंगपद तन्मात्राओं द्वारा निष्पन्न सृष्टि का बोधक है। इस प्रकार लिंग पद का प्रयोग तन्मात्रसृष्टि के लिए यहां उपलक्षणरूप में हुआ है। इसी प्रकार 'भाव' पद भी है। भावैरधिवासितं लिंगम् में प्रयुक्त 'भाव' पद से धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य तथा ऐश्वर्य एवं अनैश्वर्य नामक आठ बुद्धि-धर्मों का ग्रहण होता है। किन्तु यहाँ पर इसी भाव पद से पचास प्रकार के विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि एवं सिद्धि नामक प्रत्यय-सर्गों का ग्रहण होता है। भाव के बिना लिंग नहीं होता—इसका अर्थ यह है कि तन्मात्र-सृष्टि होकर भी यदि भाव न हों तो वह पुरुषार्थ के लिए उपयोगी नहीं हो सकती। इसलिए भाव-सृष्टि के अभाव में पुरुषार्थ की साधिका न होने के कारण अनावश्यक होने से तन्मात्र-सृष्टि ही नहीं होगी। इसी अभिप्राय से कहा है भावैः बिना लिङ्ग न। इसी प्रकार की स्थिति भाव अर्थात् प्रत्ययसर्ग की है। क्योंकि वह भी तन्मात्र-सृष्टि से निरपेक्ष होकर पुरुष के भोगापवर्ग रूप प्रयोजन की सिद्धि नहीं कर सकता। अतः निष्प्रयोजन होने से उसकी भी सृष्टि नहीं हो सकती। इस तरह दोनों ही प्रकार की सृष्टियां परस्पर उपकार्योपकारकभाव से पुरुष के भोगपवर्गरूप पुरुषार्थ की साधिका होती हैं, अतएव उनकी सृष्टि भी होती है।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि दोनों प्रकार की सृष्टियाँ सापेक्ष हैं अर्थात् एक दूसरी की उत्पत्ति का कारण है और कारण कार्य में पूर्वापर भाव निश्चत रूप से होता है, अतः एक ही साथ दोनों सम्पन्न नहीं हो सकते। इन दोनों में से किसी की भी पूर्व स्थिति मानने पर दूसरे के बिना ही उसकी सृष्टि सिद्ध हो जायगी। फिर अन्योन्याश्रय-दोष होने से दोनों के परस्पर के कर्तृत्व का सिद्धान्त खण्डित हो जाता है। इसका समाधान यही है कि बीज और अंकुर के समान ही इनके भी अनादि होने से यह दोष नहीं आता। उपनिषदों में भी कहा है कि इस सृष्टि का वही रूप नहीं है जो दिखाई देता है। यही नहीं, इसका न आदि है न अन्त और न कोई अन्य आधार।[1] बल्कि कल्प के आदि में भी पूर्वकल्प में उत्पन्न भाव और लिंग के संस्कार से दोनों प्रकार की सृष्टि स्वतः उत्पन्न हो जाती हैं। अतः समानरूप से इनका एक दूसरे की उत्पत्ति का कारण होना सर्वथा समुचित ही है। प्रलय और सृष्टि के बीच भी यही क्रम चलता है।

---

१. न रूपमस्येह तथोपलभ्यते। नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।

बिना सृष्टि के प्रलय और बिना प्रलय के सृष्टि नहीं हो सकती। अतः प्रलय-दशा में पूर्व-सर्ग के भाव और लिंगों का संस्कार-रूप में रहना तथा उसी के कारण अग्रिमसर्ग में उनकी स्वतः उत्पत्ति ही उनका अनादि होना है। इस सिद्धान्त को स्वीकार करने से कहीं कोई दोष नहीं होता। दर्शन की प्रायः प्रत्येक विधा ने इस अनादित्व सिद्धान्त को स्वीकार कर ही सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय की व्याख्या की है।

इस कारिका की एक सरल व्याख्या यह भी है कि क्रियमाण कर्मों के संस्कार को भाव कहते हैं। लिंग सूक्ष्मशरीर की संज्ञा है। बिना क्रियमाण कर्मों के संस्कार के सूक्ष्मशरीर नहीं बनता। इसीलिए आसक्ति-रहित होकर किये जाने वाले कर्मों से पुनर्जन्म आदि फल नहीं मिलने का गीता का सिद्धान्त युक्तियुक्त सिद्ध होता है। कर्मों के अदृष्ट रूप संस्कार उत्पन्न हो जाने पर उनकी निवृत्ति अर्थात् मुक्ति लिंग-शरीर के बिना नहीं हो सकती। क्योंकि वही तत्तद्योनियों में स्थूलशरीर धारण कर नाना प्रकार के फलों को भोगता है। इस प्रकार किये गए कर्मों के संस्कारों के फलस्वरूप सूक्ष्मशरीर एवं सूक्ष्मशरीर के द्वारा स्थूलशरीर ग्रहण करके उन संस्कारों के फल का भोग, यही सृष्टि की प्रक्रिया है। इसीलिए सृष्टि में कुछ तत्त्व भोग्य हैं और दूसरे भोग के साधक। भोग्य तत्त्वों में पंचतन्मात्राओं एवं उनके विकास रूप पंचमहाभूतों तथा उनसे सृष्ट निखिल दृष्ट प्रपंच हैं। भोग के साधक अन्तः और बाह्य रूप त्रयोदश करण हैं। भोक्ता सूक्ष्म शरीर के द्वारा आविष्ट बद्ध-पुरुष है ॥५२॥

पूर्वकारिकाओं में बुद्धि-सर्ग का निरूपण पर्याप्त विस्तारपूर्वक हुआ है। प्रकृत कारिका में भौतिक अर्थात् तन्मात्र-सर्ग का विभाजन प्रस्तुत करते हैं।

अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति।
मानुषश्चैकविधः[1] समासतो भौतिकः सर्गः ॥५३॥

दैवः देवयोनौ भवः सर्गः सृष्टिः, अष्टविकल्पः अष्टौ विकल्पाः भेदाः यस्य तथाभूतः अष्टप्रकारकः भवति, तैर्यग्योनः तिर्यग्योनौ भवः सर्गः, पंचधा पंच-प्रकारको भवति,। मानुषः मनुष्ययोनौ भवः सर्गः एकविधः एकप्रकारकः

---

१. मानुषकः गौपा०, माठर। मानुष्यः जयमंगला। मानुषः तत्त्वकौमुदी।

एव भवति । इत्येव समासतः संक्षेपतः (चतुर्दशविधः) भौतिकःतन्मात्रकृतः, सर्गः.सृष्टिः अस्ति इति शेषः ।

देवताओं की योनि आठ प्रकार की है । मनुष्य को छोड़ कर स्थावर जङ्गमात्मक शेष जगत् की सृष्टि पांच प्रकार की है तथा मनुष्य की केवल एक प्रकार की होती है । संक्षेप में यही भौतिक सर्ग है ।

देवयोनि के आठ प्रकार हैं —ब्राह्म, प्राजापत्य,ऐन्द्र, पैत्र, गान्धर्व, याक्ष, राक्षस, एवं पैशाच । ब्रह्मलोकवासी ब्राह्म, प्रजापतिलोकवासी प्राजापत्य, स्वर्गलोकवासी ऐन्द्र, पितृलोकवासी पैत्र, गन्धर्वलोकवासी गान्धर्व, यक्षलोकवासी याक्ष, राक्षसलोकवासीराक्षस तथा पिशाचलोक वासी पैशाच कहे जाते हैं। मनुष्य की अपेक्षा इनकी शक्ति और ऐश्वर्य अत्यधिक हैं । इनके धर्म, अधर्म आदि सभी दिव्य होते हैं । जयमंगला में उक्त देवयोनियोंमें से ऐन्द्र और पैत्र के स्थान पर सौर और आसुर नाम परिगणित किये हैं । इनमें भेद सत्त्व रज एवं तम गुणों के विकल्प से माना हैं ।

तिर्यग् योनियों में पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप तथा स्थावर आते हैं । इनमें से गाय से लेकर गदहे तक पालतू जानवर, पशु कहे जाते हैं तथा सिंह, हरिण आदि जगली जानवरों की योनि 'मृग' है । पक्ष से युक्त गीध आदि 'पक्षी' कहे जाते हैं जो हंस से लेकर मशक तक हैं । सर्प से लेकर कीटाणु तक के सरक कर चलने वाले जन्तुओं की योनि 'सरीसृप' है तथा वृक्ष से लेकर स्थाणु तक 'स्थावर' योनि है । यहां मृग शब्द से जंगली जिन जानवरों का ग्रहण हुआ है, उन सब का अन्तर्भाव पशुयोनि में अच्छी तरह हो सकता है तथा बनमानुष एवं जलमानुष तिर्यक् योनि में आते हैं । फिर कुल मिला कर इनके चार ही प्रकार सिद्ध होते हैं । पांच की गणना-पूर्ति के लिए पशुओं के ही दो विभाग करना उचित नहीं है, क्योंकि गाय, अश्व तथा अनेक ग्रामीण पशु जंगलों में भी होते हैं। इसी प्रकार खरगोश, हिरन आदि अनेक प्रकार के जंगली पशुओं का पालन गांव तथा नगरों में भी पालतू पशु के रूप में किया जाता है । फलतः पशुओं में ग्राम्य और आरण्यक नाम से जो भेद किया गया है, वह साधार और उपपत्तिपूर्ण नहीं प्रतीत होता । इसीलिए शब्दरत्नावली में पशु पद प्राणि-मात्र के लिए संकेतित है । इसी आधार पर 'मृग' पद से रोयें और पूंछ वाले बन्दर, लंगूर, भालू आदि विशेष प्रकार के जन्तुओं का ग्रहण करना चाहिए जो निश्चित रूप से पशु नहीं हैं, न कि सिंह व्याघ्र आदि का। स्थावर-योनि में वृक्ष,

लता, गुल्म आदि तथा घट, पट, मठ आदि वे प्रकार आते हैं जिनमें स्वतः गमन-शीलता नहीं है। मनुष्यमात्र एक प्रकार होता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र, वैश्य, ये मनुष्य के अवान्तर भेद हैं जिनका निरूपण यहां अभीष्ट नहीं है भौतिक सर्ग की त्रिविधता का आधार माठरवृत्ति के अनुसार तुल्यलिंगता है। जयमंगला में ब्राह्मण से चाण्डाल पर्यन्त मनुष्य की आकृति के एक होने से ही उसे केवल एक प्रकार का माना है। शास्त्रान्तरों में प्रतिपादित सृष्टि के जरायुज, अण्डज, ऊष्मज तथा उद्भिज नामक चार भेदों की अपेक्षा एक कम होने से ही भेद की इस व्यवस्था को 'संक्षेपतः' कहा है ॥ ५३॥

पूर्वकारिका में जिस तन्मात्र-सर्ग का निरूपण हुआ है, वह सब एक ही प्रकार का है। फिर इस संसार में सुख-दुःख का तारतम्य क्यों देखा जाता है? क्या कारण है कि कोई अधिक सुखी है तो दूसरा कम? इसका उत्तर प्रकृत कारिका में दिया गया है :—

ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः।
मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ॥ ५४ ॥

ऊर्ध्वम् उच्चैः सर्गः अर्थात् देवसर्गः, सत्त्वविशालः सत्व गुणबहुलः, मूलतः नीचैः तैर्यग्योनः सर्गः, तमोविशालः तमोगुणबहुलः, मध्येसर्गः मनुष्यसर्गः रजोविशालः रजोगुणबहुलः भवति। ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ब्रह्मणः आरभ्य धान्यतृण-पर्यन्तः सर्वो लोको गुणत्रयेण व्याप्त इत्यर्थः, अथवा ब्रह्मा आदिः यस्य, स्तम्बश्च तृणविटपः तत् पर्यन्तः निखिलः सर्गः तत्र यः सत्त्वविशाल-सत्त्वबहुलः देवादियोनिः स ऊर्ध्वं देवलोकः, यश्च तमोविशालः तमोगुणबहुलः स सर्गः मूलतः तैर्यग्योन एवात्र मूलं तस्य अधमत्वात्। रजोविशालः रजोगुणबहुलः सर्गः मध्ये मनुष्यलोके भवति।

ब्रह्मा से लेकर धान के सूखे पुवाल तक निखिल ब्रह्माण्ड में जो सृष्टि सत्त्वगुणबहुला है, वह उत्तम अर्थात् देवलोक है। जिस सृष्टि में तमोगुण की बहुलता है, वह मूल अर्थात् तिर्यक् योनि है। रजोगुण-बहुल सृष्टि मनुष्य की है जो मध्य अर्थात् मर्त्यलोक में है। अथवा[1] ऊर्ध्वं अर्थात् उत्तमकोटि की

---

१. न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
तत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः। गीता १८।४०।

सृष्टि देवताओं की है, जिनमें सत्त्वगुण की बहुलता रहती है। मूलतः अर्थात् निम्नकोटि के जीवों में तमोगुण की प्रधानता होती है। उत्तम और अधम दोनों के बीच की सृष्टि मनुष्य की है जिसमें रजोगुण ही प्रधान होता है। ब्रह्मा से लेकर धान के पुवाल तक का स्थावरजंगमात्मक निखिल जगत् तीनों गुणों से व्याप्त है।

स्वर्ग से लेकर ब्रह्मलोकपर्यन्त लोकवासी जीवों में सत्त्वगुण की प्रचुरता का अर्थ विशालता है। इसका अभिप्राय यह है कि देवलोक के प्राणियों में रजोगुण और तमोगुण के अंश अल्पमात्रा में तथा सत्त्वगुण के अंश अधिक मात्रा में विद्यमान होते हैं। यही कारण है कि वहां लघुता और प्रकाश की अधिकता होती है। उस लोक में रहनेवालों को सत्त्वगुण के आधिक्य के फलस्वरूप ज्ञान और सुख अतिशय रूप में प्राप्त रहते हैं। 'मूलतः' में प्रयुक्त मूलशब्द निम्न अर्थपरक है। पशु से लेकर स्थावरपर्यन्त के जीवों में तमोगुण की बहुलता रहती है। इसीलिए उनमें मोह अर्थात् जड़भाव की ही उपलब्धि प्रधानतया होती है। मध्यसर्ग, जो न उच्च है न नीच तथा जिसमें सातों द्वीप और उनके परिवेशक सातों समुद्र आते हैं, मनुष्ययोनि है। कुछ लोग इस कारिका की व्यवस्था भिन्न प्रकार से करते हैं। उनके अनुसार भूलोक में तमोगुण का उत्कर्ष क्रम से होता है। पशुओं से अधिक मृगों (जंगली जन्तुओं) में, इनसे भी अधिक पक्षियों में तथा सरक कर चलने वाले सांप आदि में और अन्त में सबसे अधिक तम का उत्कर्ष वृक्षपर्वतादि स्थावरयोनियों में होता है। भूलोक में भी मनुष्यों की जातियों में रजोगुण का उत्कर्ष ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में उत्तरोत्तर अधिकाधिक मात्रा में होता है। 'मूलतः' तथा 'मध्ये' का सम्बन्ध भूलोक से ही है। इस प्रकार मूलतः का अर्थ निम्न पशु आदि योनियों में तथा मध्य का अर्थ मानव सर्ग से है। कारिका में, ऊर्ध्व, अधः और मध्य शब्द दिग्वाचक नहीं है। अपितु गुणों की सापेक्षता के द्योतक हैं और उत्तम, मध्यम एवं निम्न कोटि अर्थ के अभिधायक हैं। इनकी उत्तम, मध्य अधमता, सात्त्विकता, रजोधर्मशालिता और तमोगुणशालिता को लेकर है। ब्रह्मा पद का अर्थ हिरण्यगर्भ नामक जीव विशेष है जो निरतिशयज्ञान एव सुख आदि से समन्वित होता है तथा सत्य नामक सर्वोत्कृष्ट लोक में रहता है। स्तम्ब पद का प्रवृत्तिलभ्य अर्थ तृण होता है किन्तु यहां स्तम्ब से वृक्ष-लतादिरूप स्थावर जगत् का बोध होता है॥५४॥

सृष्टि प्रक्रिया के अंतर्गत लोक-लोकान्तरों तथा प्रकृति के सूक्ष्म क्रिया-कलापों का निरूपण पूर्वकारिकाओं की विवेचना का विषय रहा। इनमें दुःख

क्या है ? वह त्रैलोक्य में क्यों छाया हुआ है ? इसका निरूपण अगली कारिका में हुआ है :—

तत्र जरामरणकृतं दुःखम्प्राप्नोति चेतनः पुरुषः ।
लिङ्गस्याऽऽविनिवृत्तेस्तस्माद् दुःखं स्वभावेन ॥५५॥

(यतः) तत्र शरीरादौ लोकलोकान्तरेषु वा, चेतनः चैतन्यवान पुरुषः, लिङ्गस्य सूक्ष्मशरीरस्य महदादेर्वा, आविनिवृत्तेः निवृत्तिपर्यन्तं, जरामरणकृतम् जरया वृद्धावस्थया मरणेन मृत्युना च सम्पादितं, दु.खं, प्राप्नोति अनुभवति तस्मात्संसारेऽस्मिन् दुःखं स्वभावेन स्वत एव अस्ति इति शेषः ।

चेतन पुरुष पूर्वोक्त योनियों में जरा एवं मरण के दुःख तब तक भोगता रहता है । जब तक उसके लिंग अर्थात् सूक्ष्म शरीर या महत् आदि की निवृत्ति नहीं हो जाती । इसलिए यही मानना चाहिए कि दुःख वस्तुओं का स्वभाव है ।

'तत्र पद' का अभिप्राय यहां तत्तद्योनियों से है जिनमें जीव नाना प्रकार के शरीर धारण करता है । माठर ने तत्र के स्थान पर 'अत्र' पाठ माना है जिसका अर्थ पूर्ववर्णित तीनों लोकों में किया है ।[1] वाचस्पति का कहना है कि यद्यपि प्राणधारी जन्तु नाना प्रकार के विलक्षण आनन्दों का उपभोग करता है तथापि जरा और मरण कृत दुःख सर्वसामान्य हैं । यहां तक कि एक कीटाणु को भी मरने का डर बना रहता है । भय का कारण दुःख के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता । इसलिए मरण भी निश्चय रूप से दुःख ही है ।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि दुःख आदि तो प्रकृति के विकार, बुद्धि के धर्म हैं । ये चेतनपुरुष को कैसे प्रभावित कर पाते हैं ? इसका उत्तर यही है कि 'पुरि लिंगशरीरे शेते इति पुरुषः' की व्युत्पत्ति से पुरुष और सूक्ष्मशरीर का सम्बन्ध हो जाता है । और दुःख चूंकि सूक्ष्मशरीर में है अतः उसके साथ अभेद की प्रतीति से जीवभूत पुरुष को मन, बुद्धि, अहंकार के द्वारा भी दुःख का अनुभव होता है । मन, बुद्धि, अहंकार सूक्ष्म शरीर के अभिन्न अंग होते हैं । अतः जब तक सूक्ष्म शरीर की निवृत्ति नहीं हो जाती, तब तक रजोगुण

---

१. अत्र त्रिषु लोकेष्विति । देवलोके मनुष्यलोके तिर्यग्योनौ चेति । माठरवृत्ति ।

के परिणामस्वरूप उसमें निरन्तर विद्यमान दुःख का अनुभव पुरुष को होता ही रहता है। जैसे लोहे के तप्तपिण्ड में अग्नि और लोहे का भेद मिट जाने से लोहपिण्ड भी दाहक हो जाता है, यद्यपि वह स्वतः दाहक नहीं है। इसी प्रकार बुद्धि और चैतन्य के अभिन्न प्रतीत होने से बुद्धिस्थ दुःख चैतन्य को अभिभूत कर लेता है। फलतः आरोपित भी दुःख आदि पुरुष के अपने प्रतीत होते हैं। इसका बोध तब तक नहीं होता, जबतक लोहपिण्ड अग्नि के प्रभाव से मुक्त नहीं हो जाता। पुरुष के पक्ष में लिंग शरीर का अंत ही दुःख का अंत है। इसीलिए कारिका में आङ् उपसर्गसहित 'आविनिवृत्तेः' विनिवृत्तिपर्यन्त शब्द का प्रयोग किया गया है। 'तस्मात् दुःखं स्वभावेन' में प्रयुक्त 'स्वभाव' पद से प्रकृति का ग्रहण होता है, पुरुष का नहीं। माठराचार्य ने 'स्वभावेन' के स्थान पर 'समासेन' पाठ माना है जिसका अर्थ 'संक्षेपेण' किया है। कहने का अभिप्राय यह है कि दुःखात्मक इस निखिल प्रकृति के दुःखतत्त्व का अनुभव लिंग शरीर के द्वारा ही सम्भव है। यदि लिंग शरीर नहीं तो रजोगुण के परिणाम के रूप में विद्यमान भी दुःख लोगों के अनुभव का विषय नहीं हो सकता। संक्षेप में लिंग-शरीर ही दुःख के अनुभव का असाधारण कारण है जिसका परामर्श 'तस्मात्' से होता है ॥५५॥

अब तक के विवरण का निष्कर्ष यह है कि प्रकृति और पुरुष का संयोग सृष्टि का कारण है। प्रकृति के सूक्ष्मतम तत्त्व बुद्धि और पुरुष का यह संयोग अग्नि और लोहपिण्ड के समान वस्तुतः भिन्न होते हुए भी अभिन्न प्रतीत होता है। एक दूसरा तत्त्व लिंग शरीर है जो बुद्धि के धर्म आदि भावों से बनता है और स्थूलशरीर धारण कर उन भावों के फल का उपभोग करता है। पुरुष के भोग की सिद्धि के प्रकार एवं उसके साधनों का निरूपण पूर्व-कारिकाओं में किया जा चुका है। इस प्रकार भाव और लिंग की जो सृष्टि है, वह क्या ईश्वर से है ? क्योंकि ईश्वर से प्रेरित होकर ही जीव स्वर्ग या नरक को प्राप्त करता है, ऐसी उक्तियां पुराणों में मिलती हैं।[1] अथवा जैसा कि वेदों में कहा गया है—यह जो कुछ भी परिदृश्यमान जगत् है, वह सब पुरुष ही है चाहे वह हो चुका है या आगे उत्पन्न होगा।[2] अथवा यह जगत् स्वाभाविक ही ऐसा है। किसी के द्वारा उत्पन्न नहीं किया जाता[3]। इन सब विप्रतिपत्तियों का निराकरण अगली कारिका में करते हैं :—

---

१. ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा।
२. पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्। पुरुष सूक्त।
३. स्वाभाविकमेवेदं सर्वं जगन्नहि मरुदादयः केनचित्क्रियन्ते।

इत्येष प्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः ।
प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः ॥५६॥

इति एषः पूर्वकारिकासु निगदितः महदादिविशेषभूतपर्यन्तः महत्तत्त्वादारभ्य स्थूलभूतपर्यन्तः आरम्भः सर्गः प्रकृत्यैवकृतः निर्मितः नान्येन केनचिदिति भावः । सच प्रतिपुरुषविमोक्षार्थम् एकैकपुरुषविमोचनकृते स्वार्थ इव स्वकीयप्रयोजनमिव परार्थः पुरुषभोगापवर्गप्रयोजनः भवतीति शेषः ।

महत्तत्व से लेकर पृथ्वी आदि पांच स्थूल भूतों तक की यह सृष्टि मात्र प्रकृति का कार्य है जो अनादिकाल से प्राप्त प्रत्येक पुरुष को मुक्ति देने के लिए उत्पन्न हुई है । प्रकृति का यह प्रयास (आरम्भ) यद्यपि (पर) पुरुष के हित साधन के लिए है तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि यह सब कुछ उसके अपने लिए है ।

'आरम्भते इति' की कर्म-व्युत्पत्ति से आरम्भ शब्द का अर्थ सर्ग अर्थात् सृष्टि है । 'इत्येषः' शब्द से सृष्टि के दोनों प्रकारों—तन्मात्रसर्ग और बुद्धिसर्ग का परामर्श होता है । इनका विवेचन ही इससे पूर्व की कारिका का विषय रहा है । 'प्रकृतिकृतः' पद का प्रयोग यहाँ विशेष रूप से किया गया है । महत् तत्त्व से लेकर पंचमहाभूतों तक की सृष्टि के विषय में नैय्यायिकों का मत है कि यह ईश्वरकृत है । वेदान्ती ब्रह्म को इसका उपादानकारण सिद्ध करता है तो चार्वाक् प्रभृति अनात्मवादी एवं अनीश्वरवादी चिन्तक सृष्टि को न तो किसी की कृति मानते हैं और न किसी ऐसे सिद्धान्त में विश्वास करते हैं जिसके अनुसार यह सृष्टि किसी अदृष्ट एव अज्ञात तत्त्व का विकार एवं परिणाम कही जाती है । सांख्यदर्शनकार इनमें से किसी भी पक्ष को स्वीकार न करते हुए यह कहना चाहते हैं कि महत्तत्व से लेकर सूक्ष्मस्थूलभूत पर्यन्त निखिल प्रपंच न तो ईश्वरकृत है न ब्रह्म से प्रोद्भूतः, न ही यह अनायास उद्भूत हुआ है, बल्कि यह सब प्रकृति का ही कार्य है ।

महदादि विशेषभूतपर्यन्तः में प्रयुक्त 'विशेष' पद लाक्षणिक है जिसका अर्थ स्थूल है । सूक्ष्मभूत तन्मात्राओं के लिए अविशेष पद का प्रयोग अड़तीसवीं कारिका में हुआ है । वहीं उनतालीसवीं कारिका में तीन प्रकार के विशेषों का उल्लेख हुआ है । जिनमें से एक प्रकार पंचमहाभूत भी है । माठरवृत्ति में विशेष के स्थान पर 'विषय' पाठ मिलता है जिससे अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता ।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि प्रकृति तो नित्य है तथा उसे नित्यपुरुष का सन्निधान भी प्राप्त है, फिर प्रकृति की निरन्तर प्रवृत्तिशीलता से सृष्टि निरन्तर बनी रहनी चाहिए तथा किसी की मुक्ति कभी नहीं होनी चाहिए। इस सन्देह को दूर करने के लिए ही कारिका में कहा है कि अव्यक्तावस्था से व्यक्तावस्था में आकर महदादि तत्त्वों के रूप में प्रकृति के परिणत होने का एक विशेष प्रयोजन है और वह है प्रत्येक पुरुष को मोक्षरूपी अपवर्ग प्रदान करना। पुरुष अनादिकाल से लिंगशरीर के द्वारा आविष्ट है। उसकी उससे मुक्ति तब तक नहीं हो सकती, जब तक वह उन संस्कारों को भोग न ले जिनसे लिंगशरीर अधिवासित है। प्रकृति का यह क्रिया-कलाप उस रसोइये के समान है जो भोजन बनाकर ही निवृत्त हो जाता है और उसका उपभोग दूसरे करते हैं।[1] सांख्यसूत्र के इस उदाहरण में एक दोष यह है कि रसोइया तो चेतन है तथा दूसरे के लिए भोजन बनाने में जीविका चलती है जो उसका अपना स्वार्थ है। अतएव गौडपाद ने घट का उदाहरण दिया है। जैसे घट जलादि आनयन का साधन होता हुआ व्यक्ति के द्वार फेंक दिये जाने पर उपयोग में नहीं आता, उसी प्रकार अचेतन प्रकृति है।[2] इस उदाहरण में भी एक दोष यह है कि अचेतन भी प्रकृति रजोगुण के कारण स्वतः सक्रिय है। अतः वह स्वयं को पुरुष के उपभोग के लिए समर्पित करती है। कुम्भ उपभोग का विषय तो अवश्य है किन्तु वह स्वतः सक्रिय नहीं। वस्तुतः यहीं पर आकर सांख्य-सिद्धान्त कुछ विचलित हो गया है ऐसा प्रतीत होता है। कारिकाकार का यह कथन कि प्रकृति के द्वारा सृष्टि का प्रयास यद्यपि परार्थ अर्थात् पुरुष के लिए होता है, तथापि पुरुष के भोग के साधनों को बड़ी तन्मयता और व्यवस्था से जुटाने के कारण ऐसा लगता है कि प्रकृति के इस क्रिया-कलाप में उसका भी अपना कुछ न कुछ स्वार्थ अवश्य है जो वास्तव में है नहीं। यहाँ पर स्वार्थ और परार्थ के विवेक की क्षमता प्रकृति में कैसे हो आती है? यह रहस्यमय ही है। यहीं नहीं, निष्क्रिय होते हुए भी पुरुष प्रकृति का उपभोग करता है तथा अन्त में वह विरक्त भी हो जाता है। यह सब उक्तियां पुरुष को भी निष्क्रिय नहीं रहने देतीं। या तो यह मानना पड़ेगा

---

१. विविक्तबोधात्सृष्टिनिवृत्तिः प्रधानस्य सूदवत्पाके। सां० सू० ३।३

२. तथा चोक्तम्-कुम्भवत्प्रधानं पुरुषार्थं कृत्वा निवर्तते। गौडपादभाष्य।

कि प्रकृति के सूक्ष्मतम विकार बुद्धितत्त्व के पुरुष से सन्निहित होने से दोनों में दोनों के धर्म आरोपित ही नहीं होते, वस्तुतः आ जाते हैं और प्रकृति सचेतन प्रतीत ही नहीं होती, हो भी जाती है तथा पुरुष भी वास्तव में सक्रिय हो जाता है, केवल समझने ही नहीं लगता। किन्तु ऐसा मानने पर अन्य अनेक ऐसे विसम्वाद खड़े होंगे जिनका समाधान करना और भी जटिल हो जायगा। सम्भवतः इसीलिए सांख्य सिद्धान्त के संस्थापक 'स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः' कह कर रह गये। चन्द्रिकाकार ने इस प्रसंग में योग का एक सूत्र उद्धृत किया है जिसका अर्थ है कि दृश्यजगत् का स्वरूप द्रष्टा के लिए ही है।[1] प्रति पुरुष का विमोक्ष हो जाने से प्रकृति का भी लय होता है। अनादि काल से बद्ध पुरुषों को मोक्ष देते देते अब तक प्रकृति को भी विलीन हो जाना चाहिए था। किन्तु पुरुष को मोक्ष देकर प्रकृति विलीन नहीं होती अपितु वही प्रकृति दूसरे बद्ध पुरुष के साथ संलग्न हो जाती है। इस अभिप्राय की अभिव्यक्ति योग-शास्त्र में हुई है।[2] ॥ ५६ ॥

स्वार्थ या परार्थ के प्रति कोई सचेतन प्राणी ही प्रवृत्त होता है। यह सम्भव है कि अत्यन्त उदार व्यक्ति दया, करुणा या उपकार की भावना से प्रेरित होकर सर्वथा निःस्वार्थ भाव से किसी दूसरे के लिये बहुत कुछ करे, किन्तु जिसमें स्वार्थ और परार्थ का विवेक है वह अचेतन नहीं हो सकता। इस प्रकार प्रकृति की अचेतनता उसकी ही पुरुष के भोगापवर्ग-साधन की प्रवृत्ति से बाधित हो जाती है। इस शंका के समाधानार्थ अगली कारिका प्रस्तुत है—

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य ।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥५७॥

यथा अज्ञस्य अचेतनस्य अपि क्षीरस्य दुग्धस्य वत्सविवृद्धिनिमित्तं शिशु-पोषणकृते अथवा वत्सस्य विवृद्धिः पुष्टिस्तस्याः निमित्त तदर्थं (स्वतः) प्रवृत्तिः प्रस्रावः भवति तथैव प्रधानस्य मूलप्रकृतेः पुरुषविमोक्षनिमित्तं पुरुषाणां विमोक्ष एवं निमितं यथा स्यात्तथा बद्धजीवानां मुक्तिप्रदानार्थं स्वतः प्रवृत्तिर्भवति।

---

१. तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा। योगसूत्र २।२१

२. कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्। यो० सू० २।२२

जिस प्रकार बछड़े के पोषण के लिए अचेतन भी दूध (माता के स्तनों में) स्वतः आ जाता है, इसी प्रकार (प्रत्येक बद्ध) पुरुष को मुक्ति देने के लिए जड़ प्रकृति की प्रवृत्ति भी स्वतः हो जाती है।

पूर्वपक्ष के रूप में यह जो कहा गया था कि चेतन से अधिष्ठित अचेतन में ही प्रवृत्ति सम्भव है, जैसे किसी चेतन अधिष्ठाता के होने से ही रथ आदि गमनागमन में समर्थ हो पाते हैं, अन्यथा वे स्वतः प्रवृत्तिशून्य हैं।[1] इस व्याप्ति में साध्यव्यभिचार दोष है क्योंकि इसको हम विपरीत प्रकार से भी उपस्थापित कर सकते हैं। यथा चेतन से अधिष्ठित न होने पर भी अचेतन प्रवृत्तियुक्त होता है जैसे माता के स्तनों में दूध।[2] यहाँ पूर्वपक्षी यदि यह कहता है कि माता के स्तन में अचेतन दुग्ध की प्रवृत्ति ईश्वरकृत है न कि स्वतः, तो प्रश्न यह उठता है कि ईश्वर ऐसा क्यों करता है? क्या वह स्वार्थ से या करुणा भाव से द्रवित होकर ऐसा करता है? ईश्वर के स्वार्थवश प्रवर्तक होने की बात उचित नहीं प्रतीत होती। क्योंकि वह आप्तकाम कहा गया है।[3] यदि वह करुणावश ऐसा करता है तो 'कर्त्तुम्, अकर्त्तुम् अन्यथा कर्त्तुम्' समर्थ ईश्वर करुणा से प्रेरित होकर सुखी जन्तुओं को ही क्यों नहीं पैदा करता? अथवा सृष्टि होने के पहले जीव स्थूल शरीर नहीं धारण करते। फलतः इन्द्रियादि के अभाव में वे दुःख का भी अनुभव नहीं कर पाते। ऐसी स्थिति में ईश्वर किसके दुःख से प्रेरित हो करुणा करेगा? इसका एक ही समाधान है और वह यह कि ईश्वर प्राणियों को उन्हीं के किये हुए कर्मों के अनुसार तत्तकार्यों में प्रवृत्त कराता है। जन्मजन्मान्तर में किए गये अचेतन कर्म में यदि फल देने की प्रवृत्ति सम्भाव्य है तो अचेतन प्रकृति के भी जिसमें क्रियाशीलता स्वतः विद्यमान है, चेतनपुरुष के सन्निधान से, स्वतः प्रवृत्त होने में क्या दोष है? इस प्रकार अचेतन प्रकृति के भी स्वतः प्रवृत्त होने की बात युक्तियुक्त ही है। यहां पर क्षीर की प्रवृत्ति का क्या अभिप्राय है, यह ठीक-ठीक पता नहीं चलता। गौडपाद और माठर इसको गाय के द्वारा खाये हुए घास आदि तथा पीये हुए पानी का दूध रूप में बनाया अर्थ समझते हैं।[4] इन्होंने इस उपमा का दोहरा प्रयोजन

१. चेतनानधिष्ठितमचेतनमप्रवृत्तिशून्यम्, अचेतनत्वाद्रथादिवत्। सुबोधिनी।
२. चेतनानधिष्ठितमचेतनमपि प्रवृत्तियुक्तम् अचेतनत्वात्क्षीरवत्। सुबोधिनी।
३. न मां कर्माणि लिम्पन्ति नमे कर्मफलेस्पृहा। गीता ४।१४
४. यथा तृणोदकं गवा भक्षितं क्षीरभावेन परिणम्य वत्सविवृद्धिं करोति। गौड़पादभाष्य।

बताया है। कारिका में यद्यपि क्षीर और प्रकृति के प्रवृत्त होने का ही विधान है, तथापि उनकी निवृत्ति का अर्थ भी इनसे ही निकल जाता है। जैसे बछड़े के लिए आवश्यक होने पर गाय का खाया-पिया हुआ दूध के रूप में परिणत होने लगता है। आवश्यकता की पूर्ति हो जाने पर दूध बनने की प्रक्रिया भी काम नहीं करती। अर्थात् जिस प्रकार बछड़े के पोषण के लिए दूध बनने लगता है और पोषण हो जाने पर उसका बनना स्वतः बन्द हो जाता है, उसी प्रकार प्रकृति पुरुष के भोग के लिए स्वतः प्रवृत्त होती है, और भोगपूर्ण हो जाने पर निवृत्त भी स्वतः ही हो जाती है। गौडपाद[1] और जयमंगलाकार[2] ने इस दृष्टान्त का दोनों अर्थ लिया है जबकि वाचस्पति[3] ने इसका केवल प्रवृत्तिपरक अर्थ किया है। सांख्य सूत्र में भी क्षीर का ही उदाहरण दिया गया है।[4] कारिका के पूर्वार्द्ध में उक्त 'अज्ञ' पद क्षीर तथा प्रधान दोनों का विशेषण है।

इस प्रकार अचेतन प्रकृति के प्रवृत्त होने की बात युक्ति एवं तर्कविरुद्ध नहीं है। वस्तुस्थिति तो यह है कि रजोगुणशालिनी होने से क्रियाशीलता उसका नित्यधर्म है। अतः सृष्टि के रूप में प्रवृत्त होना उसका स्वभाव है। उसकी इस प्रवृत्ति से बद्ध-पुरुष का भोग और अपवर्ग रूप प्रयोजन स्वतः सिद्ध हो जाता है। प्रकृति में उसे सम्पादित करने की इच्छा या विवेक हो ऐसी बात नहीं। भावरूप संस्कारों का स्थूल शरीर के द्वारा फलभोग यदि पुरुष विवेक-पूर्वक करता है, तो उससे पुनः संस्कार उत्पन्न नहीं होते। फलतः उसके द्वारा उपभोग भी नहीं हो पाता, यही प्रकृति की निवृत्ति है ॥ ५७ ॥

पूर्वकारिका में कहा था कि प्रकृति का सर्जनात्मक अभियान उसके अपने किसी स्वार्थ-सिद्धि के लिए नहीं, वल्कि पुरुष के भोगापवर्ग रूप प्रयोजन की सिद्धि के लिए होता है। किन्तु ऐसा क्यों होता है? इसको एक दूसरे दृष्टान्त के द्वारा अगली कारिका में समझाते हैं :—

---

१. किन्त्वचेतनानामपि प्रवृत्तिर्दृष्टा, निवृत्तिश्च, यथा तृणोदकं गवा भक्षितं क्षीरभावेन परिणम्य वत्सविवृद्धिं करोति, पुष्टे च वत्से निवर्तते एवं पुरुषविमोक्षनिमित्तं प्रधानम्। गौडपाद।

२. यथातृणादिकमचेतनं गवाशितं पीतं च वत्सस्य पुष्टिः कर्त्तव्येति क्षीरात्मना परिणमति कृतार्थं च निवर्तते। जयमंगला।

३. यथा वत्सविवृद्ध्यर्थं क्षीरमचेतनं प्रवर्तते एवं प्रकृतिरचेतनापि पुरुषविमोक्षणाय प्रवर्तिष्यते। तत्त्वकौमुदी।

४. अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य। सां.सू. ३।५९

औत्सुक्यनिवृत्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः ।
पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम् ॥ ५८ ॥

यथा लोकः सामान्यो जनः, औत्सुक्यनिवृत्यर्थम् औत्सुक्यम् इच्छा तस्यनिवृत्तिः तोषः तदर्थं तत्कृते, क्रियासु तत्तद्कर्मसु प्रवर्तते संलग्नो भवति. तद्वत् तथैव, पुरुषस्य विमोक्षार्थम्, अव्यक्तं प्रधानं प्रवर्तते चेष्टते ।

जैसे लोग (किसी वस्तु के विषय में उत्पन्न) कुतूहल को दूर करने के लिए नाना प्रकार की चेष्टाएं करते हैं उसी प्रकार मूल-प्रकृति भी पुरुष की मुक्ति के लिए प्रवृत्त होती है ।

प्रकृतकारिका में यह बताने का प्रयास किया है कि पुरुष को भोग और अपवर्ग प्रदान करने की प्रकृति की यह क्रिया मूलप्रवृत्तिजन्य है । हमारी बहुत सी क्रियाएं मूल-प्रवृत्ति से संचारित होती हैं जिनमें से सबका कोई निश्चित उद्देश्य नहीं होता । किसी विषय को जानने की उत्सुकता भी हमारी एक मूल-प्रवृत्ति है । हम कितने ही आवश्यक कार्य से, कहीं चले जा रहे हों, पर बीच में कुछ लोगों की भीड़ को देखकर यह जानने के इच्छुक हो जाते हैं कि क्या बात है ? और हम निष्प्रयोजन उस भीड़ में घुसने का प्रयास करने लगते हैं अथवा लोगों से पूछने लगते हैं । कारिका के पूर्वार्द्ध में दिया गया दृष्टान्त एकपक्षीय है जो लोक पर ही घटता है और यह बताने के लिए है कि बहुत सी क्रियाएं केवल मूल-प्रवृत्ति वश हो जाती हैं । उनके पीछे कोई प्रयोजनविशिष्ट हेतु नहीं होता । प्रकृति में होनेवाली प्रवृत्ति और निवृत्तिरूपी क्रिया भी ऐसी ही है जिसे प्रकृति की मूल-प्रवृत्ति कह सकते हैं । प्रकृति की प्रवृत्ति उसकी या पुरुष की उत्सुकता-निवारण के लिए होती है ऐसा अर्थ यहां नहीं करना चाहिए क्योंकि अचेतन होने से प्रकृति में इस प्रकार की इच्छा का होना तो असम्भव है ही, सांख्यीय पुरुष भी इच्छा द्वेष प्रयत्न आदि धर्मों से सर्वथा रहित होता हैं । अतः सांख्यदर्शन का यह औत्सुक्य नैय्यायिकों की वह इच्छा नहीं है जो जीवात्मा का धर्म है ॥ ५८ ॥

अब तक के विवेचन से यह सिद्ध हो गया कि पुरुषार्थ ही प्रकृति का प्रवर्तक है । लेकिन एक बार प्रवृत्त प्रकृति की स्वतः निवृत्ति कैसे सम्भव है ? इसके लिए एक दूसरा दृष्टान्त अगली कारिका में प्रस्तुत करते हैं:—

रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात् ।
पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः ॥ ५९ ॥

यथा नर्तकी गणिका, रङ्गस्य नाट्यशालास्थपुरुषान् प्रति आत्मानं, दर्शयित्वा तस्मान्निवर्तते विरता भवति, तथैव प्रकृतिरपि पुरुषस्य पुरुषं प्रति, आत्मानं स्वस्वरूपं प्रकाश्य दर्शयित्वा विनिवर्तते विशेषेण निवृत्ता भवतीति।

जिस प्रकार नर्तकी सामाजिकों को अपना रूप (अभिनय) दिखाकर नृत्य से विरत हो जाती है, उसी प्रकार प्रकृति पुरुष के समक्ष अपने को प्रकाशित कर (सृष्टि से) निवृत्त हो जाती है।

पुरुष के सन्निधान से सृष्टि का विकास होता है जो कि पुरुष का प्रयोजन हो सकता है क्योंकि विकसित सृष्टि में ही स्थूल शरीर के द्वारा अनादिकाल से प्राप्त संस्कारों का भोग सम्भव है। किन्तु सृष्टि का विलय पुरुष के लिए किस प्रकार उपयोगी हो सकता है? उसी के निरूपण के लिए नर्तकी का दृष्टान्त दिया गया है। नर्तकी प्रकृति है और नृत्य ही उसके द्वारा संपादित सृष्टि। यदि नृत्य निरन्तर चलता रहे तो पुरुष की मुक्ति सम्भव नहीं। वस्तुतः प्रकृति का यह नृत्य कभी समाप्त नहीं होता। नये-नये सामाजिक आते हैं और वही नृत्य उनके सामने प्रस्तुत होता रहता है। विरति केवल उन्हीं सामाजिकों के प्रति होती है जो नृत्य देख चुके होते हैं। प्रकृति की सृष्टि-प्रक्रिया भी उस पुरुष के लिए नहीं होती, जो उसका उपभोग कर उसके और अपने अन्तर को समझ लेता है। 'रंग' शब्द का अर्थ होता है नाट्यशाला, किन्तु वह प्रेक्षकों के लिए भी प्रयुक्त होता है। स्थान से उसका उपयोग करने वालों का ग्रहण होने से रंगपद का अर्थ प्रेक्षक सामाजिक है। 'दर्शयित्वा' और 'प्रकाश्य' कृदन्त के योग से रंगस्य और पुरुषस्य में कर्म में षष्ठी विहित है। 'प्रकाश्य' का अर्थ पुरुष से अपने भेद को प्रकाशित करना है। इस प्रकार प्रवृत्ति के समान ही निवृत्ति भी प्रकृति की मूलप्रवृत्ति है ॥५९॥

पुरुष को भोगापवर्ग प्रदान करने में प्रकृति का कोई स्वार्थ न हो, यह हो सकता है किन्तु भोगापवर्ग की प्राप्ति से प्रसन्न होकर पुरुष स्वयं उसके किसी स्वार्थसाधन में प्रवृत्त हो सकता है और इस प्रकार प्रकृति का कोई-न-कोई उपकार अवश्य हो जाता होगा। इस सम्भावना के निराकरण के लिए ही अगली कारिका की रचना की गई है :—

नानाविधैरुपायैरुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः।
गुणवत्यगुणस्य सतस्तस्यार्थमपार्थकं चरति ॥६०॥

गुणवती सत्त्वादिगुणशालिनी प्रकृतिः, उपकारिणी सती, अगुणस्य सत्त्वादिगुणरहितस्य अतएव अनुपकारिणः प्रत्युपकारासमर्थस्य, तस्य पुंसः पुरुषस्य

अर्थं प्रयोजनं, नानाविधैः महदहंकारेन्द्रियमनःप्रभृतिभिः धर्माधर्मादिभिः शब्दस्पर्शादिभिर्वा उपायैः अपार्थकम् अगगतः अर्थः स्वकीयं प्रयोजनं यस्मात्तत्स्वप्रयोजन-शून्यमेव चरति आचरति सम्पादयति इत्यर्थः ॥

सत्त्वादिगुणों एवं परोपकार की भावना से युक्त होकर भी प्रकृति विना किसी स्वार्थ के उस पुरुष के (भोग और अपवर्ग रूपी) प्रयोजन को सम्पादित करती है जो निर्गुण है एवं उपकार की भावना से सर्वथा रहित है।

यहां पुरुष से प्रत्युपकार के रूप में कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि दयादाक्षिण्यादि के साथ देने लायक कुछ वस्तु भी होनी चाहिए। तभी कोई व्यक्ति किसी का उपकार कर सकता है। किसी को देने लायक कोई भी वस्तु रजोगुण का परिणाम है तथा दयादाक्षिण्य आदि सत्त्वगुण के धर्म हैं। चूंकि पुरुष इन गुणों से सर्वथा रहित है, अतः न तो उसके पास देने के लिए भोग-विलास लायक कोई सामग्री ही है और न वह भावना ही जो उसे परोपकार के लिए प्रेरित करे। निष्क्रिय होने से वह कुछ कर भी नहीं सकता। अतः प्रकृति को प्रत्युपकार के रूप में कुछ भी मिलने की सम्भावना नहीं। इस प्रकार पुरुष के भोग और अपवर्गरूपी सिद्धि के लिए किया गया उसका सर्जनात्मक अभियान विशुद्ध रूप से परोपकार अर्थात् पुरुष के लिए ही है। चूंकि प्रकृति में सत्त्वादि सभी गुण विद्यमान हैं अतः उसके पास पुरुष का उपकार करने का साधन भी है और दयादाक्षिण्य आदि भावना भी। उपाय का अर्थ जयमङ्गलाकार ने बुद्धि के 'आठ भाव' किया है जिनमें से धर्म, विराग, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान तथा अनैश्वर्य नाम सात भावों से पुरुष को भोग एवं ज्ञान नामक भाव से अपवर्ग की सिद्धि होती है।[1] माठरवृत्ति में 'उपायैः' का अर्थ 'शब्दस्पर्शादिभिः' किया है। उपकार किसी विषय से किया जाता है।[2] वस्तुतः उपायों से यहां विषय एवं उनके ग्राहक उपकरण दोनों का ग्रहण होता है। इस कारिका में प्रकृति की उपमा सर्वगुणसम्पन्न दासी से दी गई है जो नर्तकी तथा क्षीर आदि पूर्वकारिकाओं में प्रदत्त उपमानों से विलक्षण है। माठरवृत्ति में शिखि-

---

१. पूर्वं सप्तभिर्धर्मादिभिरुपायैस्त्रिषु विषयेषु आत्मानं प्रकाशयति अनुपकारिणी, तदनन्तरमेकेन ज्ञानाख्येन कैवल्यं कुर्वाणोपकारिणी भवति। जयमङ्गला।

२. नानाविधैरुपायैः शब्दस्पर्शादिभिरुपकर्तुं शीलमस्याः सा तथोक्ता माठरवृत्ति।

पिच्छ चित्र, न्याय का उदाहरण दिया है जिसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार मोर पंख के एक ही ओर चित्र बना रहता है, किन्तु उसका दूसरा भाग भी उसकी झलक से चित्रित प्रतीत होता है। चित्र के एक ओर होते हुए भी पूरी पूंछ चित्रित लगती है।[1]॥६०॥

पूर्व कारिका से पहले वाली कारिका में प्रकृति की उपमा नर्तकी से दी गई है। लेकिन नर्तकी तो नृत्य से एकबार विरत होकर भी प्रेक्षकों को अपना नृत्य कौशल पुनः पुनः दिखाती है। क्या प्रकृति भी उसी प्रकार पुरुष को अपना स्वरूप दिखा निवृत्त होकर पुनः प्रवृत्त होती है? नहीं तो क्यों? इसका उत्तर ही अगली कारिका में देते हैं—

प्रकृतेः सुकुमारतरं न किंचिदस्तीति मे मतिर्भवति।
या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य॥६१॥

प्रकृतेः प्रधानात् अधिकं सुकुमारमिति सुकुमारतरम् अधिक कोमलम् इति यावत् अन्यद् किंचिद् वस्तु न अस्ति इति मे ग्रंथकारस्य (पुरुषस्य वा) मतिर्भवति मतम् अस्ति, या प्रकृतिः पुरुषेण दृष्टा अस्मि साक्षात्कृता अस्मि इति बुद्ध्या, पुरुषस्य दर्शनं पुनर्न उपैति न प्राप्नोति तस्य विषयभूता न भवतीत्यर्थः।

प्रकृति से बढ़कर अधिक सुकुमार कोई अन्य वस्तु नहीं है, यह मेरा (ग्रंथकार या पुरुष का) मत है जो यह समझ कर कि मैं देख ली गई हूं फिर पुरुष का दर्शन नहीं प्राप्त करती (उसके सामने नहीं आती)।

प्रकृति की सुकुमारता का अर्थ परपुरुष के दर्शन को सहन न करना है। सूर्य के भी सामने न पड़ने वाली कुलवधू अनवधानता से किसी पर-पुरुष के द्वारा उस समय देख ली जाती है जब उसका आंचल उसके उरोजों से नीचे खिसक गया हो तो वह बड़ी सावधानी से उस पुरुष की दृष्टि को बचाकर निकल जाती है, वही दशा इस प्रकृति की है।

इस कारिका की व्याख्या में एक महत्वपूर्ण विवाद यह है कि 'मे मतिर्भवति' के 'मे' से किसका ग्रहण होता है। क्या यह पुरुष है? जो प्रकृति की सुकुमारता का अनुभव करता है, अथवा प्रकृति स्वयं अपनी सुकुमारता का

---

१. तत्प्रधानपुरुषयोः शिखिपिच्छवदेकपक्षचित्रन्यायः। माठरवृत्ति।

निरूपण करती है। माठर ने 'मे' को पुरुष से सम्बन्धित कर इसे पुरुष का अनुभव कहा है।[1] जयमंगलाकार इसे प्रकृति का ही स्वविषयक अनुभव मानते हैं।[2] वाचस्पति और गौडपाद ने इसे ग्रंथकार की उक्ति मानी है। 'सुकुमारता' पद के भी अनेक प्रकार से अर्थ किये गये हैं। जयमंगलाकार ने इसे सूक्ष्मता कहा है[3] माठर और वाचस्पति इसे अतिपेशलता तथा गौड़पाद ने सुकुमारता का अर्थ सुभोग्यतर किया है।

'पुनर्नदर्शनमुपैति पुरुषस्य' की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र ने जो कहा है कि कुलवधू पर-पुरुष के द्वारा देख लिये जाने पर सावधान हो जाती है कि दूसरे पुरुष उसे न देख लें, वह इसलिए ठीक नहीं है कि प्रकृति के पक्ष में ऐसा नहीं होता। जिस पुरुष के द्वारा वह देखी जाती है, उसी से पुनः देखे जाने से बचती है न कि दूसरे पुरुष से। गौडपाद तथा जयमंगलाकार की व्याख्या कि 'जिस पुरुष से देखी जाती है उसी के पुनः दर्शन का परिहार होता न कि अन्य किसी पुरुष के दर्शन का[4] दोनों पक्ष में ठीक बैठती है ॥६१॥

सृष्टि की उत्पत्ति और विकास के निरूपण में बार-बार यह बात दुहराई गई है कि तन्मात्र और प्रत्यय रूप उभयविध सृष्टि पुरुष के भोग एवं अपवर्गरूप प्रयोजन की सिद्धि के लिए हुई है। तो क्या सचमुच पुरुष बद्ध है और वह मुक्त होता है? यदि यह सही है तो वह निर्गुण कैसे रह सकता है? क्योंकि बँधना और मुक्त होना भी तो गुण ही है। इसी प्रकार नाना प्रकार की योनियों और लोकलोकान्तर में संसरण करते हुए पुरुष का जन्म और मृत्यु होना भी उसका धर्म ही है। अग्रिम कारिका इसी विषय का विवेचन करती है।

---

१. एव पुरुषस्य परमात्मनोऽपि मतिरुत्पन्ना। नास्तीति मे मतिर्भवति। अथेति पुरुष आत्मानं प्रति ब्रवीहि। माठरवृत्ति।

२. ज्ञानावस्थायां प्रकृतेर्मतिर्भवति 'मम सूक्ष्मतरं न किंचिदपरमस्ति यद्-द्रष्टव्यं पुरुषेण'। जयमङ्गला।

३. प्राग्व्यक्तात्मना प्रकाशयति नत्वव्यक्तात्मनापि, येन ज्ञानावस्थायां प्रकृतेर्मतिर्भवति मम सूक्ष्मतरं न किंचिदपरमस्ति यद्द्रष्टव्यं पुरुषेण। जयमङ्गला।

४. (क) अहमनेन पुरुषेण दृष्टास्मि इत्यस्य पुंसः पुनर्दर्शनं नोपैति। गौडपादभाष्य।

(ख) दृष्टाहमनेनेति न पुनर्दर्शनमुपैति पुरुषस्य। जयमङ्गला।

तस्मान्न बध्यतेऽसौ[1] न मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥ ६२ ॥

यतः पुरुषः अगुणः अपरिणामी, तस्मात् असौ न बध्यते बद्धो न भवति, न संसरति संसारं न लभते, नापि मुच्यते मुक्तोऽपि न भवति, अपितु, नानाश्रया अनेके पुरुषाः आश्रयाः आलम्बनानि यस्याः एवम्भूता प्रकृतिः एव बध्यते बद्धा भवति, संसरति संसारं लभते, मुक्ता च भवति ।

(चूंकि पुरुष निर्गुण और अपरिणामी है) इसलिए वह वस्तुतः न बंधता है, न संसरण करता है और न मुक्त होता है अपितु प्रकृति ही (सूक्ष्म शरीर के रूप में) असंख्य पुरुषों के आश्रय से बंधती है, संसरण करती है और मुक्त होती है ।

सांख्य-शास्त्र को यही अभीष्ट है कि पुरुष गुण और परिणाम से सर्वथा रहित है, अतः बन्धन, संसरण और मोक्ष वस्तुतः उसका नहीं होता, अपितु प्रकृति के ही सूक्ष्म अंश अन्तर्बाह्यकरणों से विनिर्मित लिङ्ग अर्थात् सूक्ष्मशरीर का होता है जो बुद्धि के धर्म, अधर्म आदि भावों से संस्कारित होकर बंधते हैं, लोकलोकान्तर में संसरण करते हैं तथा अन्त में संस्कारों का भोग समाप्त हो जाने पर भंग हो जाते हैं । पुरुष के ऊपर तो इनका अध्यारोप हो जाता है । इनके द्वारा सम्पादित क्रियाकलापों के फल का भागी पुरुष उसी प्रकार हो जाता है, जिस प्रकार वास्तविक रूप से युद्ध दोनों पक्ष की सेनाओं में होता है किन्तु सैनिकों के जय या पराजय का श्रेय शासक को ही मिलता है । वह भी अपने ही को विजयी या पराजित समझता है । यह दृष्टान्त वाचस्पति मिश्र ने अपनी टीका में दिया है जो मूलतः योगभाष्य का है ।[2]

वाचस्पति ने कारिका के पूर्वार्द्ध में उक्त 'बध्यते', 'मुच्यते' और 'संसरति' को बध्यते, संसरति और मुच्यते के क्रम में व्यवस्थित कर व्याख्या की है । क्योंकि बंधन के बाद संसरण होता है तदनन्तर ही मुक्ति । जयमंगला-कार ने संसरण को पहले माना है अनन्तर बन्धन और मुक्ति, जो अपेक्षाकृत

१. नापि । इति पाठान्तरम् । माठरवृत्ति ।
२. यथा जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते । यो० सू० १।२४ पर व्यासभाष्य ।

अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है। गौडपाद ने कारिका के क्रम को भंग न कर ज्यों का त्यों बध्यते, मुच्यते और संसरति रहने दिया है।

गौडपाद ने 'नानाश्रया' का अर्थ देवमानुपतिर्यग्योन्याश्रया किया है।[1] जयमङ्गलाकार ने भाव, लिंग तथा भूतों की सृष्टि को ही आश्रय माना है जो प्रकृति और पुरुष के समान ही नाना प्रकार के होते हैं।[2] किन्तु वाचस्पति मिश्र ने पुरुष को ही वह आश्रय माना है[3] ॥६२॥

उक्त विवेचन से यह सिद्ध हो गया कि संसार, बन्ध, और मोक्ष प्रकृति में ही होते हैं पुरुष पर इनका आरोप होता है। इन तीनों प्रकार के बन्धनों की जो वस्तुतः प्रकृति के हैं, पुरुष में आरोप जिनके द्वारा होता है, उनका निरूपण अगली कारिका में करते हैं :

रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः ।
सैव च पुरुषार्थम्प्रति विमोचयत्येकरूपेण ॥ ६३ ॥

प्रकृतिः प्रधान, सप्तभिः धर्माधर्माज्ञानवैराग्यावैराग्यैश्वर्यानैश्वर्यात्मकैः, रूपैः भावैः आत्मना स्वेन एव, आत्मानं एव बध्नाति सैव च प्रकृतिरेव पुनः पुरुषार्थं प्रति पुरुषस्य भोगापवर्गमुद्दिश्य, ज्ञानाख्येन एकरूपेण एकेनैव भावेन आत्मानं विमोचयति निवर्तयति इत्यर्थः।

प्रकृति अपने धर्म, अधर्म, अज्ञान, विराग, अविराग, ऐश्वर्य, अनैश्वर्य नामक बुद्धि के सात भावों के द्वारा अपने से ही स्वयं को बांध लेती है तथा अपने ज्ञान नामक एक भाव से पुरुष के लिए अपने को निवृत्त कर लेती है।

बुद्धि के धर्म, अधर्म आदि आठ भावों का निरूपण तेईसवीं कारिका में हुआ है। प्रकृतकारिका में प्रयुक्त 'रूप' शब्द से उनका ही ग्रहण होता है। इन आठभावों में केवल एक ज्ञान नामक भाव विवेकख्याति के द्वारा मुक्ति प्रदान करता है शेष सात वंधन के कारक हैं। यह बन्धन वस्तुतः पुरुष का न

---

१. यस्मात्कारणात्प्रकृतिरेव नानाश्रया देवमानुषतिर्यग्योन्याश्रया बुद्ध्यहंकारतन्मात्रेन्द्रियभूतस्वरूपेण बध्यते मुच्यते संसरति चेति। गौडपादभाष्य।

२. तत्राश्रयाः भावलिङ्गभूताः सर्गाः ते प्रकृतिपुरुषवन्नानाविधाः। जयमङ्गला।

३. तथा जयपराजयौ भृत्यगतावपि स्वामिन्युपचर्यते। तदाश्रयभृत्यानां तद्भागित्वाद्। सां० त० कौमुदी।

होकर सूक्ष्मशरीर के रूप में प्रकृति का ही होता है। पुरुष को उसके वास्तविक स्वरूप कैवल्य की प्रतीति मात्रज्ञान से होती है जो प्रकृति का ही एक भाव है। इसी अर्थ में प्रकृति पुरुष का उपकार करती है और पुरुष के ऊपर आरोपित अनादिकाल से चले आ रहे अपने बन्धन का ज्ञान पुरुष को कराकर प्रकृति स्वयं को ही समेट लेती है। यही पुरुष की मुक्ति है जो वस्तुतः पुरुष की नहीं अपितु प्रकृति की ही मुक्ति है। ॥६३॥

सांख्य-शास्त्र का उद्देश्य पच्चीस तत्त्वों का विवेचन कर प्रकृति और पुरुष के भेद को बताना है। अब तक की कारिकाओं से इनका विवेचन हो चुका। अनन्तर इस सम्बन्ध में सांख्य-शास्त्र के अध्येता को यह जिज्ञासा होती है कि उक्त प्रकार से तत्त्वज्ञान हो जाने पर फिर क्या होता है? इसका उत्तर अगली कारिका में देते हैं :—

एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद् विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥ ६४ ॥

एवं इत्थं, तत्त्वाभ्यासात् पंचविंशतितत्त्वानां अभ्यसनमभ्यासस्तस्मात् तत्त्वविषयकज्ञानाभ्यासाद् अविपर्ययात् संशयभ्रमराहित्यात्, विशुद्धं प्रमात्मकं, केवलं मिथ्याज्ञानेन रहितं, अपरिशेषम् नास्ति परिशेषो ज्ञातव्यो विषयो यस्मिन् तादृशं सम्पूर्णमित्यर्थः एवंभूतं नास्मि अहं क्रियाशून्योऽस्मि, नाहमकर्तास्मि, न मे स्वामिरहितोऽस्मि, इत्यात्मकं ज्ञानमुत्पद्यते ॥६४॥

उक्त पच्चीस तत्त्वों के निरन्तर अभ्यास से 'मैं (सूक्ष्मशरीर) नहीं हूं' या 'भौतिक शरीर में नहीं रहता हूं' क्योंकि 'यह मेरा नहीं (अपितु प्रकृति का) है।' 'मैं (प्रकृति भी) नहीं हूं'—इस प्रकार का सम्यक् ज्ञान उत्पन्न होता है जो संशयरहित होने से विशुद्ध एवं केवल अर्थात् एक होता है।

'तत्त्वाभ्यास' शब्द से पच्चीस तत्त्वों का ज्ञानमात्र अभिप्रेत है या जीवन में अनुष्ठान, इस विषय में टीकाकारों में मतभेद है। गौडपाद, जयमंगलाकार तथा माठर ने इसे पच्चीस तत्त्वों का आभ्यास माना है।[1] वाच-

---

१. (क) एवमुक्तेन क्रमेण पञ्चविंशतितत्त्वालोचनभ्यासादियं प्रकृतिरयं पुरुषः एतानि पञ्चतन्मात्रेन्द्रियमहाभूतानीति पुरुषस्य ज्ञानमुत्पद्यते। (गौडपादभाष्य).

(ख) तत्त्वानि पञ्चविंशति तेषां पुनः पुनः स्वरूपेणाभ्यसनमभ्यासः स्वरूपेणाभ्यासः। जयमङ्गला।

स्पति मिश्र एवं चन्द्रिकाकार ने इसे तत्त्वविषयक ज्ञानाभ्यास कहा है।[1]जो अन्ततोगत्वा 'प्रकृति और पुरुष के भिन्न-भिन्न होने के बोध में परिणत हो जाता है।

जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसके लिए कारिका में 'विशुद्ध' शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ है संशय और विपर्यय से रहित क्योंकि ज्ञान की संकीर्णता इन्हीं दोनों से होती है। इसीलिए कारिका में 'विशुद्धम्' के हेतु के रूप में पञ्चम्यन्त 'अविपर्ययात्' पद का प्रयोग किया गया है। विपर्यय पद का अर्थ होता है अज्ञान अर्थात् मिथ्याज्ञान। उभयकोटिक होने से संशय भी प्रकारान्तर से मिथ्याज्ञान ही है। क्योंकि सम्यक् ज्ञान मात्र एककोटिक होता है, इसलिए विपर्यय में ही संशय का भी अन्तर्भाव करके केवल 'अविपर्ययात्' कहा है जिसमें पंचमी विभक्ति का प्रयोग 'विशुद्धम्' के प्रति हेतुता व्यक्त करने के लिए हुआ है। इस प्रकार सम्यक्, मिथ्या और संशय; ज्ञान के तीनों प्रकारों में से मिथ्या और संशय का विपर्यय पद से निराकरण कर केवल सम्यक्-ज्ञान को ही यहां विशुद्ध कहा है। अभ्यास से उत्पन्न होने वाले तत्त्व-ज्ञान में मिथ्याज्ञान का संस्कार भी नहीं रहता। इसी भाव को प्रकट करने के लिए ज्ञान के विशेषण के लिए कारिका में 'केवल' पद का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ यह है कि विपर्यय ज्ञान के संस्कार से भी रहित। यद्यपि विपर्यय ज्ञान की वासना अनादि है तथापि तत्त्वविषय के साक्षात्कार से उत्पन्न तत्त्वज्ञान की वासना के द्वारा विपर्ययज्ञान की वासना का समुच्छेद हो जाता है क्योंकि तत्त्व-वस्तु की ओर पक्षपात ही बुद्धि का स्वभाव है।[2] इस प्रकार संशय और मिथ्याज्ञान से मिश्रित न होने से ही सांख्यीय तत्त्वज्ञान को यहां विशुद्ध कहा गया है। तथा विपर्यय ज्ञान की अनादिवासना से भी वह असंभिन्न अर्थात् सर्वथा विनिर्मुक्त

---

१. (क) उक्त प्रकारेण तत्त्वविषयज्ञानाभ्यासादादरनैरन्तर्यदीर्घकालसेवितात्तत्त्वपुरुषान्यतासाक्षात्कारिज्ञानमुत्पद्यते। यद्विषयश्चाभ्यासस्तद्विषयकमेव साक्षात्कारमुपजनयति, तत्त्वविषयश्चाभ्यास इति तत्त्वसाक्षात्कारं जनयति अत उक्तं विशुद्धमिति। तत्त्वकौमुदी।
(ख) उक्तप्रकारेण पुरुषगोचराभ्यासाद् पुनः पुनश्चिन्तनरूपान्निदिध्यासनादेव ॥ चन्द्रिका ॥

२. निरुपद्रवभूतार्थस्वभावस्य विपर्ययैः। न बाधो यत्नवत्त्वेऽपि बुद्धेस्तत्पक्षपाततः। (शून्यकारिका)

होता है। अतएव उसे 'केवल' अर्थात् अनादिकाल से चले आ रहे मिथ्या-ज्ञान की वासना से भी सर्वथा रहित कहा है, जिसका अभिप्राय 'मात्रपुरुष' है।

उस ज्ञान का स्वरूप क्या है ? इसका प्रतिपादन नास्मि, न मे, नाहम् से हुआ है। इन लघु वाक्यों के अर्थ प्रायः सभी मुख्य टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न किये हैं। गौडपाद के अनुसार 'नास्मि' का अर्थ है 'नाहमेव भवामि'। इसका तात्पर्य यह है कि सृष्टि के मन, बुद्धि, अहंकार आदि सभी तत्त्व उत्पन्न होते हैं जो तत्त्व कभी भी उत्पन्न नहीं होता, वह केवल पुरुष ही है। जयमंगलाकार के अनुसार 'नास्मि' का अर्थ है कि यह जो सूक्ष्म या स्थूल शरीर है, वह मैं नहीं हूं अपितु प्रकृति है।[1] माठर ने कहा है कि 'नास्मि तत्त्वानि'—मैं मन, बुद्धि, अहंकार आदि तत्त्वों में से नहीं हूं। वाचस्पति मिश्र ने 'चूंकि कृ, भू एवं अस् धातुएं किसी भी क्रिया के वाचक हैं अतः 'नास्मि' से आत्मा में क्रिया मात्र का निषेध ही अभिप्रेत है, ऐसा माना है, तथा 'नास्मि' का अर्थ 'मैं क्रियावान् नहीं हूं' यह किया है। इस प्रकार अध्यवसाय, अभिमान, संकल्प एवं आलोचन प्रभृति अहर्निश अनुभूयमान व्यापारों के आत्मा में होने का निषेध ही 'नास्मि' का अर्थ है।[2]

न मे की व्याख्या में गौडपाद का कहना है कि यह शरीर मेरा नहीं है क्योंकि मैं भिन्न हूं और मेरा शरीर भिन्न है।[3] जयमंगलाकार के अनुसार 'न ममेदम्' अपितु 'प्रकृतेः' यही 'न मे' का अर्थ है। माठर ने पहले के अनुसार ही 'न मे' का 'न मे तत्त्वानि' अर्थ किया है। वाचस्पति के अनुसार इसका अर्थ है—'न मे स्वामितास्ति' अर्थात् मैं किन्हीं क्रियाकलापों का स्वामी नहीं हूं।[4]

---

१. यदेतत्सूक्ष्मशरीरं भौतिकं च तस्मिन्नभवामि अपितु प्रकृतिः। जयमङ्गलाकार॥
२. 'नास्मि' इत्यात्मनि क्रियामात्रं निषेधति। तथा च अध्यवसायाभिमान-संकल्पालोचनानि चान्तराणि बाह्याश्च सर्वे व्यापारा आत्मनि प्रतिषिद्धानि बोद्धव्यानि। तत्त्वकौमुदी।
३. न मम शरीरं यतोऽहमन्यः, शरीरमन्यत्। गौडपादभाष्य।
४. कर्ता हि स्वामितां लभते. तस्मात्कुतः स्वाभाविकी स्वामितेत्यर्थः। तत्त्वकौमुदी।

तीसरा शब्द है 'नाहम्' जिसका अर्थ गौडपाद के अनुसार 'अहंकार-रहितोऽहम्' 'मैं अहंकार रहित हूं' है। जयमंगलाकार ने इससे अपने को प्रकृति न होने का बोध माना है—'नाहं प्रकृतिः'। माठर के अनुसार 'मैं महत् आदि तत्त्वों का नहीं हूं—'नाहं तत्त्वानाम्' तो वाचस्पति इसका अर्थ 'नाहं कर्ता' 'मैं कर्ता नहीं हूं' किया है।[1]

इन तीनों वाक्यों का अर्थ एक साथ मिलाकर देखने से इनके अर्थ-भेद का कारण स्वतः स्पष्ट हो जाता है। गौडपाद के अनुसार—नस्मि का अर्थ है कि "मुझे (पुरुष को) छोड़कर अन्य सभी तत्त्व उत्पन्न होते हैं। मैं ही केवल एक ऐसा हूं जो उत्पन्न नहीं होता। क्योंकि प्रधान अर्थात् अव्यक्त प्रकृति ही व्यक्त के रूप में जन्म लेती है। उत्पन्न तो यह शरीर होता है जो मेरा (पुरुष का) नहीं है क्योंकि मैं (पुरुष) शरीर से सर्वथा भिन्न हूं। यही नहीं मुझ में तो अहंकार भी नहीं होता कि 'मैं यह हूं।'

वाचस्पति मिश्र ने दूसरा पक्ष लिया है। उनका कहना है कि चूंकि 'कृ' 'भू' तथा 'अस्' सामान्य क्रियाएं हैं जिनका प्रयोग किसी भी क्रिया के लिए विहित है, इसलिए यहां 'नास्मि' से आत्मा पर आरोपित अध्यवसाय, अभिमान, संकल्प तथा आलोचनात्मक आन्तरिक तथा वचनादान आदि बाह्य सभी प्रकार की क्रियाओं का निषेध किया है।[2] इसके बाद इन्होंने कारिका का क्रम भंग कर 'न मे' से पूर्व 'नाहं' को लिया है। चूंकि आत्मा में किसी भी प्रकार की क्रिया सम्भव नहीं अतः उसे कर्ता नहीं कहा जा सकता। इस आशय को बताने के लिए ही 'कारिका' में 'नाहं' का प्रयोग हुआ है। यहां 'अहम्' को कर्ता अर्थ का वाचक माना है। क्योंकि 'मैं जानता हूं', 'मैं' आता, जाता, खाता, पीता हूं' तथा 'मैं ही किसी को कुछ देता हूं' आदि प्रयोगों में सर्वत्र कर्ता का ही परामर्श होता है। इसीलिए इन्द्रिय संघात रूप यह शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार अथवा बाह्य जगत् में माता पिता पुत्र आदि जो कुछ है, वह मेरा (पुरुष का) नहीं है। क्योंकि क्रिया और कर्म का स्वामी तो कोई कर्ता ही होता है जिसके वे कहे जाते हैं। पुरुष जब कर्ता ही नहीं है

---

१. अहमिति कर्तृपदम्, 'अहं जानामि, अहं जुहोमि, अहं ददे' इति सर्वत्र कर्तुः परामर्शात्। निष्क्रियत्वे च सर्वत्र कर्तृत्वाभावः। तत्त्वकौमुदी।

२. 'नास्मि' इत्यनेन आत्मनि क्रियामात्रं निषेधति। वाचस्पति मिश्र; तत्त्वकौमुदी।

तो स्वामी कैसे हो सकता है। इस अभिप्राय की अभिव्यक्ति 'न मे' से होती है। 'मे' में प्रयुक्त षष्ठी स्वस्वामिभाव रूप सम्बन्ध का बोध कराती है।

वाचस्पति ने इन तीनों वाक्यांशों का एक वैकल्पिक अर्थ भी दिया है। नास्मि का अर्थ 'मैं प्रसव धर्म युक्त प्रकृति नहीं' अपितु पुरुष हूं', प्रसवधर्मी न होने से कर्ता भी नहीं हो सकता—नाहम्। तथा कर्ता न होने से स्वामिता भी नहीं आती जिसकी अभिव्यक्ति 'न मे' से होती है।

जयमंगलाकार की भी अपनी विशेष व्याख्या है। उन्होंने कारिका के क्रम को भंग न करते हुए नास्मि का अर्थ किया है—सूक्ष्म या स्थूल शरीर में 'मैं नहीं' होता अपितु प्रकृति ही उन रूपों में उत्पन्न हुआ करती है। अतः दोनों ही प्रकार के ये शरीर मेरे अर्थात् मुझसे सम्बन्धित नहीं हैं—न मे। अपितु प्रकृति ही इनका भी आश्रय है। और यह स्पष्ट है कि मैं प्रकृति नहीं हूं—नाहम्।

इन सब तत्वों तथा प्रकृति एवं पुरुष के अन्तर को जान लेने के बाद भी सम्भव है कि कुछ जानना शेष हो जो अब तक जाना न गया हो और हो सकता है कि वह अज्ञान तत्त्व प्राणियों के बन्धन का कारण या रहस्य हो। इस सम्भावना का निराकरण करने के लिए ही कारिका में विशुद्ध और केवल के साथ ज्ञान का एक और विशेषण प्रयुक्त हुआ है—अपरिशेष। 'नास्ति किंचिदस्मिन् परिशिष्टं ज्ञातव्यम्' की व्युत्पत्ति से अपरिशेषम् का अर्थ यह है कि सांख्य-सिद्धान्त के अनुसार जो तत्त्व परिगणित हुए हैं, उनसे भिन्न कोई अन्य तत्त्व सम्भव ही नहीं है जिसका अज्ञान बन्धन का कारण हो सके ॥६४॥

पूर्वकारिका में तत्त्व-साक्षात्कार के स्वरूप एव प्रकार का निरूपण हुआ है। पर शास्त्र के अध्येता के मन में यह प्रश्न बना ही रहता है कि उक्त प्रकार के साक्षात्कार से क्या होता है? अर्थात् प्रकृति एव पुरुष की पूर्वावस्था में कोई परिवंतन होता है या नहीं? उसका उत्तर अग्रिम कारिका में देते हैं—

---

१. यदेतत् सूक्ष्मशरीरं भौतिकं च तस्मिन्न भवामि, अपितु प्रकृतिः। न मे इत्यादि न ममैवमपि तु प्रकृतेः। नाहमिति—नाप्यहं प्रकृतिरित्येवं तत्त्वाभ्यासात्। जयमङ्गला।

तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात्सप्तरूपविनिवृत्ताम् ।
प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः सुस्थः[1] ॥६५॥

तेन विशुद्धतत्त्वज्ञानेन कैवल्यबोधेनेतियावत्, यं प्रतिज्ञानमुत्पद्यते तं प्रति निवृत्तिः प्रसवः लिङ्गभूतसर्गाख्यो यस्या ताम्, अर्थवशात् विवेकज्ञानरूपसामर्थ्यात्, सप्तस्वरूपविनिवृत्ताम् धर्मादिसप्तभावेभ्यो निवृत्तां सतीं, प्रकृतिं प्रधानम्, पुरुषः प्रेक्षकवत् दर्शकवत्, निष्क्रियः सन् अवस्थितः वर्तमानः, सुस्थः बुद्धया संभिन्नः (स्वस्थः आत्मनि स्थितः न तु प्रकृतिस्थः) सन् पश्यति अवलोकयति ।

उस (तत्त्व-ज्ञान के होने) से मात्र सत्त्वबुद्धि से युक्त पुरुष प्रेक्षक की तरह तटस्थ भाव से देखता है कि (विवेक ज्ञान रूप) प्रयोजन के सिद्ध हो जाने से प्रकृति (धर्म आदि) सातों भावों से विमुक्त हो गई है और उसने (उसके प्रति) अपनी विकास की क्रिया को छोड़ दिया है ।

'तेन' इस सर्वनाम पद से पूर्वकारिका में उक्त 'ज्ञान' का परामर्श होता है, जो सांख्यशास्त्र-प्रोक्त तत्त्वों के निरन्तर के अभ्यास से उत्पन्न होता है । अतः इसका अर्थ 'तत्त्वसाक्षात्कारेण' है ।

निवृत्तप्रसवाम् – भोग तथा अपवर्ग ही प्रकृति के प्रसव हैं । जब तक विवेक नहीं हो जाता, भोग की क्रिया चलती रहती है । विवेक हो जाने पर अपवर्ग की सिद्धि हो जाती है और भोग समाप्त हो जाता है । विवेक-ज्ञान रूप प्रयोजन के हो जाने पर अपवर्ग रूपी प्रसव की भी अब पुनः अपेक्षा नहीं होती । सप्तरूपविनिवृत्ताम् —बुद्धि के आठ भाव होते हैं जिन्हें रूप भी कहते हैं । ये हैं – धर्म, ज्ञान, विराग, ऐश्वर्य, तथा इनके विपरीत अधर्म, अज्ञान, अविराग, अनैश्वर्य । इनमें से एक 'ज्ञान' का निरूपण ऊपर किया गया है जिससे अपवर्ग की सिद्धि होती है । शेष सात भोग के साधन हैं । ये सातों ही विवेक ज्ञान हो जाने पर नहीं होते । कारण की निवृत्ति हो जाने से ही इनकी निवृत्ति होती है ।

अवस्थितः—से पुरुष की निष्क्रियता विवक्षित है । जैसे रंगमंच का प्रेक्षक नर्तकी को ही नृत्य में प्रवृत्त तथा उससे निवृत्त होते देखता है—उसी प्रकार पुरुष प्रकृति को सृष्टि में प्रवृत्त तथा अन्त में उसको समेटते हुए देखता है ।[2]

---

१. गौडपाद-स्वस्थः, माठर-संमतश्च, वा-स्वच्छः, वि० सुस्थः, इति पाठान्तराणि ।

२. यथा प्रेक्षकः प्रवर्तितनृत्तामुपसंहृतनृत्तां च नर्तकीं पश्यतियते तथा पुरुषोऽपि प्रवर्तितसर्गामुपसंहृतसर्गां चेति । जयमङ्गला ।

सुस्थः—प्रेक्षक के समान अवस्थित पद से पुरुष की निष्क्रियता तो सिद्ध हो गई। पर इसी कारिका में उक्त 'प्रकृति पश्यति' के साथ इसका विरोध भी तो हो जाता है। क्योंकि जो देखता है, क्या वह सचमुच निष्क्रिय है ? देखना भी एक क्रिया है। उसके सम्पन्न होते हुए पुरुष को निष्क्रिय कैसे कहा जा सकता है ? इसका समाधान यह है कि उस समय बुद्धि के रज और तम नामक गुणों से रहित केवल सत्त्वगुणोपेत बुद्धि से छाया के रूप में उसका यत्किंचित् संभेद (सम्पर्क) बना रहता है।[1] इसी भाव की अभिव्यक्ति सु=सात्त्विक बुद्धि से स्थित (सुस्थ) पद से होती है। गौडपाद और जयमंगलाकार दोनों के यहां 'स्वस्थः' पाठ माना है और उसका अर्थ अपने में स्थित किया है।[2]

पूर्वकारिका की उक्ति कि 'विशुद्ध ज्ञान उत्पन्न होता है,' विचारणीय है। क्योंकि ज्ञान बुद्धि का धर्म होने से प्रकृति का तत्त्व है। वह पुरुष में कैसे उत्पन्न हो सकता है। उसका भी समाधान यही है कि रज एवं तम गुणों से असंस्पृष्ट मात्र सात्त्विक अंश में वर्तमान बुद्धि की छाया से संस्पृष्ट पुरुष को ज्ञान होता है। सात्त्विक बुद्धि का संस्पर्श ही, ज्ञान की क्रिया का साधक है। ज्ञान उत्पन्न करके वेदान्तियों की अखण्डाकाराकारिता चित्तवृत्ति के समान ही सत्त्वबुद्धि का यह संभेद भी स्वतः समाप्त हो जाता है ॥६५॥

पूर्वकारिका में प्रकृति को निवृत्तप्रसवा कहा है जिसका अर्थ यह है। विवेक हो जाने पर उस पुरुष के प्रति प्रकृति प्रसव बन्द कर देती है किन्तु इक्कीसवीं कारिका में सृष्टि का कारण प्रकृति और पुरुष का संयोग माना है तथा संयोग को 'योग्यता' कहा है। पुरुष का चैतन्य ही उसकी भोग करने की योग्यता है तथा प्रकृति की जड़ता ही उसकी भोग्य होने की योग्यता है। विवेक-ज्ञान होने पर भी प्रकृति और पुरुष के संयोग की आधारभूत योग्यताएँ चैतन्य एवं जड़ता निवृत्त नहीं होतीं, फिर प्रकृति निवृत्तप्रसवा कैसे हो सकती है ?

---

१. सुस्थः इति—रजस्तमोवृत्तिकलुषया बुद्ध्याऽसंभिन्नः। सात्त्विकया तु बुद्ध्या तदाप्यस्य मनाक् संभेदोऽस्त्येव। अन्यथैवं भूतप्रकृतिदर्शनानुपपत्तेरिति।
—तत्त्वकौमुदी।

२. स्वस्थः इति—आत्मनि स्थितो न प्रकृतिस्थः, ततः प्रकृतेर्निवृत्तत्वात्। जयमङ्गला।

यदि यह कहें कि विवेक-ज्ञान होने पर इसके आगे और कुछ करना शेष नहीं होता, इसलिए प्रकृति की निवृत्ति हो जाती है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि दूसरे पुरुष को भोग की अपेक्षा है ही। इस प्रश्न के उत्तर में ही अग्रिम कारिका की रचना हुई है।

दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको, दृष्टाऽहमित्युपरमत्यन्या।
सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य ॥ ६६ ॥

तयोः प्रकृतिपुरुषयोः द्वयोः एकः पुरुषः मया प्रकृतिर्दृष्टा सम्यगुपभुक्ता, इति कृत्वा उपेक्षकः निरभिलाषुकः, भवतीत्यर्थः। अन्या प्रकृतिः पुनः 'अहं पुरुषेण दृष्टा' तृप्तिपर्यन्तमुपभुक्ता इति अवधार्य उपरमति विरमति न पुनः दर्शनाय प्रवर्तते, ततः उभयोः तयोः प्रकृतिपुरुषयोः संयोगे सत्यपि, सर्गस्य सृष्टेः प्रयोजनम् नास्ति।

(प्रकृति और पुरुष में से) एक (पुरुष) यह सोचकर कि मैंने (प्रकृति को) देख लिया है (उसकी) उपेक्षा करता है। (तथा) दूसरी (प्रकृति यह सोचकर कि) मैं (पुरुष के द्वारा) देख ली गई हूं (सृष्टि से) विरत हो जाती है। (यही कारण है कि) उन (प्रकृति और पुरुष) दोनों का संयोग बने रहने पर भी सृष्टि का प्रयोजन नहीं होता।

चैतन्य के द्वारा जड़ का उपभोग भी निरुद्देश्य नहीं होता। विवेक-ख्याति ही वह प्रयोजन है जिसके लिए पुरुष प्रकृति का उपभोग करता रहा। विवेक-ख्याति रूप उद्देश्य के सिद्ध हो जाने पर न तो पुरुष को ही भोग की अपेक्षा है और न प्रकृति ही उसके लिए भोग जुटाती है। पुरुष के द्वारा प्रकृति का भोग अविवेक का कार्य है। अतः विवेक जागृत होने पर कारण के अभाव में कार्य का न होना हो स्वभाविक है। पुरुष के द्वारा प्रकृति के उपभोग की अपेक्षा तो विवेक-ज्ञान से होती है किन्तु जड़ प्रकृति में उपरमण की क्रिया उसकी मूलप्रवृत्ति है। चेतन के द्वारा अचेतन का उपभोग साक्षात् न होकर परम्परया तथा किसी स्थूल माध्यम से ही सम्भव है। बिना लिंग एवं स्थूल शरीर के भोग हो नहीं सकता। वह भी साक्षात् त्रिगुणात्मिका प्रकृति का न होकर उसके विकारों के भी विकार रूप, रस, गन्ध आदि विषयों का होता है। विवेक-ख्याति होने पर सूक्ष्म या स्थूल-शरीर के साथ पुरुष का न तो अहं भाव बना रहता है और न ही लिंगशरीर में अनादिकाल की वासना से संचालित वे संस्कार होते हैं जिनका उपभोग स्थूल-

शरीर के द्वारा होता है। यही कारण है कि चेतन पुरुष और अचेतन प्रकृति का संयोग होते हुए भी सृष्टि नहीं होती। प्रकृति की यह मूल-प्रवृत्ति उसी पुरुष के प्रति अपने को प्रसवोन्मुखी नहीं होने देती, जिसे विवेक-ज्ञान प्राप्त हो गया होता है। अन्यों के प्रति तो सृष्टि होती ही है।[1] ॥६६॥

पूर्व की कारिकाओं में तत्त्व-ज्ञान से मोक्ष-प्राप्ति का विधान किया गया है। दुःखत्रय की आत्यन्तिक निवृत्ति ही मुक्ति मानी गई है। तथा अनादिकाल से चली आ रही अज्ञान की वासना से ही जन्म और कर्म होते हैं जिनसे यह शरीर मिला हुआ है। तत्त्व-ज्ञान होने से व्यक्ति यदि मुक्त हो जाता तो तत्त्व-ज्ञान के अनन्तर ही शरीर का विनाश हो जाना चाहिए। शरीर के न रहने पर इन्द्रियों के अभाव में पुरुष प्रकृति को कैसे देख सकता है ? अतः पूर्वकारिका की उक्ति 'प्रकृतिं पश्यति पुरुषः' युक्तियुक्त नहीं। यदि यह कहें कि तत्त्वज्ञान हो जाने के बाद भी व्यक्ति तब तक मुक्त नहीं होता जब तक उसके कर्मों का विनाश न हो जाय, जो भोग से ही सम्भव है, तो फिर 'व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञान' से उत्पन्न तत्त्वज्ञान से मुक्ति होती है।'—यह कथन अर्थहीन है। क्योंकि कर्मों का अन्त नहीं, फलतः उनके पूर्ण परिपाक का समय निश्चित नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त ये ही कर्म नये कर्मों की शृंखला को भी जन्म देते हैं फिर मुक्ति कैसे मिल सकती है ? प्रकृत कारिका में इसी तथ्य का विवेचन करते हैं :—

सम्यग्ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ ।
तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः ॥६७॥

आत्मज्ञानमेव सम्यग्ज्ञानं तस्य अधिगमः प्राप्तिः तस्मात् हेतोः धर्मादीनां धर्मज्ञानविरागैश्वर्याणामकारणप्राप्तौ अग्निदग्धबीजवदशक्तत्वात् जन्मजन्मान्तरसंस्कारवशात् चक्रभ्रमिवत् धृतशरीरः देहेन सहितः तिष्ठति जीवति।

सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर लेने पर (पुनर्जन्म एवं कर्म के साधक) धर्म आदि कारण नहीं रह जाते अथवा उनकी प्राप्ति अनायास हो जाती है। (और तब) प्राणी चक्के के घूमने के समान (पूर्वजन्म के) संस्कारों से शरीर धारण किये रहता है।

---

1. विमुक्तबोधान्न सृष्टिः प्रधानस्य लोकवत्। सां० सू० ६।४३

सम्यग्ज्ञान का निरूपण चौसठवीं कारिका में किया गया है जो पच्चीस सांख्यीय तत्त्वों के निरन्तर अभ्यास से उत्पन्न होता है। इसी को 'विशुद्ध' 'अपरिशेष' तथा 'केवल' पदों से भी अभिहित किया गया है। वस्तुतः यह पुरुष का आत्मज्ञान ही है। इसके प्राप्त हो जाने पर फिर पुनर्जन्म की सम्भावना समाप्त हो जाती है। पुनर्जन्म का कारण बुद्धि के धर्म आदि भावों से अधिवासित लिंगशरीर ही है। तत्त्वज्ञान हो जाने पर धर्मादिभाव भुने हुए बीज के समान पुनर्जन्म के रूप में अंकुरित होने में समर्थ नहीं होते। यही धर्मादि का अकारणत्व प्राप्त करना है, जिसका अभिप्राय यह है कि जन्म-जन्मान्तर प्राप्ति के जो कारण हैं, वे अब कारण नहीं रह जाते।

जहां तक शरीर का प्रश्न है, वह प्रारब्धकर्मों तथा ग्रहण किये हुए अन्न पान आदि के संस्कार से उसी प्रकार बना रहता है जिस प्रकार चलाना बन्द कर देने पर भी कुम्हार का चक्का पाई हुई शक्ति से देर तक घूमता रहता है, तुरन्त बन्द नहीं हो जाता। इसका अभिप्राय यही है कि यद्यपि शरीर के संचालन के कारणभूत धर्म आदि भाव नष्ट हो गये होते हैं, तथापि उनके जब तक के भोग के लिए यह शरीर मिला रहता है, तब तक यह चलता रहता है। उपनिषदों में भी इस दशा को स्वीकार किया गया है और इस स्थिति को जीवन-मुक्ति कहा गया है।[1] वेदान्त-सूत्र में तो यही विहित है कि प्रारब्धकर्मों के भोग के अनन्तर ही मुक्ति मिलती है।[2] ज्ञान से उस पुण्य और पाप का क्षय माना गया है जिसके फल के भोग का प्रारम्भ नहीं हुआ है। इसीलिए शंकराचार्य ने भी उक्त सूत्र की व्याख्या करते हुए यही कहा है कि जिस पुण्य-पाप के फल का भोग प्रारम्भ हो गया है, उसकी परिसमाप्ति भोग के द्वारा होने के अनन्तर ही जीव को ब्रह्मपद की प्राप्ति होती है।[3] गौडपाद और जयमंगलाकार ने 'चक्रभ्रमवत्' पाठ माना है जबकि वाचस्पति में 'चक्रभ्रमिवत्' पाठ को ही प्रमाणित किया है। पाठभेद से अर्थभेद में कोई अन्तर नहीं पड़ता, न ही छन्द में ॥६७॥

---

१. तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये। छान्दोग्य उपनिषद् ६।१४।२

२. भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाऽथ सम्पद्यते ॥ ब्रह्मसूत्र ४।१।१९

३. अनारब्धकार्ययोर्पुण्यपापयोर्विद्यासामर्थ्यात् क्षय उक्तः, इतरे तु आरब्ध-कार्ये पुण्यपापे उपभोगेन क्षपयित्वा ब्रह्म सम्पद्यते। ब्रह्मसूत्र ४।१।१९ पर शांकरभाष्य।

प्रारब्धकर्मों के संस्कारवश ही ज्ञान-प्राप्त व्यक्ति शरीर धारण किये रहता है यह बात सिद्ध हो गई। उसकी मुक्ति कब होती है? इसका स्पष्टीकरण अग्रिम कारिका में करते हैं :

प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात्प्रधानविनिवृत्तौ।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति ॥६८॥

शरीरभेदे प्रारब्धकर्मणोत्पादितस्य शरीरस्य नाशे प्राप्ते जाते चरितार्थत्वात् कृतभोगापवर्गलक्षणप्रयोजनकत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ प्रधानस्य मूलप्रकृतेः लिङ्गात्मना परिणतस्य लयं गते पुरुषः ऐकान्तिकम् अवश्यम्भवनीयम्, आत्यन्तिकं पुनरनुत्पाद्यमुभयं उभयप्रकारकं, कैवल्यं मोक्षमवाप्नोति।

शरीर के छूट जाने पर प्रधान अर्थात् मूल-प्रकृति अपना भोगापवर्ग रूप कार्य पूरा कर लेने के कारण निवृत्त हो जाती है और तब पुरुष ऐकान्तिक (अनिवार्य रूप से) तथा आत्यन्तिक (सर्वदा के लिए) दोनों प्रकार के कैवल्य को प्राप्त कर लेता है।

शरीरभेद पद का अर्थ शरीर छूटना है। तत्त्वज्ञान से उन कर्माशयों का फलोत्पादिका शक्ति नष्ट हो जाती है जिनका विपाक अभी आरम्भ नहीं हुआ होता है। जिन कर्मों के अपने फल की प्राप्ति को समारम्भ हो गया होता है, उनका भोग तो होकर ही रहता है, चाहे वह नाममात्र के लिए ही क्यों न हो उसमें अन्तर इतना ही पड़ता है कि ये भोग पुनः कर्म-संस्कार को जन्म नहीं देते।

चरितार्थ शब्द से पुरुष के भोगापवर्ग रूप प्रयोजन की सिद्धि कर चुकने के अर्थ का बोध होता है। प्रकृति जिस पुरुष के प्रति भोगापवर्ग रूप प्रयोजन को सिद्ध कर चुकती है, उससे निवृत्त हो जाती है। ग्रंथ की प्रथम-कारिका के समान ही यहां पर प्रयुक्त ऐकान्तिक पद का अर्थ अवश्यम्भावी तथा आत्यन्तिक पद का अर्थ अविनाशी होता है ॥६८॥

अब तक की कारिकाओं में सांख्य के जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, उनकी परिपुष्टि यद्यपि प्रमाणपूर्वक हुई है, तथापि उनमें अध्येताओं की श्रद्धा के लिए अब यह बताना चाहते हैं कि यह सारा ज्ञान ऋषियों में मूर्धन्य कपिल का दिया हुआ है :—

पुरुषार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम् ।
स्थित्युत्पत्तिप्रलयाश्चिन्त्यन्ते यत्र भूतानाम् ॥६९॥

इदं गुह्यं अप्रकाश्यं पुरुषार्थज्ञानं पुरुषस्य अर्थस्य प्रयोजनस्य मोक्षस्यार्थं यस्मात्तादृशं सांख्यशास्त्रं, परमर्षिणा कपिलमुनिना समाख्यातं कथितम् । यत्र येन ज्ञानेन भूतानां प्राणिनां स्थित्युत्पत्तिप्रलयाः स्थितिरवस्थानम्, उत्पत्तिराविर्भावः प्रलयः तिरोभावश्च, चिन्त्यन्ते विचार्यन्ते ।

ऋषियों में मूर्धन्य (भगवान् कपिल) ने पुरुष को मोक्ष रूप प्रयोजन की प्राप्ति के लिए इस ज्ञान का निरूपण किया है जो गोपनीय अथवा दुर्बोध्य (भी) है । इसमें प्राणियों की उत्पत्ति एवं विनाश का विचार किया गया है ।

'पुरुषार्थ' पद से यहां परमपुरुषार्थ मोक्ष का अथवा पुरुष के परम अर्थ उसी मोक्ष का ग्रहण होता है जो पुरुष का प्रयोजन भी है और ज्ञान भी । गुह्य पद का अर्थ वाचस्पति ने दुर्बोध्य, गौडपाद ने रहस्य तथा जयमंगलाकार ने अप्रकाश्य किया है । यद्यपि सांख्य-कारिका में मुनिकपिल का नामतः कहीं उल्लेख नहीं हुआ है, तथापि इस कारिका में प्रयुक्त परमर्षि शब्द से तथा अग्रिम कारिका के मुनि शब्द से उन्हीं का ग्रहण होता है । क्योंकि वे ही इस शास्त्र के प्रवर्तक हैं । कपिल मुनि चूंकि वैदिक मन्त्रों के द्रष्टा नहीं है, अतः उनके लिए यहां ऋषि पद का प्रयोग विचारणीय है ।

इस ग्रथ की यह अन्तिम कारिका है जिस पर गौडपाद ने टीका की है । इसके बाद की कारिकाओं पर उनकी टीका उपलब्ध नहीं होती जो सम्भवतः हुई ही नहीं है । कुछ लोग इससे यह भी अनुमान लगाते हैं कि शेष तीनों कारिकाएं प्रक्षिप्त हैं । ग्रंथ की अन्तिम बहत्तरवीं कारिका में पूरे ग्रंथ को 'सप्तति' पद से अभिहित किया गया है जिसका अभिप्राय यह है कि इसकी कुल कारिकाओं की संख्या सत्तर है । किन्तु गौडपाद ने पता नहीं क्यों प्रकृत उनहत्तरवीं कारिका तक की टीका की है । इस सम्बन्ध में विशेष विवेचन भूमिका मे किया गया है ।

स्थिति, उत्पत्ति और प्रलय शब्द की व्याख्याएं भिन्न-भिन्न प्रकार से की गई है । गौडपाद ने स्थिति को अवस्थान, उत्पत्ति को आविर्भाव तथा प्रलय को तिरोभाव माना है ।[1] जयमंगलाकार का कहना है कि उत्पन्न पुरुष

---

१. यत्र ज्ञाने भूतानां वैकारिकां स्थित्युत्पत्तिप्रलयाश्चवस्थानामाविर्भावतिरोभावाः चिन्त्यन्ते । गौडपाद ।

का बन्धनरूप में रहना ही स्थिति है जो दैव, मानुष और तैर्यक् रूप में होता है। उत्पत्ति तन्मात्राओं से पंचमहाभूतों की सृष्टि है तो प्रलय् सब का उत्क्रमण करके सृष्टि का संहार है। इसमें पृथ्वी आदि अपने अपने कारणों में लीन होते हुए मूल-प्रकृति के रूप में ही शेष रह जाते हैं।[1] वाचस्पति मिश्र ने इन पदों की कोई व्याख्या नहीं की है। 'भूतानाम्' पद से गौडपाद और जयमंलाकार ने प्रकृति के सभी विकारों का ग्रहण किया है जबकि वाचस्पति मिश्र ने मात्र प्राणियों का। 'यत्र' में निमित्त में सप्तमी है। ॥६९॥

मुनि कपिल से लेकर प्रकृत ग्रंथ के कर्ता ईश्वरकृष्ण तक की आचार्य-परम्परा का उल्लेख अग्रिम दो कारिकाओं में किया है :—

एतत्पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ ।
आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन बहुधा कृतं तन्त्रम् ॥७०॥

पवित्रं सकलदुःखनाशकत्वात्पवित्रम् अग्र्यम् पावेनेभ्यो सर्वेभ्यो मुख्यम्, एतत्सांख्यशास्त्रं मुनिः कपिलः, अनुकम्पया कृपापात्रतया, आसुरये आसुरिनामकाय शिष्याय, प्रददौ अध्यापितवान्। आसुरिरपि पञ्चशिखा[illegible]शिष्यायैतत्सांख्यसिद्धान्तं प्रददौ। तेन पंचशिखेन अस्य बहुधा तन्त्रं कृतम् अनेकप्रकारेण सिद्धान्तममुं विस्तारितम्।

मुनि कपिल ने इस पवित्र एवं श्रेष्ठ (सांख्य सिद्धान्त) को अपने पट्ट शिष्य आसुरि को कृपापूर्वक दिया (अध्यापन किया)। आसुरि ने भी (इसे अपने शिष्य) पंचशिख को (दिया), जिन्होंने इसका अनेक प्रकार से विस्तार किया।

यहां सांख्य-सिद्धान्त में प्रतिपादित ज्ञान को पवित्र कहा गया है। सांख्य-सिद्धान्त की पवित्रता वैदिककर्मकाण्ड की तुलना में ही निहित है। अतः दूसरी कारिका में वैदिक उपाय को अविशुद्धि से युक्त बताकर यहां सांख्य-

---

१. यत्र ज्ञाने भूतानां ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानां स्थित्यादयो व्यवस्थाप्यन्ते। तत्रोत्पन्नानां प्रबन्धेनावस्थानं स्थितिः, सा च त्रिषु स्थानेषु दैवमानुषतैर्यग्योनेषु उत्पत्तिः, सृष्टिः प्रधानाद्यावत् तन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि। सृष्ट्युपसंहारे महाप्रलयः सर्वोऽप्युत्क्रमेण। तद्यथा पृथिव्यादयस्तन्मात्राविषु लीयन्ते यावत् प्रधानमिति। जयमङ्गला।

शास्त्र प्रोक्त 'व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञान' को पवित्र कहा है जिसका अभिप्राय यही है कि दुःखनिवृत्ति के इस उपाय में किसी भी प्राणी की किसी भी प्रकार की हिंसा का कोई प्रश्न नहीं उठता। अतएव इस ज्ञान को 'अग्र्यं' अर्थात् दुःख-निवृत्ति के सब प्रकार के उपायों में श्रेष्ठ कहा गया है। 'अनुकम्पया' से तात्पर्य यह है कि मुनि कपिल को धर्म ज्ञान विराग और ऐश्वर्य नामक चारों भाव जन्मजात सिद्ध थे। ज्ञान भाव से उन्होंने देखा कि जगत् अज्ञानान्धकार में निमग्न होकर नाना प्रकार से पीड़ित हो रहा है जिससे उनमें करुणा उत्पन्न हुई। उससे प्रेरित होकर ही उन्होंने आसुरि को यह ज्ञान दिया। जयमंगला-कार के अनुसार आसुरि उनके सगोत्र ब्राह्मण थे और अपने विरक्ति-भाव से मुनि के कृपापात्र हो गये थे। उन्होंने इस ज्ञान को अपने पट्टशिष्य पंचशिख को दिया जिन्होंने इस शास्त्र में निष्णात होकर षष्टितन्त्र नामक विशाल ग्रंथ की रचना की ॥७०॥

ईश्वरकृष्ण को सांख्य-शास्त्र का ज्ञान साक्षात् न मिलकर शिष्य-परम्परा से प्राप्त हुआ जिसका निरूपण अग्रिम कारिका में करते हैं :—

शिष्यपरम्परागतमीश्वरकृष्णेन चैतदार्याभिः।
संक्षिप्तमार्यमतिना सम्यग्विज्ञाय सिद्धान्तम् ॥७१॥

शिष्यपरम्परया आगतं प्राप्यैतत्सांख्यशास्त्रमार्यमतिना श्रेष्ठबुद्धिना, ईश्वरकृष्णेन सिद्धान्तंशास्त्रं सम्यग्-अधीतिबोधाभ्यां सम्यक् रूपेण विज्ञाय ज्ञात्वा आर्याभिः तदाख्यछन्दोविशेषविशिष्टपद्यैः संक्षिप्तं संक्षेपेण कथितम्।

बुद्धिमान् ईश्वर कृष्ण ने शिष्यपरम्परा से प्राप्त इस साख्य-सिद्धान्त को अच्छी तरह समझ कर इन आर्याओं में संक्षिप्त कर दिया है।

सांख्य-शास्त्र का यह ज्ञान जिसका निरूपण ईश्वर कृष्ण ने इन सत्तर कारिकाओं में किया है, उन्हें साक्षात् पंचशिख से नहीं प्राप्त हुआ था, अपितु पंचशिख के शिष्यों, प्रशिष्यों की परम्परा से ही इन्होंने उसका सम्यक् अध्ययन किया था। इनके साक्षात् गुरु कौन थे ? इसका उल्लेख भी यहां नहीं हुआ है। जिसका अभिप्राय यही है कि किसी एक विशिष्ट व्यक्ति से उन्हें यह ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ अपितु स्वयं के अध्यवसाय तथा पंचशिख के ग्रंथ षष्ठितन्त्र एव तत्कालीन सांख्य-शास्त्र के अनेक पण्डितों के सम्पर्क से ही इन्होंने इस शास्त्र में अपनी इतनी गति प्राप्त की। पंचशिखकृत षष्टितन्त्र ग्रंथ भी अब

उपलब्ध नहीं होता। सम्भव है कि इनके समय में उपलब्ध रहा हो। इन्होंने अपने लिये 'आर्यमति' विशेषण का प्रयोग किया है जिसका अर्थ करते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि तत्त्व के समीप पहुंचने वाली बुद्धि ही आर्या है, जिसकी मति उससे युक्त है वही आर्यमति अर्थात् सूक्ष्मतत्त्वदर्शी है।[1] आर्या एक छन्द के प्रकार का नाम है जिसके प्रथम और तृतीय पाद में बारह मात्राएं, द्वितीय पाद में अठारह तथा चतुर्थ पाद में पन्द्रह मात्राएं होती हैं[2] ॥७१॥

यहां यह कहा जा सकता है कि जैसा कि नाम से ही प्रतीत होता है षष्टितन्त्र में सम्भवतः साठ तत्वों का विवेचन रहा होगा। सांख्य कारिका में तो कुल पच्चीस तत्त्वों का ही विवेचन हुआ है। क्या यह सांख्य का प्रकरण ग्रंथ तो नहीं है? इस शंका को निर्मूल करने लिए ग्रंथकार ने अग्रिम तथा अन्तिम कारिका की रचना की है।

सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य।
आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि ॥७२॥

सप्तत्यां सप्ततिसंख्यायुक्तसांख्यकारिकायामस्यां येऽर्थाः ये विषयाः प्रतिपादिताः सर्वे च ते कृत्स्नस्य विशालस्य षष्टितन्त्रस्य पंचशिखकृतस्य एतन्नामकस्य ग्रंथस्य, अर्थाः विषयाः सन्ति। अत्र हि पुनः ते आख्यायिकाविरहिताः, कथातद्घटितदृष्टान्तरहिताः अथवा आख्यानमाख्यायिका तद्विरहिताः, अपिच परवादविवर्जिताः मतान्तररहिताश्च सन्ति।

जिन विषयों का प्रतिपादन उक्त सत्तर कारिकाओं में हुआ है, वे सब निखिल षष्टितन्त्र के ही हैं। षष्टितन्त्र में निरूपित आख्यानों तथा मत-मतान्तरों को यहां नहीं लिया गया है।

उक्त विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि सांख्यकारिका षष्टितन्त्र का ही एक रूप है जिसमें दृष्टान्त के रूप में दिये गये आख्यान तथा मत-मतान्तरों का समावेश नहीं किया गया है और इस प्रकार यह विशुद्ध रूप से सांख्य-सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन करती है।

---

१. आराद्या तत्त्वेभ्य इति आर्या, आर्या मतिः यस्य सोऽयमार्यमतिः। तत्त्वकौमुदी।
२. यस्याः पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश सार्या ॥

षष्टितन्त्र शब्द में प्रयुक्त तन्त्र पद को सत्तरवीं कारिका में निरूपित तंत्र से सम्बन्धित कर इसे पंचशिख कृत माना जाता है। इसमें प्रयुक्त षष्टि शब्द संख्यावाचक है जिसका अर्थ यह प्रतीत होता है कि वह ग्रंथ साठ तत्त्वों का विवेचन करता था। चूंकि ग्रंथ उपलब्ध नहीं है, इसलिए उन साठ तत्त्वों के विषय में ठीक ठीक कुछ नहीं कहा जा सकता। वाचस्पति मिश्र ने अपनी टीका तत्त्वकौमुदी में राजवर्तिक के नाम से पदार्थों की साठ संख्या गिनाई है जिनकी सूची निम्न प्रकार है :—

१. प्रधान का अस्तित्त्व।
२. प्रधान का एकत्व।
३. इसका अर्थवत्वं अर्थात् व्यक्त के साथ इसका कार्यकारण भाव।
४. पुरुष से प्रधान का भेद।
५. प्रकृति की परार्थता (पुरुषोपकारकत्व)।
६. पुरुष की अनेकता।
७. वियोग अर्थात् प्रकृति-पुरुष का अपवर्गस्थिति में विवेक।
८. योग अर्थात् अपवर्ग से पहले प्रकृति-पुरुष का अभेद।
९. शेषवृत्ति, तत्वज्ञान की प्राप्ति के अनन्तर भी शरीर एवं उसकी क्रियाओं का होना।
१०. पुरुष का कर्तृत्वाभाव।

उक्त दस तत्त्व मौलिक हैं। शेष पच्चीस में से पांच प्रकार का विपर्यय, ९ प्रकार की तुष्टियां, अट्ठाइस प्रकार की अशक्तियां तथा आठ प्रकार की सिद्धियां मिलकर कुल साठ तत्त्व हो जाते हैं।

प्रधानास्तित्वमेकत्वमर्थवत्वमथान्यता।
पारार्थ्यं च तथानैक्यं वियोगो योग एव च॥
शेषवृत्तिरकर्तृत्वं मौलिकार्थाः स्मृता दश।
विपर्ययः पञ्चविधस्तथोक्ता नवतुष्टयः
करणानामसामर्थ्यमष्टाविंशतिधा मतम्।
इति षष्टिः पदार्थानामष्टाभिः सह सिद्धिभिः॥

माठराचार्य ने अपनी टीका में एक और कारिका का समावेश किया है जो अन्य पाठों में उपलब्ध नहीं है, न ही किसी अन्य टीकाकार की उस पर टीका है। यहां अन्त में उसकी भी व्याख्या की जा रही है—

तस्मात्समासदृष्टं शास्त्रमिदं नार्थतश्च परिहीनम् ।
तन्त्रस्य च बृहन्मूर्तेर्दर्पणसंक्रान्तमिव बिम्बम् ॥७३॥

तस्मात् आख्यायिकाविरहितत्वात् परवादविवर्जितत्वाच्च समासदृष्टं संक्षेपेण विवेचितमिदं शास्त्रं सांख्यकारिकारूपमर्थतः विषयतः च परिहीनम् न्यूनं सदोषं वा न नास्ति इत्यर्थः अपितु बृहन्मूर्तेः विशालकायस्य तन्त्रस्य षष्टितन्त्रनामकस्य ग्रन्थस्य दर्पणसंक्रान्तं दर्पणे पतितं बिम्बमिव प्रतिबिम्ब-मिवास्ति ।

इसलिए संक्षेप में दिखाई देता हुआ सांख्यकारिका नामक यह विवेचन विषय की दृष्टि से हीन नहीं है । अपितु यह विशालकाय उसी षष्टितन्त्र का ही मानो दर्पण में पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब है ।

यहां 'तस्मात्' से पूर्वकारिका में उक्त आख्यायिकाविरहित और परवाद-विवर्जित कारणों का ग्रहण होता है जिससे यह ग्रंथ संक्षिप्त प्रतीत होता है । इसके स्वरूप की लघुता का कारण यह नहीं है कि इसमें सांख्य के सभी विवेच्य विषयों का समावेश नहीं हुआ है, अपितु यह सांख्य-सिद्धान्त के प्रतिपादक परम महनीय ग्रंथ षष्टितन्त्र का ही प्रतिबिम्ब रूप है ॥७३॥

परिशिष्ट

१. सांख्यकारिकानुक्रमणी
२. सांख्यकारिका पदानुक्रमणी
३. सांख्यसूत्राणि
४. तत्त्वसमाससूत्राणि
५. सांख्य-संग्रन्थावली

१. प्रथम-परिशिष्ट

सांख्यकारिकानुक्रमणी

★

२. द्वितीय-परिशिष्ट

सांख्यकारिका शब्दानुक्रमणी

३. तृतीय परिशिष्ट

सांख्यसूत्राणि

अथ प्रथमोऽध्याय

१. अथ त्रिविधदुःखनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ।
२. न दृष्टात् तत्सिद्धिर्निवृत्तेऽप्यनुवृत्तिदर्शनात् ।
३. प्रात्यहिकक्षुत्प्रतीकारवत् तत्प्रतीकारचेष्टनात् पुरुषार्थत्वम् ।
४. सर्वासम्भवात् सम्भवेऽपि सत्तासम्भवाद् हेयः प्रमाणकुशलैः ।
५. उत्कर्षादपि मोक्षस्य सर्वोत्कर्षश्रुतेः ।
६. अविशेषश्चोभयोः ।
७. न स्वभावतो बद्धस्य मोक्षसाधनोपदेशविधिः ।
८. स्वभावस्यानपायित्वादननुष्ठानलक्षणमप्रामाण्यम् ।
९. नाशक्योपदेशविधिरुपदिष्टेऽप्यनुपदेशः ।
१०. शुक्लपटवद्बीजवच्चेत् ।
११. शक्त्युद्भवानुद्भवाभ्यां नाशक्योपदेशः ।
१२. न कालयोगतो व्यापिनो नित्यस्य सर्वसम्बन्धात् ।
१३. न देशयोगतोऽप्यस्मात् ।
१४. नावस्थातो देहधर्मत्वात् तस्याः ।
१५. असङ्गोऽयं पुरुषः ।
१६. न कर्मणाऽन्यधर्मत्वादतिप्रसक्तेश्च ।
१७. विचित्रभोगानुपपत्तिरन्यधर्मत्वे ।
१८. प्रकृतिनिबन्धनाच्चेन्न तस्या अपि पारतन्त्र्यम् ।
१९. न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते ।
२०. नाविद्यातोऽप्यवस्तुना बन्धायोगात् ।
२१. वस्तुत्वे सिद्धान्तहानिः ।
२२. विजातीयद्वैतापत्तिश्च ।
२३. विरुद्धोभयरूपा चेत् ।
२४. न तादृक्पदार्थाप्रतीतेः ।

२५. न वयं षट्पदार्थवादिनो वैशेषिकादिवत् ।
२६. अनियतत्वे नायौक्तिकस्य संग्रहोऽन्यथा बालोन्मत्तादिसमत्वम् ।
२७. नानादिविषयोपरागनिमित्तकोऽप्यस्य ।
२८. न बाह्याभ्यन्तरयोरुपरज्योपरञ्जकभावोऽपि देशव्यवधानात् स्रुघ्नस्थपाटलिपुत्रस्थयोरिव ।
२९. द्वयोरेकदेशलब्धोपरागान्न व्यवस्था ।
३०. अदृष्टवशाच्चेत् ।
३१. न द्वयोरेककालायोगादुपकार्योपकारकभावः ।
३२. पुत्रकर्मवदिति ।
३३. नास्ति हि तत्र स्थिर एकात्मा यो गर्भाधानादिना संस्क्रियेत् ।
३४. स्थिरकार्यासिद्धेः क्षणिकत्वम् ।
३५. न प्रत्यभिज्ञाबाधात् ।
३६. श्रुतिन्यायविरोधाच्च ।
३७. दृष्टान्तासिद्धेश्च ।
३८. युगपज्जायमानयोर्न कार्यकारणभावः ।
३९. पूर्वापाये उत्तरायोगात् ।
४०. तदभावे तदयोगादुभयव्यभिचारादपि न ।
४१. पूर्वभावमात्रे न नियम.
४२. न विज्ञानमात्रं बाह्यप्रतीतेः ।
४३. तदभावे तदभावाच्छून्यं तर्हि ।
४४. शून्यं तत्त्वं भावो विनश्यति वस्तुधर्मत्वाद् विनाशस्य ।
४५. अपवादमात्रमबुद्धानाम् ।
४६. उभयपक्षसमानक्षेमत्वादयमपि ।
४७. अपुरुषार्थत्वमुभयथा ।
४८. न गतिविशेषात् ।
४९. निष्क्रियस्य तदसम्भवात् ।
५०. मूर्तत्वाद् घटादिवत् समानधर्मापत्तावपसिद्धान्तः ।
५१. गतिश्रुतिरप्युपाधियोगादाकाशवत् ।
५२. न कर्मणाऽप्यतद्धर्मत्वात् ।
५३. अतिप्रसक्तिरन्यधर्मत्वे ।

५४. निर्गुणादिश्रुतिविरोधश्चेति ।

५५. तद्योगोऽप्यविवेकान्न समानत्वम् ।

५६. नियतकारणात् तदुच्छित्तिर्ध्वान्तवत् ।

५७. प्रधानाविवेकादन्याविवेकस्य तद्धाने हानम् ।

५८. वाङ्मात्रं न तु तत्त्वं चित्तस्थितेः ।

५९. युक्तितोऽपि बाध्यते दिङ्मूढवदपरोक्षादृते ।

६०. अचाक्षुषाणामनुमानेन बोधो धूमादिभिरिव वह्नेः ।

६१. सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारोऽहंकारात् पञ्च तन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुषइति पञ्चविंशतिर्गणः ।

६२. स्थूलात् पञ्चतन्मात्रस्य ।

६३. बाह्याभ्यन्तराभ्यां तैश्चाहङ्कारस्य ।

६४. तेनान्तः करणस्य ।

६५. ततः प्रकृतेः ।

६६. संहतपरार्थत्वात् पुरुषस्य ।

६७. मूले मूलाभावादमूलं मूलम् ।

६८. पारम्पर्येऽप्येकत्र परिनिष्ठेति संज्ञामात्रम् ।

६९. समानः प्रकृतेर्द्वयोः ।

७०. अधिकारित्रैविध्यान्न नियमः ।

७१. महदाख्यमाद्यं कार्यं तन्मनः ।

७२. चरमोऽहङ्कारः ।

७३. तत्कार्यत्वमुत्तरेषाम् ।

७४. आद्यहेतुता तद्द्वारा पारम्पर्येऽप्यणुवत् ।

७५. पूर्वभावित्वे द्वयोरेकतरस्य हानेऽन्यतरयोगः ।

७६. परिच्छिन्नं न सर्वोपादानम् ।

७७. तदुत्पत्तिश्रुतेश्च ।

७८. नाऽवस्तुनो वस्तुसिद्धिः ।

७९. अबाधाददुष्टकारणजन्यत्वाच्च नावस्तुत्वम् ।

८०. भावे तद्योगेन तत्सिद्धिरभावे तदभावात् कुतस्तरां तत्सिद्धिः ।

८१. न कर्मण उपादानत्वायोगात् ।

८२. नानुश्रविकादपि तत्सिद्धिः साध्यत्वेनावृत्तियोगादपुरुषार्थत्वम् ।

८३. तत्र प्राप्तविवेकस्यानावृत्तिश्रुतिः ।

८४. दुःखाद् दुःखं जलाभिषेकवन्न जाड्यविमोकः ।

८५. काम्येऽकाम्येऽपि साध्यत्वाविशेषात् ।

८६. निजमुक्तस्य बन्धध्वंसमात्रं परं न समानत्वम् ।

८७. द्वयोरेकतरस्य वाऽप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमा तत्साधकतमं यत्तत् त्रिविधं प्रमाणम् ।

८८. तत्सिद्धौ सर्वसिद्धेर्नाधिक्यसिद्धिः ।

८९. यत्सम्बद्धं सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत्प्रत्यक्षम् ।

९०. योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः ।

९१. लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद् वाऽदोषः ।।

९२. ईश्वरासिद्धेः ।

९३. मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः ।

९४. उभयथाऽप्यसत्करत्वम् ।

९५. मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासा सिद्धस्य वा ।

९६. तत्सन्निधानात् अधिष्ठातृत्वं मणिवत् ।

९७. विशेषकार्येष्वपि जीवानाम् ।

९८. सिद्धरूपबोद्धृत्वाद्वाक्यार्थोपदेशः ।

९९. अन्तःकरणस्य तदुज्ज्वलितत्वाल्लोहवदधिष्ठातृत्वम् ।

१००. प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम् ।

१०१. आप्तोपदेशः शब्दः ।

१०२. उभयसिद्धिः प्रमाणात् तदुपदेशः ।

१०३. सामान्यतोदृष्टादुभयसिद्धिः ।

१०४. चिदवसानो भोगः ।

१०५. अकर्तुरपि फलोपभोगोऽन्नाद्यवत् ।

१०६. अविवेकाद्वा तत्सिद्धेः कर्तुः फलावगमः ।

१०७. नोभयं, च तत्त्वाख्याने ।

१०८. विषयोऽविषयोऽप्यतिदूरादेर्हानोपादानाभ्यामिन्द्रियस्य ।

१०९. सौक्ष्म्यात् तदनुपलब्धिः ।

११०. कार्यदर्शनात् तदुपलब्धेः ।

१११. वादि विप्रतिपत्तेस्तदसिद्धिरितिचेत् ।

११२. तथाप्येकतादृष्ट्या एकतरसिद्धेर्नापलापः ।

११३. त्रिविधविरोधापत्तेश्च ।

११४. नासदुत्पादो नृशृङ्गवत् ।

११५. उपादाननियमात् ।

११६. सर्वत्र सर्वदा सर्वासंभवात् ।

११७. शक्तस्य शक्यकरणात् ।

११८. कारणभावाच्च ।

११९. न भावे भावयोगश्चेत् ।

१२०. नाभिव्यक्तिनिबन्धनी व्यवहाराव्यवहारौ ।

१२१. नाशः कारणलयः ।

१२२. पारम्पर्यतोऽन्वेषण बीजांकुरवत् ।

१२३. उत्पत्तिवद्वाऽदोषः ।

१२४. हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ।

१२५. आञ्जस्यादभेदतो वा गुणसामान्यादेस्तत्सिद्धिः प्रधानव्यपदेशाद्वा ।

१२६. त्रिगुणचेतनत्वादि द्वयोः ।

१२७. प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैर्गुणानामन्योन्यं वैधर्म्यम् ।

१२८. लघ्वादिधर्मैः साधर्म्यं वैधर्म्यं च गुणानाम् ।

१२९. उभयान्यत्वात् कार्यत्वं महदादेर्घटादिवत् ।

१३०. परिणामात् ।

१३१. समन्वयात् ।

१३२. शक्तितश्च ।

१३३. तद्धाने प्रकृतिः पुरुषो वा ।

१३४. तयोरन्यत्वे तुच्छत्वम् ।

१३५. कार्यात् कारणानुमानं तत्साहित्यात् ।

१३६. अव्यक्तं त्रिगुणाल्लिङ्गात् ।

१३७. तत्कार्यतस्तत्सिद्धेर्नापलापः ।

१३८. सामान्येन विवादाभावाद्धर्मवन्न साधनम् ।

१३९. शरीरादिव्यतिरिक्तः पुमान् ।

१४०. संहतपरार्थत्वात् ।

१४१. त्रिगुणादिविपर्ययात् ।
१४२. अधिष्ठानाच्चेति ।
१४३. भोक्तृभावात् तत्सिद्धिरेकत्वात् ।
१४४. कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ।
१४५. जड़प्रकाशायोगात् प्रकाशः ।
१४६. निर्गुणत्वान्न चिद्धर्मा ।
१४७. श्रुत्या सिद्धस्य नापलापस्तत्प्रत्यक्षबाधात् ।
१४८. सुषुप्त्याद्यसाक्षित्वम् ।
१४९. जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम् ।
१५०. उपाधिभेदेऽप्येकस्य नानायोग आकाशस्येव घटादिभिः ।
१५१. उपाधिर्भिद्यते नतु तद्वान् ।
१५२. एवमेकत्वेन परिवर्तमानस्य न विरुद्धधर्माध्यासः ।
१५३. अन्यधर्मत्वेऽपि नारोपात् ।
१५४. नाद्वैतश्रुतिविरोधो जातिपरत्वात् ।
१५५. विदितबन्धकारणस्य दृष्टयातद्रूपम् ।
१५६. नान्धादृष्ट्या चक्षुष्मतामनुपलम्भः ।
१५७. वामदेवादिर्मुक्तो नाद्वैतम् ।
१५८. अनादावद्ययावदभावाद् भविष्यदप्येवम् ।
१५९. इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः ।
१६०. व्यावृत्तोभयरूपः ।
१६१. साक्षात् सम्बन्धात् साक्षित्वम् ।
१६२. नित्यमुक्तत्वम् ।
१६३. औदासीन्यं चेति ।
१६४. उपरागात् कर्तृत्वं चित्सान्निध्याच्चित्सान्निध्यात् ।

इति सांख्य सूत्रे विषयाऽध्यायः प्रथमः ॥१॥

अथ द्वितीयोऽध्याय

१. विमुक्तमोक्षार्थं स्वार्थं वा प्रधानस्य ।
२. विरक्तस्य तत्सिद्धेः ।

३. न श्रवणमात्रात् तत्सिद्धिरनादिवासनाया बलवत्त्वात् ।

४. बहुभृत्यवद्वा प्रत्येकम् ।

५. प्रकृतिवास्तवे च पुरुषस्याध्याससिद्धिः ।

६. कार्यतस्तत्सिद्धेः ।

७. चेतनोद्देशान्नियमः कण्टकमोक्षवत् ।

८. अन्ययोगेऽपि तत्सिद्धिर्नाञ्जस्येनायोदाहवत् ।

९. रागविरागयोर्योगः सृष्टिः ।

१०. महदादिक्रमेण पंचभूतानाम् ।

११. आत्मार्थत्वात् सृष्टेर्नैषामात्मार्थ आरम्भः ।

१२. दिक्कालावाकाशादिभ्यः ।

१३. अध्यवसायो बुद्धिः ।

१४. तत्कार्यं धर्मादि ।

१५. महदुपरागाद्विपरीतम् ।

१६. अभिमानोऽहङ्कारः

१७. एकादशपञ्च तन्मात्रं तत्कार्यम् ।

१८. सात्त्विकमेकादशकं प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात् ।

१९. कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियैरान्तरमेकादशकम् ।

२०. आहङ्कारिकत्वश्रुतेर्न भौतिकानि ।

२१. देवतालयश्रुतिर्नारम्भकस्य ।

२२. तदुत्पत्तिश्रुतेर्विनाशदर्शनाच्च ॥

२३. अतीन्द्रियमिन्द्रियं भ्रान्तानामधिष्ठानम् ।

२४. शक्तिभेदेऽपि भेदसिद्धौ नैकत्वम् ।

२५. न कल्पनाविरोधः प्रमाणदृष्टस्य ।

२६. उभयात्मकं मनः ।

२७. गुणपरिणामभेदान्नानात्मवस्थावत् ।

२८. रूपादिरसमलान्त उभयोः ।

२९. द्रष्टृत्वादिरात्मनः करणत्वमिन्द्रियाणाम् ।

३०. त्रयाणां स्वालक्षण्यम् ।

३१. सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च ।

३२. क्रमशोऽक्रमशश्चेन्द्रियवृत्तिः ।

३३. वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ।

३४. तन्निवृत्तावुपशान्तोपरागः स्वस्थः ।

३५. कुसुमवच्च मणिः ।

३६. पुरुषार्थं करणोद्भवोऽप्यदृष्टोल्लासात् ।

३७. धेनुवद्वत्साय ।

३८. करणं त्रयोदशविधमवान्तरभेदात् ।

३९. इन्द्रियेषु साधकतमत्वगुणयोगात् कुठारवत् ।

४०. द्वयोः प्रधानं मनो लोकवद् भृत्यवर्गेषु ।

४१. अव्यभिचारात्

४२. तथाऽशेषसंस्काराधारत्वात् ।

४३. स्मृत्यानुमानाच्च ।

४४. सम्भवेन्न स्वतः ।

४५. आपेक्षिको गुणप्रधानभावः क्रियाविशेषात् ।

४६. तत्कर्मार्जितत्वात् तदर्थमभिचेष्टा लोकवत् ।

४७. समानकर्मयोगे बुद्धेः प्राधान्यं लोकवल्लोकवत् ।

इति सांख्यसूत्रे प्रधानकार्याध्यायो द्वितीयः ।।२।।

अथ तृतीयोऽध्याय

१. अविशेषाद्विशेषारंभः ।

२. तस्माच्छरीरस्य ।

३. तद्बीजात् संसृतिः ।

४. अविवेकाच्च प्रवर्तनमविशेषाणाम् ।

५. उपभोगादितरस्य ।

६. सम्प्रति परिमुक्तो द्वाभ्याम् ।

७. मातापितृजं स्थूलं प्रायश इतरन्न तथा ।

८. पूर्वोत्पत्तेस्तत्कार्यत्वं भोगादेकस्य नेतरस्य ।

९. सप्तदशैकं लिंगम् ।

१०. व्यक्तिभेदः कर्मविशेषात् ।

११. तदधिष्ठानाश्रये देहे तद्वादात् तद्वादः ।

१२. न स्वातन्त्र्यात् तदृते छायावच्चित्रवच्च ।
१३. मूर्तत्वेऽपि न सङ्घातयोगात् तरणिवत् ।
१४. अणुपरिमाणं तत्कृतिश्रुतेः ।
१५. तदन्नमयत्वश्रुतेश्च ।
१६. पुरुषार्थं संसृतिलिङ्गानां सूपकारवद्राज्ञः ।
१७. पाञ्चभौतिको देहः ।
१८. चातुर्भौतिकमित्येके ।
१९. ऐकभौतिकमित्यपरे ।
२०. न सांसिद्धिकं चैतन्यं प्रत्येकादृष्टेः ।
२१. प्रपञ्चमरणाद्यभावश्च ।
२२. मदशक्तिवच्चेत् प्रत्येकपरिदृष्टे सांहत्ये तदुद्भवः ।
२३. ज्ञानान्मुक्तिः ।
२४. बन्धो विपर्ययात् ।
२५. नियतकारणत्वान्न समुच्चयविकल्पौ ।
२६. स्वप्नजागराभ्यामिव मायिकामायिकाभ्यां नोभयोर्मुक्तिः पुरुषस्य ।
२७. इतरस्यापि नात्यन्तिकम् ।
२८. संकल्पितेऽप्येवम् ।
२९. भावनोपचयाच्छुद्धस्य सर्वं प्रकृतिवत् ।
३०. रागोपहतिर्ध्यानम् ।
३१. वृत्तिनिरोधात् तत्सिद्धिः ।
३२. धारणासनस्वकर्मणा तत्सिद्धिः ।
३३. निरोधश्छर्दिविधारणाभ्याम् ।
३४. स्थिरसुखमासनम् ।
३५. स्वकर्म स्वाश्रमविहितकर्मानुष्ठानम् ।
३६. वैराग्यादभ्यासाच्च ।
३७. विपर्ययभेदाः पञ्च ।
३८. अशक्तिरष्टाविंशतिधा तु ।
३९. तुष्टिर्नवधा ।
४०. सिद्धिरष्टधा ।
४१. अवान्तरभेदाः पूर्ववत् ।

४२. एवमितरस्याः ।

४३. आध्यात्मिकादिभेदान्नवधा तुष्टिः ।

४४. ऊहादिभिः सिद्धिः ।

४५. नेतरादितरहानेन विना ।

४६. दैवादिप्रभेदा ।

४७. आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं तत्कृते सृष्टिराविवेकात् ।

४८. ऊर्ध्वं सत्त्वविशाला ।

४९. तमोविशाला मूलतः ।

५०. मध्ये रजोविशाला ।

५१. कर्मवैचित्र्यात् प्रधानचेष्टा गर्भदासवत् ।

५२. आवृत्तिस्तत्राप्युत्तरोत्तरयोनियोगाद् हेयः ।

५३. समानं जरामरणादिजं दुःखम् ।

५४. न कारणलयात् कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानात् ।

५५. अकार्यत्वेऽपि तद्योगः पारवश्यात् ।

५६. स हि सर्ववित् सर्वकर्ता ।

५७. ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा ।

५८. प्रधानसृष्टिः परार्थं स्वतोऽप्यभोक्तृत्वादुष्ट्रकुङ्कुमवहनवत् ।

५९. अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य ।

६०. कर्मवद् दृष्टेर्वा कालादेः ।

६१. स्वभावाच्चेष्टितमनभिसंधानाद् भृत्यवत् ।

६२. कर्माकृष्टेर्वाऽनादितः ।

६३. विविक्तबोधात् सृष्टिनिवृत्तिः प्रधानस्य सूदवत् पाके ।

६४. इतर इतरवत् तद्दोषात् ।

६५. द्वयोरेकतरस्य वौदासीन्यमपवर्गः ।

६६. अन्यसृष्ट्युपरागेऽपि न विरज्यते प्रबुद्धरज्जुतत्त्वस्येवोरगः ।

६७. कर्मनिमित्तयोगाच्च ।

६८. नैरपेक्ष्येऽपि प्रकृत्युपकारेऽविवेको निमित्तम् ।

६९. नर्तकीवत् प्रवृत्तस्यापि निवृत्तिश्चारितार्थ्यात् ।

७०. दोषबोधेऽपि नोपसर्पणं प्रधानस्य कुलवधूवत् ।

७१. नैकान्ततो बन्धमोक्षौ पुरुषस्याविवेकादृते ।

७२. प्रकृतेराञ्जस्यात् ससङ्गत्वात् पशुवत् ।

७३. रूपैः सप्तभिरात्मानं बध्नाति प्रधानं कोशकारवद्विमोचयत्येकरूपेण ।

७४. निमित्तत्वमविवेकस्य न दृष्टहानिः ।

७५. तत्त्वाभ्यासान्नेतिनेतीति त्यागाद्विवेकसिद्धिः ।

७६. अधिकारिप्रभेदान्न नियमः ।

७७. बाधितानुवृत्त्या मध्यविवेकतोऽप्युपभोगः ।

७८. जीवन्मुक्तश्च ।

७९. उपदेश्योपदेष्टृत्वात् तत्सिद्धिः ।

८०. श्रुतिश्च ।

८१. इतरथान्धपरम्परा ।

८२. चक्रभ्रमणवद्धृतशरीर ।

८३. संस्कारलेशतः तत्सिद्धिः ।

८४. विवेकान्निःशेषदुःखनिवृत्तौ कृतकृत्यता नेतरान्नेतरात् ।

इति सांख्यसूत्रे वैराग्याध्यायस्तृतीयः ।।३।।

अथ चतुर्थोऽध्याय

१. राजपुत्रवत् तत्त्वोपदेशात् ।

२. पिशाचवदन्यार्थोपदेशेऽपि ।

३. आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ।

४. पितापुत्रवदुभयोर्दृष्टत्वात् ।

५. श्येनवत् सुखदुःखी त्यागवियोगाभ्याम् ।

६. अहिनिर्ल्वयनीवत् ।

७. छिन्नहस्तवद्वा ।

८. असाधनानुचिन्तनं बन्धाय भरतवत् ।

९. बहुभिर्योगे विरोधो रागादिभिः कुमारीशङ्खवत् ।

०. द्वाभ्यामपि तथैव ।

११. निराशः सुखी पिंगलावत् ।

१२. अनारम्भेऽपि परगृहे सुखी सर्पवत् ।
१३. बहुशास्त्रगुरूपासनेऽपि सारादानं षट्पदवत् ।
१४. इषुकारवन्नैकचित्तस्य समाधिहानिः ।
१५. कृतनियमलङ्घनादानर्थक्यं लोकवत् ।
१६. तद्विस्मरणेऽपि भेकीवत् ।
१७. नोपदेशश्रवणेऽपि कृतकृत्यता परामर्शादृते विरोचनवत् ।
१८. दृष्टस्तयोरिन्द्रस्य ।
१९. प्रणतिब्रह्मचर्योपसर्पणानि कृत्वा सिद्धिर्बहुकालात् तद्वत् ।
२०. न कालनियमो वामदेववत् ।
२१. अध्यस्तरूपोपासनात् पारम्पर्येण यज्ञोपासकानामिव ।
२२. इतरलाभेऽप्यावृत्तिः पञ्चाग्नियोगतो जन्मश्रुतेः ।
२३. विरक्तस्य हेयहानमुपादेयोपादानं हंसक्षीरवत् ।
२४. लब्धातिशययोगाद्वा तद्वत् ।
२५. न कामचारित्वं रागोपहते शुकवत् ।
२६. गुणयोगाद्बद्धः शुकवत् ।
२७. न भोगाद्रागशान्तिर्मुनिवत् ।
२८. दोषदर्शनादुभयोः ।
२९. न मलिनचेतस्युपदेशबीजप्ररोहोऽजवत् ।
३०. नाभासमात्रमपि मलिनदर्पणवत् ।
३१. न तज्जस्यापि तद्रूपता पङ्कजवत् ।
३२. न भूतियोगेऽपि कृतकृत्यतोपास्यसिद्धिवदुपास्यसिद्धिवत् ।

इति सांख्यसूत्रे आख्यायिकाध्यायश्चतुर्थः ॥४॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

१. मङ्गलाचरणं शिष्टाचारात् फलदर्शनात् श्रुतितश्चेति
२. नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः ।
३. स्वोपकारादधिष्ठानं लोकवत् ।
४. लौकिकेश्वरवदितरथा ।
५. पारिभाषिको वा ।

६. न रागादृते तत्सिद्धिः प्रतिनियतकारणत्वात् ।
७. तद्योगेऽपि नित्यमुक्तः ।
८. प्रधानशक्तियोगात् चेत् सङ्गापत्तिः ।
९. सत्तामात्रात् चेत् सर्वैश्वर्यम् ।
१०. प्रमाणाभावन्न तत्सिद्धिः ।
११. सम्बन्धाभावान्नानुमानम् ।
१२. श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य ।
१३. नाविद्याशक्तियोगो निःसङ्गस्य ।
१४. तद्योगे तत्सिद्धावन्योऽन्याश्रयत्वम् ।
१५. न बीजांकुरवत् सादिसंसारश्रुतेः ।
१६. विद्यातोऽन्यत्वे ब्रह्मबाधप्रसङ्गः ।
१७. अबाधे नैष्फल्यम् ।
१८. विद्याबाध्यत्वे जगतोऽप्येवम्
१९. तद्रूपत्वे सादित्वम् ।
२०. न धर्मापलापः प्रकृतिकार्यवैचित्र्यात् ।
२१. श्रुतिलिङ्गादिभिः तत्सिद्धिः ।
२२. न नियमः प्रमाणान्तरावकाशात् ।
२३. उभयत्राप्येवम् ।
२४. अर्थात् सिद्धिश्चेत् समानमुभयोः ।
२५. अन्तःकरणधर्मत्वं धर्मादीनाम् ।
२६. गुणादीनां च नात्यन्तबाधः ।
२७. पञ्चावयवयोगात् सुखसंवित्तिः ।
२८. न सकृद्ग्रहणात् सम्बन्धसिद्धिः ।
२९. नियतधर्मसाहित्यमुभयोरेकतरस्य वा व्याप्तिः ।
३०. न तत्त्वान्तर वस्तुकल्पनाप्रसक्तेः ।
३१. निजशक्त्युद्भवमित्याचार्याः ।
३२. आधेयशक्तियोग इति पञ्चशिखः ।
३३. न स्वरूपशक्तिर्नियमः पुनर्वादप्रसक्तेः ।
३४. विशेषणानर्थक्यप्रसक्तेः ।

३५. पल्लवादिष्वनुपपत्तेश्च ।

३६. आधेयशक्तिसिद्धौ निजशक्तियोगः समानन्यायात् ।

३७. वाच्यवाचकभावः सम्बन्धः शब्दार्थयोः ।

३८. त्रिभिः सम्बन्धसिद्धिः ।

३९. न कार्ये नियम उभयथा दर्शनात् ।

४०. लोके व्युत्पन्नस्य वेदार्थप्रतीतिः ।

४१. न त्रिभिरपौरुषेयत्वाद्वेदस्य तदर्थस्यातीन्द्रियत्वात् ।

४२. न यज्ञादेः स्वरूपतो धर्मत्वं वैशिष्ट्यात् ।

४३. निजशक्तिर्व्युत्पत्त्या व्यवच्छिद्यते ।

४४. योग्यायोग्येषु प्रतीतिजनकत्वात् तत्सिद्धिः ।

४५. न नित्यत्वं वेदानां कार्यत्वश्रुतेः ।

४६. न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात् ।

४७. मुक्तामुक्तयोरयोग्यत्वात् ।

४८. नापौरुषेयत्वात् नित्यमङ्कुरादिवत् ।

४९. तेषामपि तद्योगे दृष्टबाधादिप्रसक्तिः ।

५०. यस्मिन्नदृष्टेऽपि कृतबुद्धिरुपजायते तत्पौरुषेयम् ।

५१. निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम् ।

५२. नासतः ख्यानं नृशृङ्गवत् ।

५३. न सतो बाधदर्शनात् ।

५४. नानिर्वचनीयस्य तदभावत् ।

५५. नाऽन्यथाख्यातिः स्ववचोव्याघातात् ।

५६. सदसत्ख्यातिर्बाधाबाधात् ।

५७. प्रतीत्यप्रतीतिभ्यां न स्फोटात्मकः शब्दः ।

५८. न शब्दनित्यत्वं कार्यताप्रतीतेः ।

५९. पूर्वसिद्धसत्वस्याभिव्यक्तिर्दीपेनैव घटस्य ।

६०. सत्कार्यसिद्धान्तश्चेत् सिद्धिसाधनम् ।

६१. नाद्वैतमात्मनो लिङ्गात् तद्भेदप्रतीतेः ।

६२. नाऽनात्मनापि प्रत्यक्षबाधात् ।

६३. नोभाभ्यां तेनैव ।

६४. अन्यपरत्वमविवेकानाम् ।
६५. नात्माऽविद्या नोभयं जगदुपादानकारणं निःसङ्गत्वात् ।
६६. नैकस्यानन्दचिद्रूपत्वे द्वयोर्भेदात् ।
६७. दुःखनिवृत्तेर्गौणः ।
६८. विमुक्तिप्रशंसा मन्दानाम् ।
६९. न व्यापकत्वं मनसः करणत्वादिन्द्रियत्वाद्वा ।
७०. सक्रियत्वाद्गतिश्रुतेः ।
७१. न निर्भागत्वं तद्योगात् घटवत् ।
७२. प्रकृतिपुरुषयोरन्यत् सर्वमनित्यम् ।
७३. न भागलाभो भागिनो निर्भागत्वश्रुतेः ।
७४. नानन्दाभिव्यक्तिर्मुक्तिर्निर्धर्मत्वात् ।
७५. न विशेषगुणोच्छित्तिस्तद्वत् ।
७६. न विशेषगतिर्निष्क्रियस्य ।
७७. नाकारोपरागोच्छित्तिरपुरुषार्थत्वादिदोषात् ।
७८. न सर्वोच्छित्तिरपुरुषार्थत्वादिदोषात् ।
७९. एवं शून्यमपि ।
८०. संयगाश्च वियोगान्ता इति न देशादिलाभोऽपि ।
८१. न भागियोगो भागस्य ।
८२. नाऽणिमादियोगोऽप्यवश्यंभावित्वात् तदुच्छित्तेरितरयोगवत् ।
८३. नेन्द्रादिपदयोगोऽपि तद्वत् ।
८४. न भूतप्रकृतित्वमिन्द्रियाणामाहङ्कारिकत्वश्रुतेः ।
८५. न षट्पदार्थनियमस्तद्बोधान्मुक्तिः ।
८६. षोडशादिष्वप्येवम् ।
८७. नाणुनित्यता तत्कार्यत्वश्रुतेः ।
८८. न निर्भागत्वं कार्यत्वात् ।
८९. न रूपनिबन्धनात् प्रत्यक्षनियमः ।
९०. न परिमाणचातुर्विध्यं द्वाभ्यां तद्योगात् ।
९१. अनित्यत्वेऽपि स्थिरतायोगात् प्रत्यभिज्ञानं सामान्यस्य ।
९२. न तदपलापस्तस्मात् ।

९३. नान्यनिवृत्तिरूपत्वं भावप्रतीतेः ।
९४. न तत्त्वान्तरं सादृश्यं प्रत्यक्षोपलब्धेः ।
९५. निजशक्त्यभिव्यक्तिर्वा वैशिष्ट्यात् तदुपलब्धेः ।
९६. न संज्ञासंज्ञिसम्बन्धोऽपि ।
९७. न सम्बन्धनित्यतोभयानित्यत्वात् ।
९८. नाजः सम्बन्धो धर्मिग्राहकमानबाधात् ।
९९. न समावायोऽस्ति प्रमाणाभावात् ।
१००. उभयत्राप्यन्यथासिद्धेर्न प्रत्यक्षमनुमानं वा ।
१०१. नानुमेयत्वमेव क्रियाया नेदिष्ठस्य तत्तद्वतोरेवापरोक्षप्रतीतेः ।
१०२. न पाञ्चभौतिकं शरीरं बहूनामुपादानायोगात् ।
१०३. न स्थूलमिति नियम आतिवाहिकस्यापि विद्यमानत्वात् ।
१०४. नाप्राप्तप्रकाशकत्वमिन्द्रियाणामप्राप्तेः सर्वप्राप्तेर्वा ।
१०५. न तेजोऽपसर्पणात् तैजसं चक्षुर्वृत्तितस्तत्सिद्धेः ।
१०६. प्राप्तार्थप्रकाशलिङ्गात्वृत्तिसिद्धिः ।
१०७. भागगुणाभ्यां तत्त्वान्तर वृत्तिः सम्बन्धार्थं सर्पतीति ।
१०८. न द्रव्यनियमस्तद्योगात् ।
१०९. न देशभेदेऽप्यन्योपादानताऽस्मदादिवन्नियमः ।
११०. निमित्तव्यपदेशात् तद्व्यपदेशः ।
१११. उष्मजाण्डजजरायुजोद्भिज्जसांकल्पिकसांसिद्धिकं चेति न नियमः ।
११२. सर्वेषु पृथिव्युपादानमसधारण्यात् तद्व्यपदेशः पूर्ववत् ।
११३. न देहारम्भकस्य प्राणत्वमिन्द्रियशक्तितस्तत्सिद्धेः ।
११४. भोक्तुरधिष्ठानाद्भोगायतननिर्माणमन्यथापूतिमिवाप्रसङ्गात् ।
११५. भृत्यद्वारा स्वाम्यधिष्ठितिर्नैकान्तात् ।
११६. समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता ।
११७. द्वयोः सबीजमन्यत्र तद्धतिः ।
११८. द्वयोरिव त्रयस्यापि दृष्टत्वान्न तु द्वौ ।
११९. वासनया न स्वार्थ-ख्यापनं दोषयोगेऽपि न निमित्तस्य प्रधानबाधकत्वम् ।
१२०. एकः संस्कारः क्रियानिवर्तको न तु प्रतिक्रिय संस्कारभेदा बहुकल्पना-प्रसक्तेः ।

१२१. न बाह्यबुद्धिनियमः ।

१२२. वृक्षगुल्मलतौषधिवनस्पतितृणवीरुधादीनामपि भोक्तृभोगायतनत्वं पूर्ववत् ।

१२३. स्मृतेश्च ।

१२४. न देहमात्रतः कर्माधिकारित्वं वैशिष्ट्यश्रुतेः ।

१२५. त्रिधा त्रयाणां व्यवस्था कर्मदेहोपभोगदेहोभयदेहाः ।

१२६. न किञ्चिदप्यनुशयिनः ।

१२७. न बुद्ध्यादिनित्यत्वमाश्रयविशेषेऽपि वह्निवत् ।

१२८. आश्रयासिद्धेश्च ।

१२९. योगसिद्धयोऽप्यौषधादिसिद्धिवन्नापलपनीयाः ।

१३०. न भूतचैतन्यं प्रत्येकादृष्टेः सांहत्येऽपि च सांहत्येऽपि च ।

इति सांख्यसूत्रे परपक्षनिर्जयाध्यायः पञ्चमः ।।५।।

अथ षष्ठोऽध्याय

१. अस्त्यात्मा नास्तित्वसाधनाभावात् ।

२. देहादिव्यतिरिक्तोऽसौ वैचित्र्यात् ।

३. षष्ठीव्यपदेशादपि ।

४. न शिलापुत्रवद्धर्मिग्राहकमानबाधात् ।

५. अत्यन्तदुःखनिवृत्त्या कृतकृत्यता ।

६. यथा दुःखात् क्लेशः पुरुषस्य न तथा सुखादभिलाषः ।

७. कुत्रापि कोऽपि सुखीति ।

८. तदपि दुःखशबलमिति दुःखपक्षे निःक्षिपन्ते विवेचकाः ।

९. सुखलाभाभावात् अपुरुषार्थत्वमिति चेन्न द्वैविध्यात् ।

१०. निर्गुणत्वमात्मनोऽसङ्गत्वादिश्रुतेः ।

११. परधर्मत्वेऽपि तत्सिद्धिरविवेकात् ।

१२. अनादिरविवेकोऽन्यथा दोषद्वयप्रसक्तेः ।

१३. न नित्यः स्यादात्मवदन्यथानुच्छित्तिः ।

१४. प्रतिनियतकारणनाश्यत्वमस्य ध्वान्तवत् ।

१५. अत्रापि प्रतिनियमोऽन्वयव्यतिरेकात् ।

१६. प्रकारान्तरासम्भवादविवेक एव बन्धः ।

१७. न मुक्तस्य पुनर्बन्धयोगोऽप्यनावृत्तिश्रुतेश्च ।
१८. अपुरुषार्थत्वमन्यथा ।
१९. अविशेषापत्तिरुभयोः ।
२०. मुक्तिरन्तरायध्वस्तेर्न परः ।
२१. तत्राप्यविरोधः ।
२२. अधिकारित्रैविध्यान्न नियमः ।
२३. दार्ढ्यार्थमुत्तरेषाम् ।
२४. स्थिरसुखमासनमिति न नियमः ।
२५. ध्यानं निर्विषयं मनः ।
२६. उभयथाप्यविशेषश्चेन्नैवमुपरागनिरोधाद्विशेषः ।
२७. निःसङ्गेऽप्युपरागोऽविवेकात् ।
२८. जपास्फटिकयोरिव नोपरागः किन्त्वभिमानः ।
२९. ध्यानधारणाभ्यासवैराग्यादिभिस्तन्निरोधः ।
३०. लयविक्षेपयोर्व्यावृत्त्येत्याचार्याः ।
३१. न स्थाननियमश्चित्तप्रसादात् ।
३२. प्रकृतेराद्योपादानताऽन्येषां कार्यत्वश्रुतेः ।
३३. नित्यत्वेऽपि नात्मनोयोग्यत्वाभावात् ।
३४. श्रुतिविरोधान्न कुतर्कापसदस्यात्मलाभः ।
३५. पारम्पर्येऽपि प्रधानानुवृत्तिरणुवत् ।
३६. सर्वत्र कार्यदर्शनाद्विभुत्वम् ।
३७. गतियोगेऽप्याद्यकारणताहानिरणुवत् ।
३८. प्रसिद्धाधिक्यं प्रधानस्य न नियमः ।
३९. सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात् ।
४०. अनुपभोगेऽपि पुमर्थं सृष्टिः प्रधानस्योष्ट्रकुङ्कुमवहनवत् ।
४१. कर्मवैचित्र्यात् ।
४२. साम्यवैषम्याभ्यां कार्यद्वयम् ।
४३. विमुक्तबोधान्न सृष्टिः प्रधानस्य लोकवत् ।
४४. नान्योपसर्पणेऽपि मुक्तोपभोगो निमित्ताभावात् ।
४५. पुरुषबहुत्वं व्यवस्थातः ।

४६. उपाधिश्चेत् तत्सिद्धौ पुनर्द्वैतम् ।
४७. द्वाभ्यामपि प्रमाणविरोधः ।
४८. द्वाभ्यामप्यविरोधान्न पूर्वमुत्तरं च साधकाभावात् ।
४९. प्रकाशतस्तत्सिद्धौ कर्मकर्तृविरोधः ।
५०. जडव्यावृत्तो जडं प्रकाशयति चिद्रूपः ।
५१. न श्रुतिविरोधो रागिणां वैराग्याय तत्सिद्धेः ।
५२. जगत्सत्यत्वमदुष्टकारणजन्यत्वाद्बाधकाभावात् ।
५३. प्रकारान्तरासम्भवात् सदुत्पत्तिः ।
५४. अहंकारः कर्ता न पुरुषः ।
५५. चिदवसाना भुक्तिस्तत्कर्मार्जितत्वात् ।
५६. चन्द्रादिलोकेऽप्यवृत्तिर्निमित्तसद्भावात् ।
५७. लोकस्य नोपदेशात् सिद्धिः पूर्ववत् ।
५८, पारम्पर्येण तत्सिद्धौ विमुक्तिश्रुतिः ।
५९. गतिश्रुतेश्च व्यापकत्वेऽप्युपाधियोगाद्भोगदेशकाललाभो व्योमवत् ।
६०. अनधिष्ठितस्य पूतिभावप्रसङ्गात् न तत्सिद्धि. ।
६१. अदृष्टद्वारा चेदसम्बन्धस्य तदसम्भावज्जलादिवदंकुरे ।
६२. निर्गुणत्वात् तदसम्भवादहंकारधर्मा ह्येते ।
६३. विशिष्टस्य जीवत्वमन्वयति कात् ।
६४. अहंकारकर्त्रधीना कार्यसिद्धिर्नेश्वराधीना प्रमाणाभावात ।
६५. अदृष्टोद्भूतिवत् समानत्वम् ।
६६. महतोऽन्यत् ।
६७. कर्मनिमित्तः प्रकृतेः स्वस्वामिभावोऽप्यनादिर्बीजाङ्कुरवत् ।
६८. अविवेकनिमित्तो वा पञ्चशिखः ।
६९. लिङ्ग शरीरनिमित्तक इति सनन्दनाचार्यः ।
७०. यद्वा तद्वा तदुच्छित्तिः पुरुषार्थस्तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः ।

इति सांख्यसूत्रे तन्त्राध्यायः षष्ठः ॥६॥

समाप्तानि सांख्यसूत्राणि